मैं सुभाष बोल रहा हूँ



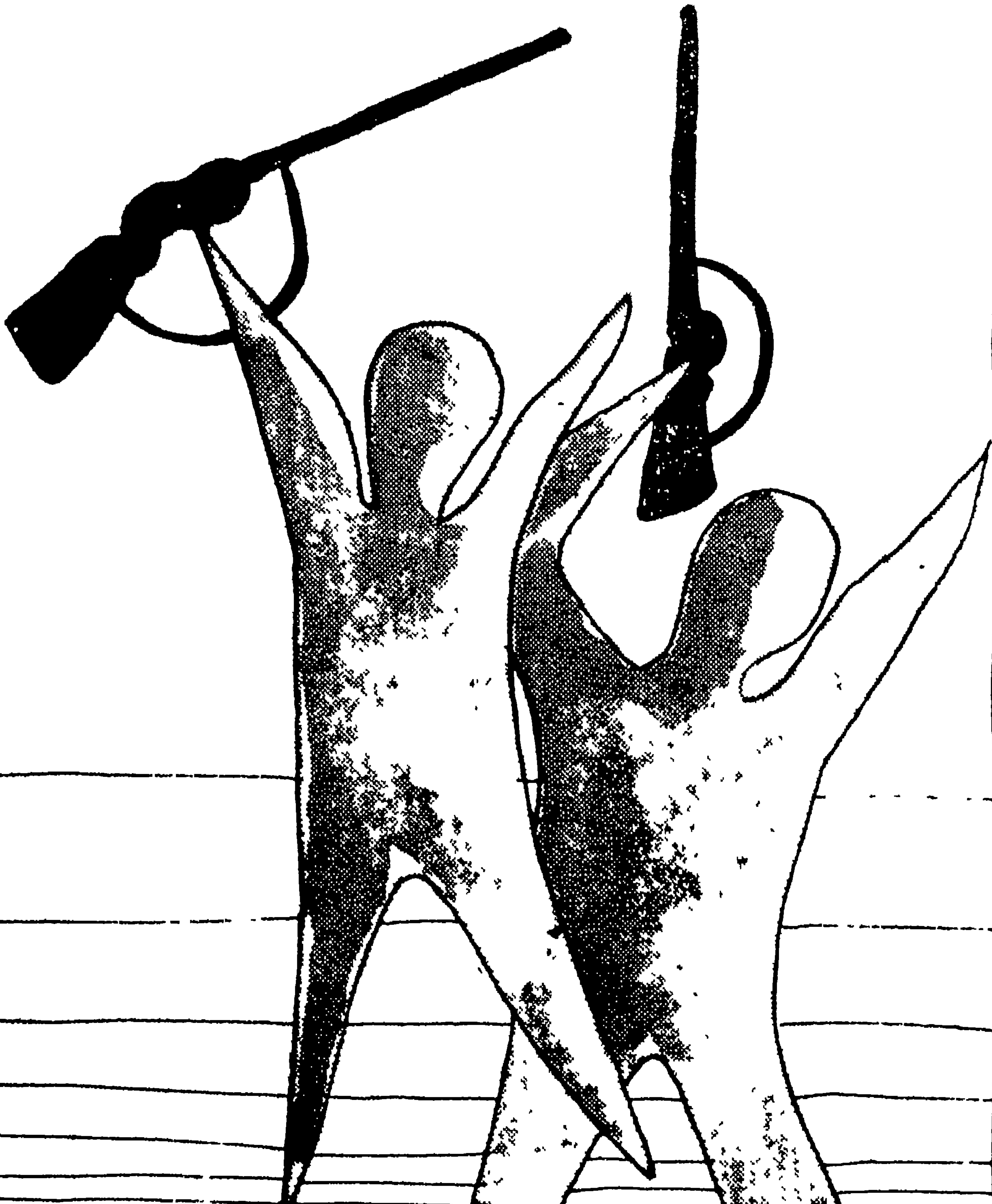
शैलेश डे

अनुवाद

ममता खरे

मैं सुभाष बोल रहा हूँ

[खण्ड दो]

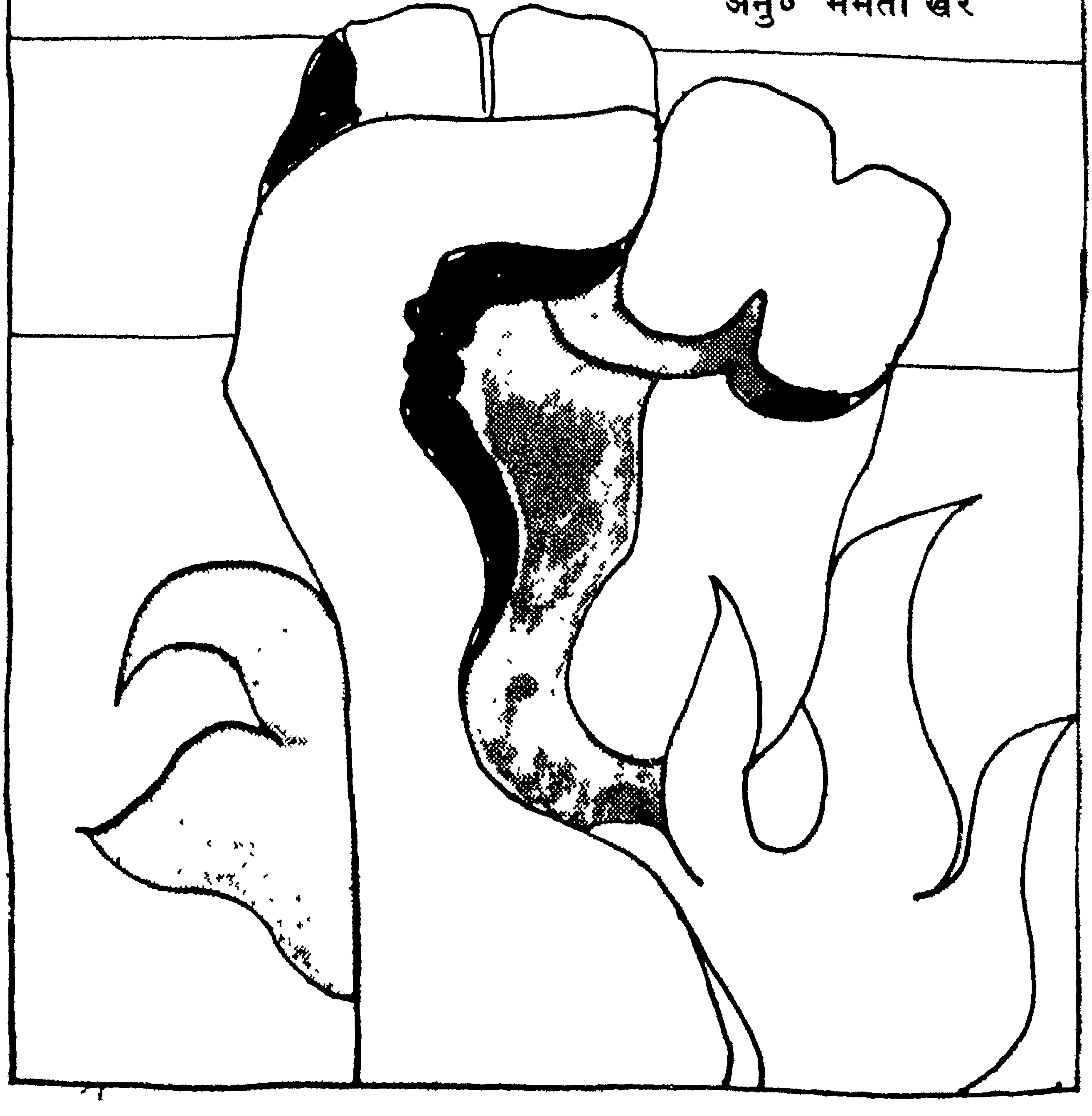




मैं सुभाष बोल रहा हूँ

शैलेश डे

अनु० ममता खरे



MAIN SUBHASH BOL RAHA HUN VOL-II

(Biographical History)

By

SHAILESH DEY

Translation Mamta Khare

लेखक : शैलेश डे

अनुवाद : ममता खरे

प्रकाशक : रवीन्द्र प्रकाशन
३/१ बी० के० बनर्जी मार्ग,
नया कटरा, इलाहाबाद-२११००२

आवरण व सज्जा : इम्पैक्ट, इलाहाबाद
अंशुमान खरे

द्वितीय संस्करण : १९९२

मुद्रक : एशिया आफसेट, यूनिवर्सिटी रोड,
इलाहाबाद।
जनता प्रेस, मुट्ठीगंज, इलाहाबाद।

मूल्य : अजिल्द साठ रुपया
सजिल्द एक सौ पचास रुपया

मैं सुभाष बोल रहा हूँ

इस अमर कृति का दूसरा खण्ड आपके हाथ में है। इसमें आप नेताजी सुभाषचन्द्र बोस के विप्लवी जीवन और उनके भारत से जर्मनी जा कर भारतवर्ष की स्वतंत्रता के लिए आजाद हिन्द फौज के निर्माण की संघर्ष कथा और द्वितीय विश्वयुद्ध तथा उसी समय भारत में हो रहे अगस्त क्रान्ति की संघर्ष-गाथा के साथ-साथ नेताजी सुभाष बोस का जर्मनी से सबमेरिन द्वारा जापान पहुँचने तक का हाल पढ़ेंगे।

भारत के स्वतंत्रता संग्राम में सुभाष बाबू की कृति, उनकी प्रेरणा, उनकी चट्टानी देशभक्ति और अन्ततः उनका बलिदान भारतवर्ष की आने वाली पीढ़ियों के लिए एक प्रेरक, आदर्श गाथा के रूप में सदा अजर-अमर रहेगी।

इसके बाद, तीसरे खण्ड में समाप्त होने वाली यह अमर गाथा पाठकों को आश्चर्यचकित कर देगी।

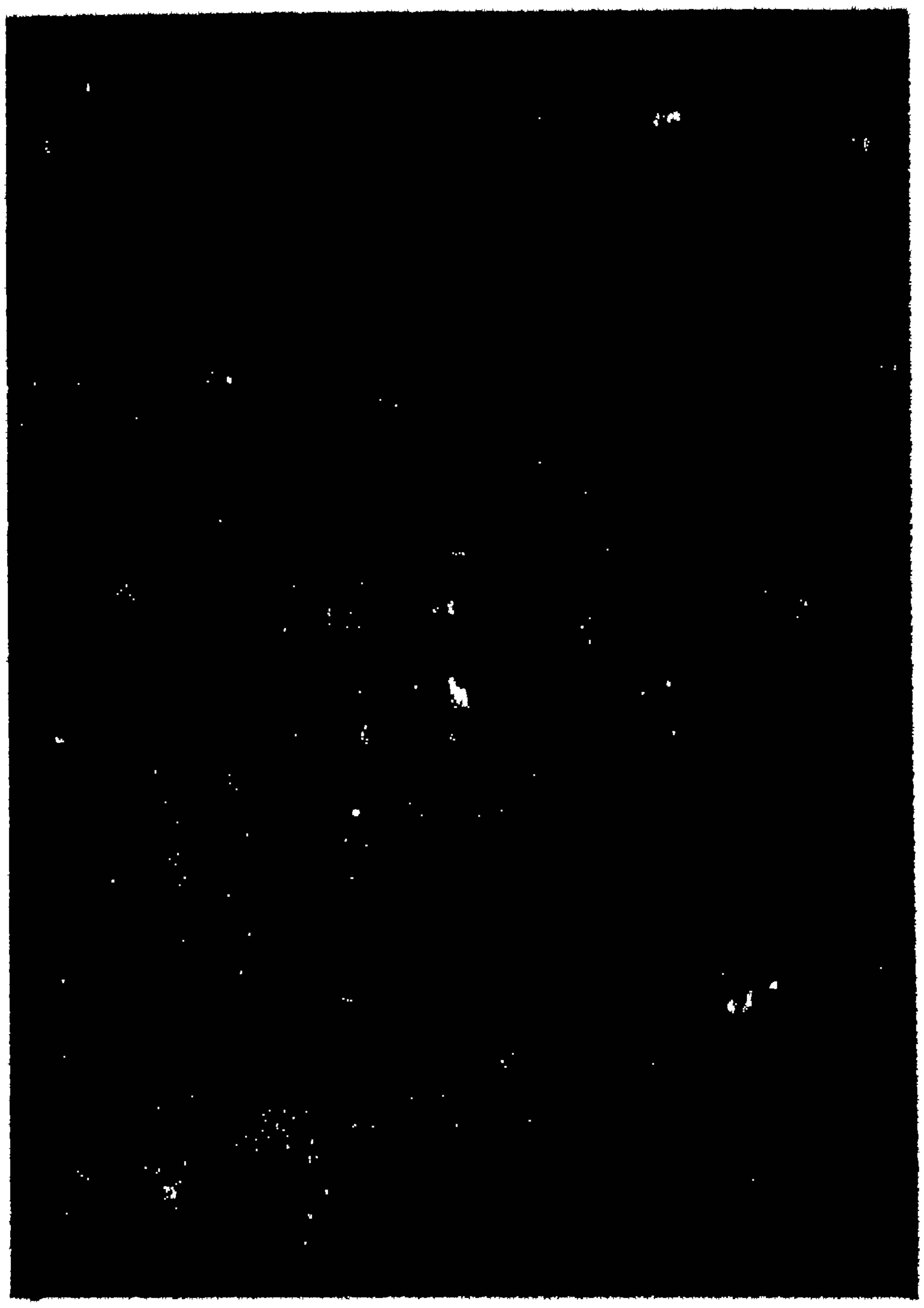
मैं सुभाष बोल रहा हूँ



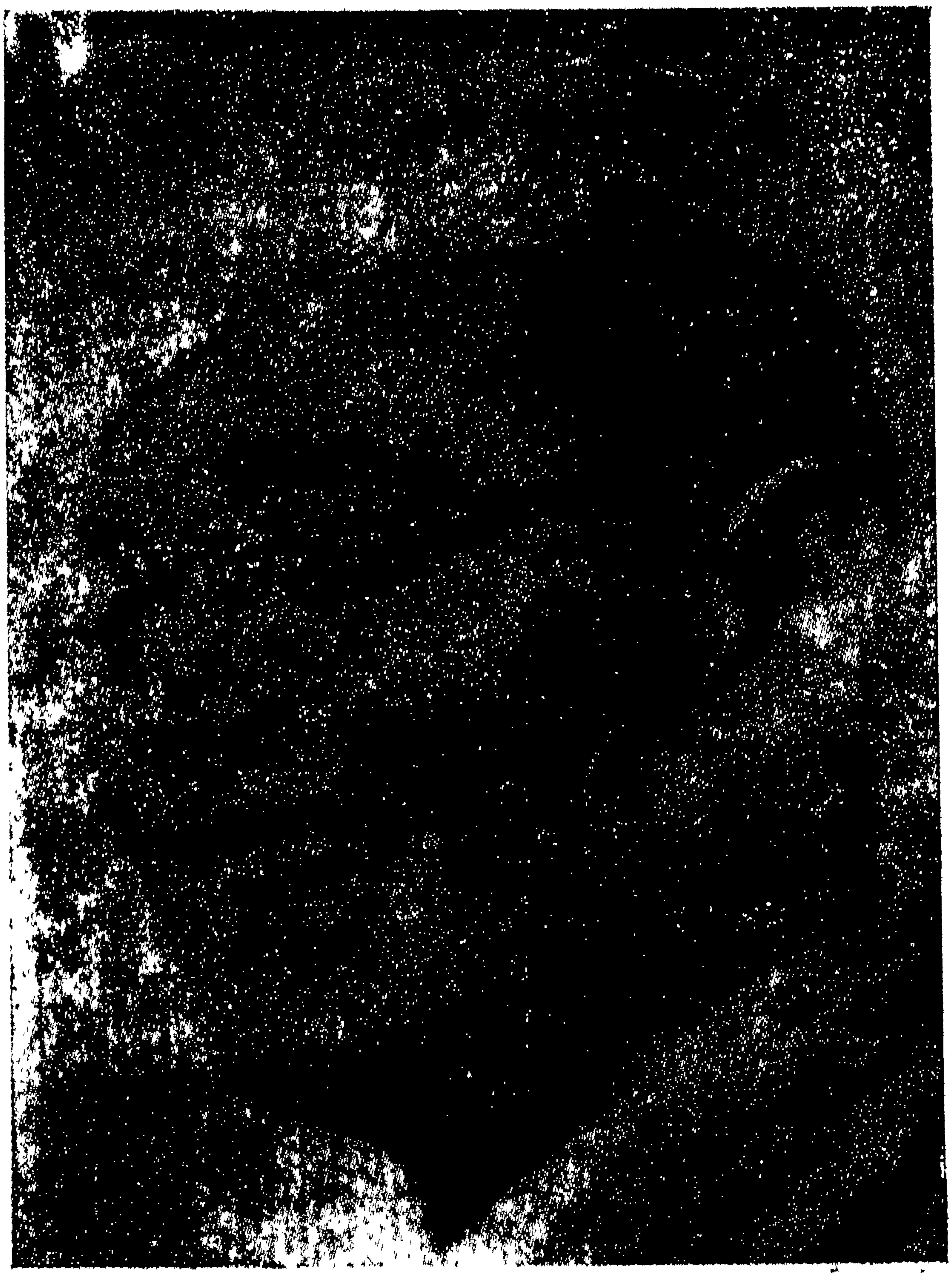
वियना से बर्लिन के रास्ते बीमार कमला नेहरू के
साथ सुभाषचन्द्र बोस (बीच में)



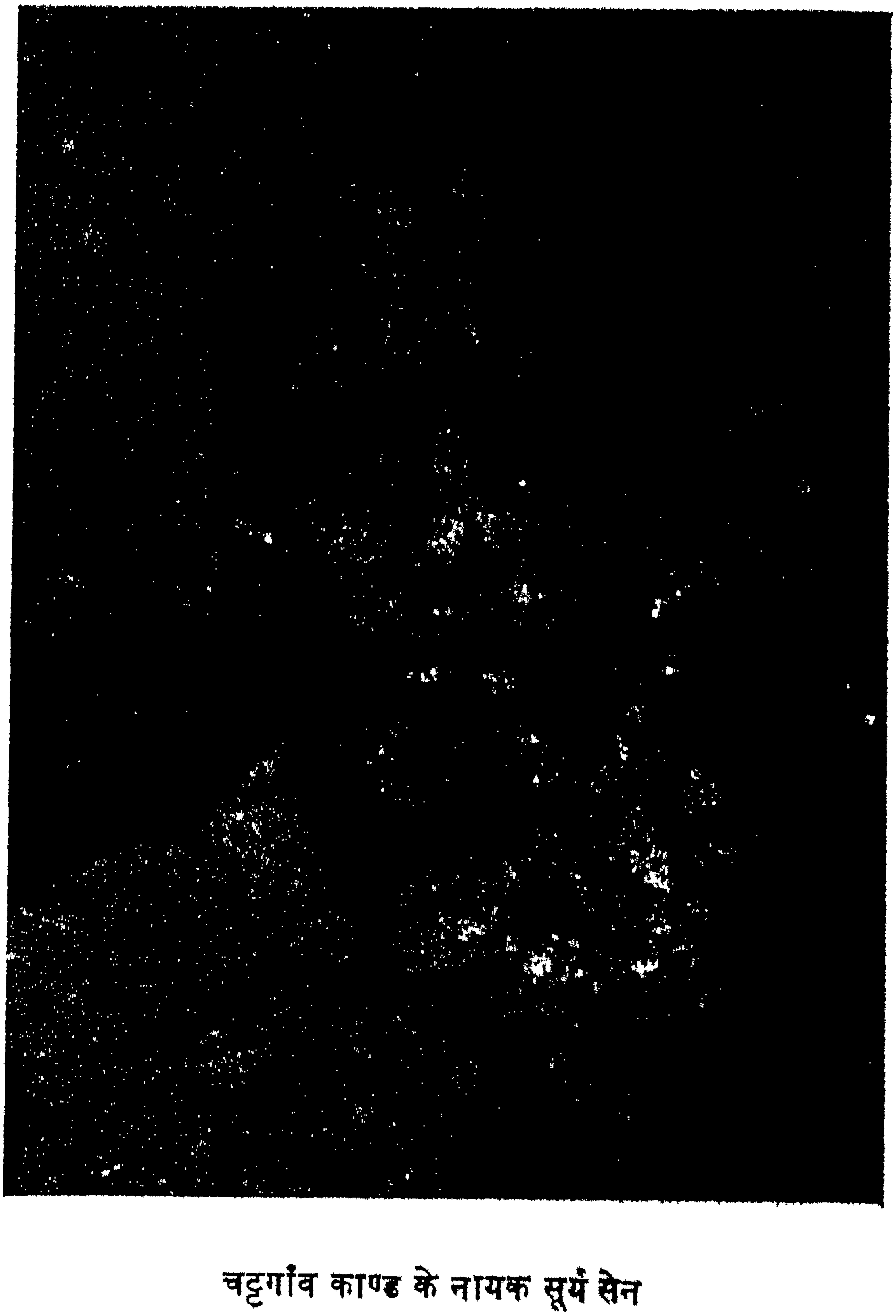
सुभाषचन्द्र बोस के साथ पं० जवाहरलाल नेहरू
और इन्दिरा गांधी



वह मोटर जिस पर सुभाष बाबू
कलकत्ता से गायब हुए थे।



१९३९ में सुभाष बाबू



चट्टगांव काण्ड के नायक सूर्य सेन



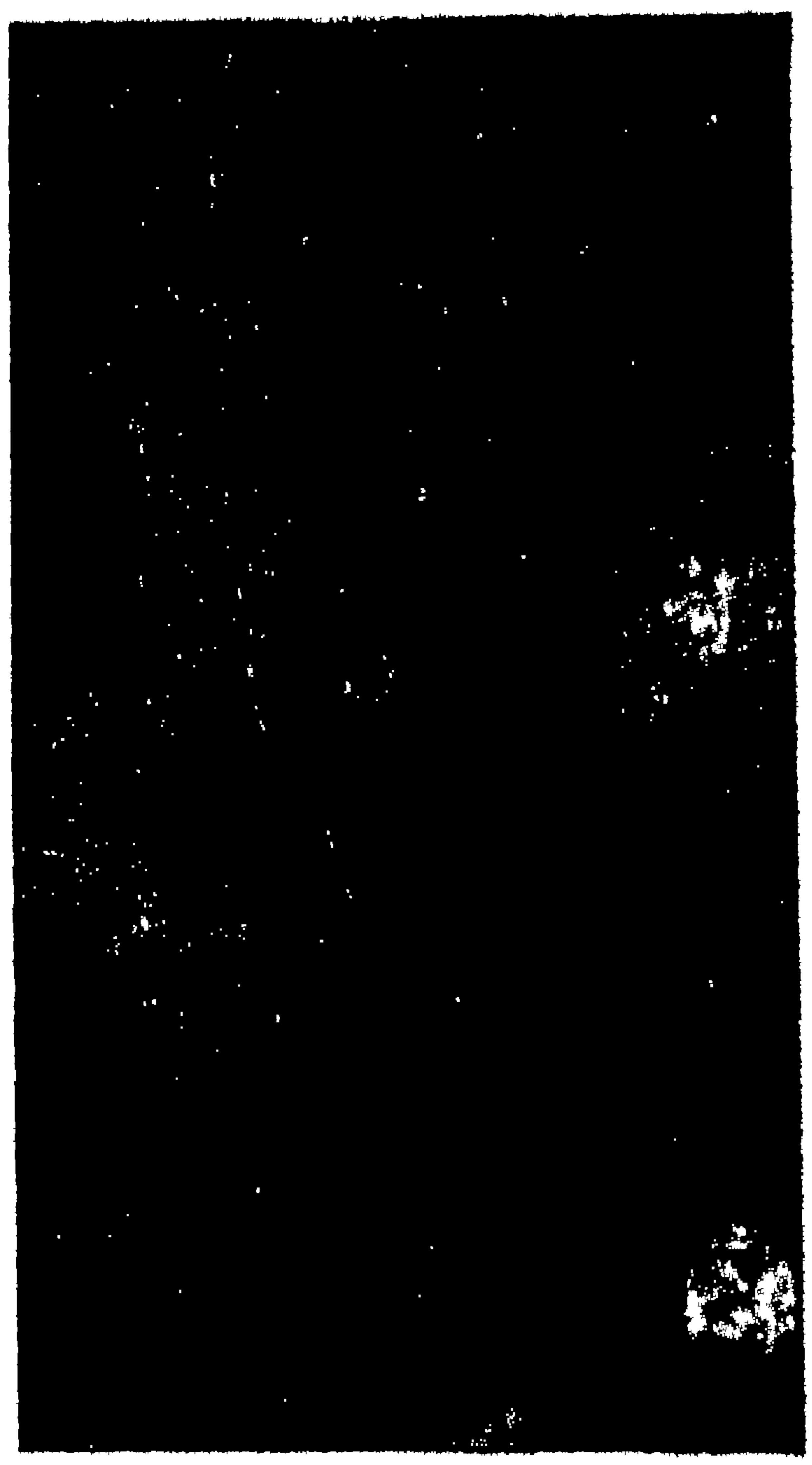
सिनोर आरलैंडो मैजिट्टो के रूप में
सुभाषचन्द्र बोस



आजाद हिन्द फौज, जर्मनी के अफसरों के साथ (१६४२)



आजाद हिन्द फौज के सेनानायक
सुभाषचन्द्र बोस



मैं सुभाष बोल रहा हूँ……

'Let us create history, let somebody
else write it.'

—Netaji

सुभाषचन्द्र,

....तुम्हारी राष्ट्रीय साधना आरम्भ होने के क्षणों में तुम्हें दूर से देखा है ।.... आज तुम जिस रोशनी से प्रकाशित हो, उसमें संशय की कोई गुन्जाइश नहीं, तुम्हारा परिचय बिल्कुल स्पष्ट है ।

इस शक्ति की कठिन परीक्षा हुई है जेल में, निर्वासन में, असाध्य रोग के आक्रमण द्वारा । कुछ भी तुम्हें अभिभूत न कर सका; बल्कि तुम्हारे हृदय को बड़ा किया है, तुम्हारी दृष्टि को सीमा पार ले गई है...इतिहास के दूर विस्तृत क्षेत्रों में ।

दुःख को तुमने अवसर का रूप दिया, विघ्न को सीढ़ी बनाई । ऐसा सम्भव हो सका है क्योंकि किसी भी पराजय को तुमने सत्य मान कर स्वीकार नहीं किया । तुम्हारे इस चारित्रिक बल को ही, बंगाल के मन में संचारित करने का प्रयोजन ही सबसे अधिक महत्वपूर्ण है ।....

— रवीन्द्रनाथ

घड़ी का कांटा लगातार टिक्-टिक् करता बढ़ रहा था।

रात को चार बज कर पन्द्रह मिनट हुये थे। और आधा घन्टा बाकी था। उसके बाद ही शुरू होगी ऐतिहासिक यात्रा, जिसका सांकेतिक नाम है—'ऑपरेशन केस ह्वाइट।'

हज़ार-हज़ार फाइटर और बमबारी करने वाले हवाई जहाज तैयार थे। प्रस्तुत थे शक्तिशाली टैंक। तैयार थी लड़ाका पैनत्सार वाहिनी। तैयार थे फील्ड मार्शल भनक्लूगे, बनकोव, राइख्नेय, रूनस्टैन्ड जैसे युद्धस्थल के कुशल सेनापतिगण। सिर्फ प्रतीक्षा थी आदेश पाने की।

चार बज कर चालीस मिनट। और पाँच मिनट बाकी थे।

चार बज कर चवालीस मिनट। चरम क्षण आगे आ गया था....बस, कुछ सेकेन्ड बाक़ी थे। बीस....पन्द्रह....दस....पाँच....ज़ीरो आॅवर। गो-आॅन! चार्ज!

पलक झपकते नात्सी सेना भयकर वेग से पोलैण्ड पर कूद पड़ी। उनके मुँह से एक ही बात निकल रही थी—'डयेच लेण्ड यूवार ऑलिस। जर्मनी की जय हो। जर्मनी दीर्घायु हो।'

शुरू हुआ दूसरा महायुद्ध। शुरू हुआ उत्थान-पतन, तोड़ने-बनाने का इतिहास।

यह युद्ध क्यों?

इसका कारण क्या है?

इसका जिम्मेदार कौन है?

जिम्मेदार क्या केवल हिटलर ही है?

बिल्कुल नहीं। हिटलर तो एक बहाना था, वरना उस दिन होता या दो दिन बाद, युद्ध होना तो अनिवार्य था।

इसकी जड़ में है वारसाई सन्धि, जिसे कभी जबरदस्ती जर्मनी पर लाद दिया गया था। उसी का परिणाम था यह द्वितीय महायुद्ध।

चलो, हम लोग कुछ समय के लिए पिछली बातों के बारे में चर्चा कर लें, मल्लिका।

१९१८ साल। ११ नवम्बर।

पहला महायुद्ध समाप्त। अब पराजित जर्मनी का फ़ैसला होगा। इसके लिए जीते हुये देश इकट्ठा हुये, फ्रांस के ऐतिहासिक वारसाई नगर में।

लेकिन यह क्या? शर्तें सुनकर आश्चर्य से दंग रह गये जर्मनी के प्रतिनिधि

काउन्ट वान ब्रुकडफ रानात्साओ ! इस शर्त को मानने के मतलब हुये, जर्मनी की अकाल मृत्यु । असम्भव ! यह शर्त किसी हालत में मानी नहीं जा सकती ।

काउन्ट रानात्साओ सन्धि-पत्र पर हस्ताक्षर किये बगैर वापस चले गये । 'नहीं, यह मुझसे नहीं होगा । अपने हाथों से मैं जर्मनी को मृत्युदण्ड नहीं दे सकूँगा ।'

लेकिन यह हस्ताक्षर तो करना ही है । किये बगैर छुटकारा कहाँ ? याद रखो, केवल सात दिन का समय है । इस बीच करते हो तो अच्छा है, वरना इसके भयंकर परिणाम की इन्तजारी करना ।

दो दिन बीतते न बीतते, इस बार आ पहुँचे हेर हरमैन मूलर । उस समय अर्द्धमृत जर्मनी कराह रहा था पड़े पड़े । इसलिये विजयी पक्ष की सभी शर्तें मान लेने के अलावा कोई चारा नहीं था ।

सन्धि-पत्र पर हस्ताक्षर हुये कैम्पेन वन में, एक रेल के डिब्बे में बैठ कर । तारीख थी १९१९ साल की २८ जून ।

उसके बाद विजय की यादगार में उसी कैम्पेन वन में पत्थर के फलक पर लिखा गया—

'यहाँ एक स्वाधीन जाति के हाथों जर्मनी का गर्व चूर-चूर हुआ है । तारीख ११ नवम्बर, १९१८ साल ।'

शर्त के अनुसार सबसे पहले उन्हें दक्षिण समुद्र और अफ्रिका के उपनिवेशों से हाथ धोना पड़ा । उसके बाद जर्मनी को अपना अंग-भंग करना पड़ा और पश्चिम-अल्सास और लोरेन देना पड़ा फ्रांस को ।

डानजिग एक स्वाधीन राष्ट्र बना । जर्मनी को सार का हिस्सा भी खोना पड़ा । उसका शासन भार संभाला अन्तर्राष्ट्रीय कमिटी के सदस्यों ने ।

और क्षतिपूर्ति ? हाँ, किस्तों में ६६० करोड़ पाउन्ड देना पड़ा विजयी दलों को । मियाद थी १९८८ । ७० साल तक देना था, तब कहीं जाकर ऋण मुक्त होते ।

लेकिन तुम्हारी जमानत कहाँ ? इसका क्या भरोसा है कि तुम क्षतिपूर्ति का रुपया समय पर देते रहोगे ?

इसलिए जमानत के तौर पर राइन नदी के तटवर्ती इलाकों को १५ वर्ष के लिये हमारे सैनिकों के हवाले कर देना होगा । उनका सारा खर्च तुम्हें ही उठाना पड़ेगा ।

और एक शर्त । कुल मिला कर तुम एक लाख सैनिक देश भर में रख सकते हो । वह भी पुलिस के तौर पर ।

सब्मेरीन नहीं तैयार कर सकोगे । एक-आध जहाज बनाना चाहो, बना सकते हो, लेकिन दस हजार से ज्यादा वजन नहीं होना चाहिये ।

और राइन नदी के पश्चिमी किनारे पर हेलीगोलैण्ड में क़िला तैयार करना या सैनिक रखना—दोनों ही वर्जित है ।

मल्लिका, युद्ध में सब कुछ खो कर जर्मनी उतना नहीं टूटा था जितना वारसाई

सन्धि से टूटा। क्योंकि यह बात तो दिन की रोशनी की तरह स्पष्ट थी कि वारसाई सन्धि का असली उद्देश्य शान्ति स्थापित करना नहीं, बल्कि प्रतिहिंसा को बढ़ावा देना था। एक जर्मन इतिहासकार के शब्दों में—

The peace treaty of Versaille's of June 28, 1919, was a heavy blow not only for the German people as a whole but particularly for all who were concerned about a lasting peace without hatred and a feeling of revenge.

[Germany since 1848 : Wolfgang Treue : P.—71]

फिर भी मानना ही पड़ा। इसके अलावा चारा भी नहीं था। पृथ्वी में पराजित पक्ष की हार-जीत की परवाह कितने लोग करते हैं ?

इसके अलावा यही तो नियम है। यही नियम जमाने से चलता चला आ रहा है। युद्ध की जो भी जिम्मेदारी है, सारा कसूर—सभी तो हारने वाले के सिर जाता है।

और विजयी पक्ष ? नहीं, वह तो निष्पाप, निष्कलंक, साधु लोग हैं। वे भी हर बात के विचारक हैं, इसलिए उनका कोई कसूर भी नहीं।

सन्धि-पत्र पर हस्ताक्षर हुये २८ जून १६१६ को। लेकिन रुपये ! क्षतिपूर्ति के लिए इतनी बड़ी धनराशि जर्मनी को कहाँ से मिले ? जमाखाता तो शून्य था।

लाचार होकर जर्मनी ने कागज के नोट चलाये, बड़ी मात्रा में। पहले जान तो बचे, फिर देखा जायेगा, क्या होता है।

नतीजा वही हुआ जो होना था। देखते ही देखते बाजार में धीरे-धीरे मार्क के दाम घट गये। १६२२ में घोर दुर्दिन ने घेर लिया। जर्मनी के पास उस समय क्षतिपूर्ति के लिये कुछ भी नहीं था।

लेनदार गरज उठे—'रुपया दो वरना....'

तुरन्त विपक्षियों ने शिल्पकला के केन्द्र रूर इलाका को दखल में ले लिया—'रुपया जब नहीं दे सकते तब इसे हमारे कब्जे में रहने दो।'

१६३२ में तो हालत बहुत ही बिगड़ गई। खुले बाजार में मार्क को कोई पूछता तक नहीं था। फलस्वरूप भयंकर आर्थिक संकट का सामना करना पड़ा देश को। ट्रेजरी खाली। बैंक खाली।

उसी शून्यता को और चरम बिन्दु पर पहुँचा दिया यहूदी व्यापारियों ने। उन दिनों जर्मनी में रोजमर्रा की चीजों की भी भयंकर कमी थी। यही तो मौका है। इसी मौके में जितना हो सके निचोड़ लो।

जर्मनी आखिरी साँसें गिनने लगा। उसकी आँखों के आगे अंधेरा छा रहा था। पाँवों के नीचे से मिट्टी खिसकती जा रही थी। चारो तरफ पानी ही पानी....कहीं किनारा

नहीं। मृत्यु निश्चित।—'नहीं, जर्मनी नहीं मरेगा।'

ठीक उसी समय लैण्डस्वर्ग क़िले के कारावास से एक असाधारण आदमी बाहर आया। उसकी आवाज़ में नये भविष्य के वायदे थे।

'जर्मनी नहीं मरेगा। हम फिर जी उठेंगे। अपनी ताक़त से सब प्राप्त करेंगे। सीधे, बिना किसी सहारे के खड़े होंगे। बोलो—ड्येच लैण्ड ब्यूबार आलेस।'

आश्चर्य से सारी जर्मनी देखती रह गई। कौन? कौन? मृतप्राय जर्मनी के सीने पर यह कौन खड़ा है जो जीने का आश्वासन दे रहा है?

हिटलर! हिटलर! हिटलर! अडल्फ हिटलर!

हिटलर! मन ही मन हँसे प्रेसीडेन्ट हिंडेनवर्ग। यह तो वही बोहेमियन कार्पोरल का असफल हीरो है। जेल से निकलते ही इस आदमी ने फिर नाटक शुरू कर दिया?

पर हाँ, इसमें क्षमता है। गरमागरम भाषण देकर किस तरह से जनता को प्रभावित किया जा सकता है, यह आदमी भली प्रकार जानता है। वैसे ही साथी भी मिले हैं—स्ट्रेसार, रोयेह्म, गोयेबल्स, गोएरिंग, फ्रिक, हिमलर, हेस्, बोरमैन, स्पीयर, रिवेनट्राप....मानों सभी एक-एक चीज़ हों। लगता है इस बार नाटक जमेगा।

१९३२ के चुनाव में हिटलर की विजय हुई। विपक्षी नात्सीदल को केवल २३० वोट ही मिले थे। फलस्वरूप १९३३ में वे बने जर्मनी के चांसलर।

साल भर बाद प्रेसीडेन्ट हिंडेनवर्ग की मृत्यु हो गई। इससे हिटलर सर्वेसर्वा बन गये। चन्द शब्दों में कहना चाहिये—जर्मनी के भाग्य-विधाता।

शुरू हुआ निर्माण कार्य। 'नाइट-क्लब' जैसे आमोद-प्रमोद के गन्दे अड्डे फौरन नष्ट कर दिये जाएँ। महिलायें 'go back to kitchen', यह आमोद-प्रमोद का वक्त नहीं है। पहले जर्मनी को बचाना है। अपने पैरों पर खड़ा होना है। और उसके लिये अभी काम शुरू करना है।

लड़कों, तुरन्त काम में लग जाओ। कोई बेकार बैठा नहीं रहेगा। सब की जरूरत है इस समय। रास्ते बनाओ। कारखानों में काम करो। जर्मनी तो तुम्हारा अपना देश है। इसे खड़ा करने की जिम्मेदारी भी तुम्हारी है। उठ कर खड़े हो जाओ। गेट-अप्।

वारसाई सन्धि? वह सब मैं नहीं मानता हूँ। जर्मनी का बहुत शोषण हो चुका है। अब बस करो।

और सुनो यहूदी बनियों! तुमने इस भयंकर दुर्दिन में जिस तरह से जर्मनी को चूसा-निचोड़ा है, उसके बाद तुम्हारा एक पल के लिए भी यहाँ रहना ठीक नहीं। तुरन्त यहाँ से भाग जाओ।

राष्ट्रसंघ? यह क्या है? नहीं, उससे मेरा कोई सम्बन्ध नहीं। वह जो चाहे करे, मेरा उससे कुछ नहीं बनता-बिगड़ता है।

मेरी तो साफ बात है—हमारी हालत का फायदा उठा कर जिन-जिन इलाक़ों

पर कब्जा किया है, उन्हें लौटाना पड़ेगा।

सिर्फ एक लाख सैनिक ? कौन कहता है ऐसी सड़ी-गली बातें ? आज से सैनिक शिक्षा हर एक के लिये अनिवार्य होगी। सब को भर्ती होना है। कोई नहीं बच सकता है।

देखते-देखते जर्मनी का चेहरा ही बदल गया। देख कर कौन कह सकता है कि युद्ध-ध्वस्त जर्मनी यही है। आमूल परिवर्तन हो चुका था। इस नये देश, नई जर्मनी में आत्मविश्वास की लहर दौड़ रही थी।

हर नर-नारी की जुबान पर एक ही नाम था। हिटलर ! हिटलर ! हिटलर ! फ्यूरर हिटलर ! उन्होंने हमें जीने का रास्ता दिखाया है। दिया है नये दिन का नया पता। उनकी जय हो ! जर्मनी की जय हो। डयेच लैण्ड व्यूवार अलेस ! हेइल हिटलर !

यूरोप के अन्य राष्ट्र चंचल हो उठे।

न ! आदमी सीधा नहीं है ! स्पष्ट है, वारसाई सन्धि इसकी नज़र में कोई महत्व नहीं रखती। वह तो हर कदम पर, हर काम द्वारा अपनी ज़िद् का नमूना पेश कर रहा है।

ऐसी परिस्थिति में क्या करना चाहिये ? इस बीच इस आदमी ने तो अच्छी खासी ताक़त बढ़ा ली है। इस हालत में उसे छूना खतरे से खाली नहीं होगा।

१६३५ साल की ११ जनवरी को सारे जर्मनी में वोट हुआ।

१६३६ की ७ मार्च को राइनलैण्ड मिला। १६३८ साल की ११ मार्च को पूरा आस्ट्रिया।

इसमें सन्देह नहीं कि बहुत बड़ा खतरा मोल लिया गया था। इसके कारण भयंकर संकट भी पैदा हो सकता था, लेकिन कुछ हुआ नहीं। क्योंकि सोवियत संघ का डर। कम्युनिस्टों का कोई भरोसा नहीं। क्या ब्रिटिश, क्या फ्रान्स, प्रत्येक धनतान्त्रिक राष्ट्रों के लिये वे खतरनाक हैं। इसलिये उनसे जान बचाने के लिये हिटलर को हाथ में रखना ज़रूरी है।

दो दिन बीते नहीं कि नया दावा। चेकोस्लोवाकिया का सुदेतेन इलाका चाहिये। वहाँ जर्मनों की संख्या अधिक है।

सुनते ही, छाता बगल में दबाये भागे-भागे आये ब्रिटिश प्रधान मंत्री नेविल चेम्बरलेन। बहुत ही शान्तिप्रिय आदमी। इससे पहले कभी हवाई यात्रा तक नहीं की थी। कारण—डर, भयंकर डर। हवाई जहाज पर चढ़ने से शान्ति भंग होने का डर।

इस दफा उन्हें अपना नियम भंग करना पड़ा। भयंकर रूप से शान्ति भंग होने की आशंका होने से हवाई जहाज़ से ही आ पहुँचे। बगल में चौबीसों घंटे का साथी छाता दबाये। शान्ति स्थापित करने आये।

फ्रांस के प्रधान मंत्री मोशिये दालादिएर को भी इसी वजह से आना पड़ा। इस जिद्दी आदमी ने तो अच्छा परेशान कर रखा है....किसी बात की जिद् कर बैठता है तो कुछ सुनना ही नहीं चाहता। देखा जाये कोशिश करके, सुनता है या नहीं!

२६ सितम्बर को म्यूनिक में कांफ्रेंस शुरू हुई। एक तरफ चेम्बरलेन और दालादियेर, दूसरी तरफ हिटलर और उनके मित्र मुसोलिनी।

'अब तुम्हें क्या चाहिये ? क्या पाकर तुम खुश होगे ?'

'मुझे चाहिये चेकोस्लोवाकिया का सुदेतेन इलाका।'

'ठीक है, दे देंगे। हीला-हवाला करेंगे तो डाँट कर उन्हें राजी करेंगे। लेकिन भइया, अब झमेला मत बढ़ाओ। हम शान्तिप्रिय आदमी हैं।'

जर्मन इतिहासकार के शब्दों में—'At the Munich conference (september 29th – 30th) Hitler, Mussolini, Chemberlain, and Daladier agreed that Germany should take over the Sudeten German areas by stages during the first days of October, Czechoslovakia was to be given a guarantee for her new frontiers,' (German history, 1933-45 : H. Maul H. Krausnick : p.—90)

शान्ति व्यवस्था कर दोनों परम निश्चिन्त होकर अपने-अपने देश लौट गये। चलो, अब बराबर के लिए झंझट खत्म हुआ।

झंझट खत्म हुआ ? कहाँ ?

दो दिन बीतते न बीतते फिर अशांति शुरू हो गई। उस बार तुम लोगों ने हमसे मेमेल क्यों लिया था ? हमें मेमेल चाहिये। और हाँ, चेकोस्लोवाकिया का बाकी हिस्सा भी हमें चाहिये।

ठीक है, यह भी मान लेते हैं। ले लो दोनों चीजें। तुमसे कौन लड़े!

सारा यूरोप तटस्थ। अब किस की बारी आती है ? या और कुछ चाहिये ?

नहीं नहीं, चाहिये कुछ नहीं। लेकिन यह दानजिग....तुम ही बताओ, दानजिग हमारा था या नहीं ? आज भी वहाँ सत्तानबे प्रतिशत जर्मन निवास करते हैं। और, तुम लोग जो सोचते हो वह बात नहीं है। बहस करना नहीं चाहते हैं। हम तो सिर्फ दानजिग से सम्बन्ध बनाये रखने के लिए, मोटर आने-जाने के लिए सुपर हाइवे और एक रेलमार्ग बनाना चाहते हैं। यह जगह पोलैण्ड की जमीन पर होगी, क्योंकि वहाँ पहुँचने का हमारे पास तो कोई जरिया नहीं है। बस, यह जगह मिल जाये तो हम चुप हो जाएँगे—यही हमारी लास्ट रिक्वेस्ट है।

मल्लिका, मैं इस बारे में कुछ न कहूँगा, बल्कि उस समय की परिस्थिति जिससे स्पष्ट हो जाये, एक विदेशी इतिहासकार ने क्या लिखा था, वही उतार देता हूँ—

'Neither were the German claims to the free state of Danzig unfounded, a city of 4,50,000 souls which had been separated from Germany without a plebiscite, 97 percent of the population were German, two percent Polish, one percent of other nationalities. [A basic History of Germany : Hubertus Prince zu Lowenstein : P.—161]

उधर हिटलर के अंतरंग सहचर, प्रचार सचिव डा० गोयबल्स ने इतना प्रचार किया कि देश में आग भड़क उठी। इस कार्य में वह दक्ष थे। दुनिया को इसका सुबूत मिल चुका था।

इस बार भी रेडियो तथा अन्य प्रचार माध्यमों के जरिये वे आवाज उठाने लगे —दानजिग ! दानजिग हमारा है। दानजिग हमें चाहिये।

लेकिन पोलेण्ड इसके लिए तैयार नहीं हुआ। यह सम्भव नहीं—हम दानजिग की सूई के नोक बराबर जमीन तक नहीं छोड़ सकते।

फ्रांस और इंगलेण्ड के साथ पोलेण्ड ने मैत्रीपूर्ण संधि कर रखी थी। उसे किस बात का खतरा था ? संधि के मुताबिक वे उसकी मदद करेंगे।

'अच्छा ? यह बात है ? देख लूंगा।' हिटलर ने आँखें तरेरीं।

परिस्थिति देख कर यूरोप के विभिन्न राष्ट्र सन्धि करने लग गये। डर कैसा ? तुम्हारी मुसीबत में हम साथ हैं, लेकिन देखना मेरे वक्त मुंह मत फेर लेना।

क्या इंगलेण्ड, क्या फ्रांस—सभी का रूस लक्ष्य था। नीति सम्बन्धी अनबन भले ही रहे, यह था तो शक्तिशाली ही।

इस समय सवाल है आत्मरक्षा का। नीतिकथा छोड़ कर जान बचाने के लिए रूस के साथ सन्धि करना जरूरी था।

शुरू हुई आलोचना। महीनों बीत गये। खाना-पीना भी कम नहीं हुआ, लेकिन कुछ तय न हो सका। सन्धि भी न हो सकी।

पग-पग पर शंका....अविश्वास। कुछ भी हो, वे ठहरे कम्यूनिस्ट।

इसके अलावा ऐसी भी क्या जल्दी है। और कुछ दिन देख लिया जाये। उसके बाद सोच-समझ कर कुछ किया जायेगा।

मल्लिका, कुछ सोचने-समझने की नौबत ही नहीं आई। उससे पहले ही सारा संसार चौंक पड़ा।

हिटलर ने रूस के साथ भीतर ही भीतर सन्धि कर ली है। न तो महीनों लगा, न कोई खाना-पीना हुआ। बस, एक ही दिन में सब काम निपट गया।

—'On August 23rd. Ribbentrop flew to Moscow and the same night signed a German-Soviet non-aggression pact with Molotov. When the news of the German-Soviet pact broke on Angust 23rd. it was a shock to the whole world. [German History : 1933-45, P—99-101]

सचमुच, यह चोट भयंकर थी, मल्लिका। खास तौर से धनतांत्रिक देशों के लिए। बिल्कुल दस साल के लिए आक्रमण रहित सन्धि। कैसे विश्वास करे कोई ? अब तो किसी पर विश्वास ही नहीं करना चाहिए--न हिटलर पर, न स्टालिन पर।

सारा यूरोप दम साधे बैठा था। हिटलर के लिए रूस की तरफ से ही डर था, वह भी खत्म हो गया। अब क्या वह आसानी से पोलैण्ड को छोड़ देगा ?

१६३६ की १ ली सितम्बर की प्रातःकाल इस प्रश्न का उत्तर मिल गया। अचानक प्रशिक्षित नात्सी सेना, लाखों की संख्या में पोलैण्ड पर कूद पड़ी। देखते ही देखते बमबारू विमान और टैंक-सेना की मदद से नात्सी सैनिक भारी संख्या में पोलैण्ड के बहुत अन्दर तक चले आये। ये सैनिक दल प्रोशिया के साइलेसिया और स्लोवाकिया की तरफ से घुसे।

फ्रांस और इंगलैंड ने आपत्ति की। युद्ध रोको। पोलैंड के साथ हमारे मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध हैं, यह तो तुम जानते ही हो। इस हालत में हम चुप कैसे बैठ सकते हैं ? कृपया, कल ११ बजे तक अपनी बात बता दो तो अच्छा हो।

लेकिन उत्तर कहाँ ? कौन अपनी बात बताता ? तीनों तरफ से संड़सी की तरह घिर जाने के कारण पोलैंड के सैनिक हर जगह से पीछे हटने लगे थे।

अन्त में ३ तारीख को इंगलैंड और फ्रांस को युद्ध में भाग लेना पड़ा।

और हिटलर ?

तीव्र स्वरों में उन्होंने अपने विचार व्यक्त किये। 'आज से मैं ही जर्मन सेना का प्रथम सैनिक हूँ। युद्ध में जीते बगैर मैं यह पवित्र सैनिक की पोशाक किसी दिन नहीं उतारूँगा।'

'I am from now on just the first soldier of the German Reich. I have once more put on that coat that was most sacred and dear to me. I will not take it off again, until victory is secured or I will not servive the outcome.'

ऐतिहासिक द्वितीय महायुद्ध की यही है भूमिका।

१७ सितम्बर को विश्व एक नई खबर सुन कर दंग रह गया।

न सिर्फ नात्सी सेना, रूसी सीमा पार कर लाल फौज भी पोलैंड में बहुत आगे तक घुस आई है। उनका कहना था कि पोलैंड में रहनेवाले रूसी नागरिकों के जान-माल की सुरक्षा के लिये यह क़दम उठाना जरूरी था।

सभी चकित। हिटलर भी उस दिन कम आश्चर्यचकित नहीं हुआ था।---'यह भी खूब रहा ! ऐसी तो कोई बात थी नहीं। ठीक है, बाद में तय किया जायेगा।'

राजधानी वॉरसा का २७ सितम्बर को पतन हुआ। अब हिस्सा।

सभी शिल्पसंस्थाएँ और कोयले की खानें मिलीं जर्मनी को। और पोलिश यूक्रेन के गेहूँ के खेत और तेल की खानें रूस के कब्जे में गईं।

उस समय तक हर पोल नर-नारी आँखें उठाये आकाश देख रहे थे। आते ही होंगे अभी झुण्ड के झुण्ड ब्रिटिश और फ्रेंच हवाई जहाज। हो सकता है पश्चिम की ओर उन्होंने हमला शुरू कर दिया है। सन्धि के मुताबिक सहायता करने को वे बाध्य हैं।

लेकिन कहाँ मदद, कैसी मदद ? दोनों देशों ने कोशिश तक नहीं की। जबकि सोलहों आने मौका था। केवल तेईस डिविजन जर्मन सेना उस समय पश्चिमी सीमा पर थी। उन्हें हटा कर जर्मन भूमि में घुसना फ्रांस के लिए बिल्कुल मुश्किल नहीं था। लेकिन फ्रांस की सेना ने कोशिश ही नहीं की।

क्यों ? डर ? नहीं....मैं क्यों पहल करूँ मार खाने की ? पहले ब्रिटिश सेना आये फिर हम दिखा देंगे लड़ाई किसे कहते हैं।

पोलैंड का पतन हुआ। लेकिन उसके बाद ? अब किसका नंबर है ? इसका जवाब मिला १९४० में ९ अप्रैल के दिन।

बिना किसी तरह की तैयारी का मौका दिये भयंकर नात्सी सेना कूद पड़ी डेनमार्क और नॉरवे पर। ब्रिटिश और फ्रांस की सेनाएँ तक नॉरवे के बन्दरगाहों पर घेरा डाले इंतजारी कर रही थीं जर्मनों का।

डेनमार्क ने आत्मसमर्पण कर दिया।

बचा नॉरवे ? लेकिन जर्मन सेना का सामना कर सके वह शक्ति उसमें कहाँ ? सिर्फ मुंह बजा रहे थे इंगलैंड और फ्रांस। इन्होंने पोलैंड की मदद ही कहाँ की थी ?

पर इंगलैंड का अब चुपचाप बैठे रहना ठीक नहीं। नॉरवे से इंगलैंड की दूरी है ही कितनी ? इस हालत में नॉरवे अगर हाथ से निकल गया तो सचमुच ही डरने की बात हो जायेगी।

सामना करने के लिए दूसरे ही दिन (१० अप्रैल को) विशाल युद्ध-पोतों के साथ इंगलैंड आगे बढ़ आया।

हिटलर को रोकना है। समझा देना है कि नौ-सेना इंगलैंड की हमेशा ही अपराजित रही है।

पर हाय ! यह क्या हुआ ? हिटलर को ठीक करने चले तो 'हन्टर' और 'हार्डी' नामक दो युद्ध-पोत इस तरह हाथ से निकल जाएँगे, इंगलैंड ने सोचा ही कब था ? दो-दो युद्ध-पोत खोकर ब्रिटिश सेना वापस चली गई। १५ अप्रैल को ब्रिटिश सेना नॉरवे आ पहुँची। अब स्थल-युद्ध में देखना है क्या होता है।

कुछ ही दिनों में पता चल गया कि यहाँ भी वही हाल है। बेतहाशा मार खा कर इंगलैंड वापस।

हालत चिन्ताजनक देख राजा हॉकन सपरिवार इंगलैंड की शरण में पहुँचे। युद्ध भी समाप्त हुआ।

राजा हॉकन, उनका मंत्रिमण्डल भाग गया। शासन व्यवस्था नामक कोई चीज नहीं रही। फलस्वरूप सारे देश में अराजकता फैल गई।

इस बार शासन भार सम्भाला नात्सी समर्थक मेजर कुइस्लिंग ने। नॉरवे के विडकून कुइस्लिंग।

ब्रिटिश सरकार उसे कहती—विश्वासघातक कुइस्लिंग। आगे चल कर उन्होंने बहुतों को ऐसा कहा। खास तौर से उन्हें जिन्होंने उस दिन अंग्रेजों का साथ नहीं दिया था।

कुइस्लिंग विश्वासघातक है, यह विजयी-पक्ष का भी कहना था।

पर युद्ध खत्म होने पर कोर्ट में खड़े होकर इस व्यक्ति ने अद्भुत बात कही। अपने मृत्युदण्ड का आदेश सुन कर तेजस्वी स्वरों में जूरियों से कहा था—'मैंने अगर विश्वासघातकता की हो तो मेरी जन्मभूमि नॉरवे के घर-घर में, युग-युग तक ऐसे ही विश्वासघातक जन्म लें।'

पहले पोलैंड। उसके बाद डेनमार्क और नॉरवे। अब किसका नंबर है?

फ्रांस! उनके इंगलिश चैनेल से संलग्न कैले, बूलोन, शेरबुर्ग जैसे बन्दरगाह विशेष रूप से खतरनाक थे। खास इंगलैंड से इनकी बड़ी मामूली-सी दूरी थी। उधर से मुसीबत नहीं आयेगी, कौन कह सकता है?

नहीं, इंगलैंड को मौका देना ठीक न होगा। आक्रमण ही आत्मरक्षा का एकमात्र रास्ता है। इसलिए पहले से हमला करके वह रास्ता बन्द करना होगा।

लेकिन मैजिनो लाइन? जर्मनी और बेलजियम की सीमा को घेरते हुए फ्रांस ने जो शक्तिशाली दुर्गों की मैजिनो लाइन बना कर खड़ी कर दी है उसे कैसे पार किया जाए? वह तो अभेद्य है।

हिटलर चिन्ता में पड़ गए। फ्रांस तो चाहिए ही चाहिए। पर मैजिनो लाइन का क्या हो? उस जगह दूर तक गोले बरसाने वाले तोप, भारी टैंक, गोएरिंग के हवाई जहाज—सभी नाकाम हो जायेंगे। इस हालत में क्या किया जाए?

'उपाय है।' हिम्मत करके कहा एक कम परिचित सेनापति वॉन मैनस्टाइन ने—'फ्रांस को जीतना ऐसा कुछ कठिन काम नहीं है।'

'अच्छा?' यह बात हिटलर ने सुनी एक दिन—'बुलाना तो जरा छोकरे को। देखूँ, क्या कहता है।'

यही बात हिटलर से भी कही मैनस्टाइन ने।

'यह तो बड़ा आसान काम है फ्यूरेर।'

'आसान काम?' चिल्ला उठे हिटलर—'मैजिनो लाइन पार करना तुम्हारे लिए आसान काम है?'

'हम मैजिनो लाइन पार करेंगे ही क्यों? हम फ्रांस पर हमला कर ही कहाँ

रहे हैं ? हम तो बेल्जियम पर हमला करेंगे। वहाँ से आर्देनश पहाड़ी पार कर के सीधे फ्रांस। हालांकि वहाँ भी मैजिनो लाइन है, लेकिन पहाड़ सँकरा होने के कारण लाइन इस जगह पर बहुत कमजोर है।'

'बोगस', हिटलर बोले—'इस ऊँचे संकरे पहाड़ पर टैंक, पैनत्सार सेना....सब कुछ बेकार है।'

'फ्यूरेर, बिल्कुल नहीं। आप एक बार फील्ड-मार्शल गुडेरियान को बुला कर प्लॉन समझा कर बताइए। उसके बाद देखिए, वह क्या कहते हैं।'

बुलावा पहुँचा। भागे-भागे आए पैनत्सार सेना के आविष्कारक, 'टैंक-विशारद' वॉन गुडेरियान—'आदेश दीजिए फ्यूरेर! मैं सब कुछ करने को तैयार हूँ।'

सेना के हाई कमान्ड तैयार नहीं थे। बिल्कुल बेसिर-पैर का प्लॉन था। 'कोई मतलब ही नहीं होते हैं। हमारी धारणा है कि इस रास्ते से हमला किया गया तो फ्रांस जीतते-जीतते एक साल लग जायेंगे।'

'मैं कर सकूंगा। एक साल नहीं, सिर्फ दो महीने लगेंगे।'

'दो महीने। ठीक है, यही होगा। गो ऑन—मार्च।'

१९४० साल। १० मई।

जर्मनी का नया अभियान आरम्भ हुआ। वही रात का अन्तिम प्रहर। वही लक्ष्य—बेल्जियम, हॉलैण्ड और लेक्जुमबर्ग।

हालांकि असली लड़ाई फ्रांस और इंगलैंड के विरुद्ध थी, फिर भी जब तक लड़ाई खत्म न हो, इन्हें हाथ में रखना जरूरी है। विपक्षी दल इन जगहों से धावा बोल सकता है।

सबसे पहले आत्म-समर्पण किया लेक्जुमबर्ग ने। उसके बाद हॉलैंड।

परन्तु बेल्जियम ने आत्म-समर्पण नहीं किया। उनका कहना था कि हमारा फोर्ट एबेन-एमाल भी मैजिनो लाइन से कम मजबूत नहीं है। जर्मनी हमला करे तो सही।

परन्तु पहले ही दिन के हमले से एबेन-एमाल के किले से हाथ धोना पड़ा। कौन जानता था कि हजारों की तादाद में पैराशूटधारी सैनिक आकाश मार्ग से आ पहुँचेंगे।

इंगलैंड और फ्रांस की सेना आई, लेकिन सब बेकार था। उस भयंकर तूफान का सामना करे किसमें इतना साहस था ? मजबूर होकर फ्रांस के समुद्र तट पर स्थित डेनकार्क बन्दरगाह तक पीछे हटना पड़ा।

उस समय तक फ्रांस बेफिक्र था। हमारी मैजिनो लाइन के होते जर्मन क्या बिगाड़ लेंगे ? अट्ठाइस करोड़ रुपया खर्च करके बनी यह लाइन सचमुच अभेद्य थी। इसकी सीमा भी दूर तक विस्तृत थी।

फ्रांस के सीमान्त पर स्थित स्विट्जरलैंड प्रान्त से शुरू होकर म्यूज नदी के पूरब मॅन्टीवेडी तक विस्तृत इस दुर्गश्रेणी में अगर वर्षों बन्द रहना पड़ जाए तो कोई दिक्कत नहीं। क्योंकि इसकी ज़मीन के नीचे वाले कमरों में बहुत मात्रा में खाना और अस्त्र इकट्ठा हैं। इस हालत में किसी की हिम्मत नहीं है कि मैजिनो लाइन तोड़ सके।

लेकिन....यह क्या ? यह क्या देख रहे हैं फ्रांस के सेनानायकगण ?

एक जर्मन सेना बेल्जियम के भीतर से म्यूज नदी पार कर सबसे कमज़ोर जगह सेडान की तरफ तीर की तरह भागती चली आ रही है।

तो...तो क्या फ्रांस की राजधानी पेरिस पर इनकी नज़र है ?

मामला जितना तो अप्रत्याशित था, उतना ही आकस्मिक।

इतना आकस्मिक कि नदी के ऊपर के पुल तक तोड़ डालने का समय नहीं मिला फ्रांस के प्रधान सेनापति जनरल गैमेलाँ को।

एकाएक बेल्जियम के राजा लियोपोल्ड तृतीय ने जर्मन सेना के आगे आत्म-समर्पण कर दिया।

इसका परिणाम वड़ा घातक सिद्ध हुआ। बूलान और कैले बन्दरगाह पहले ही हाथों से निकल चुके थे। बचा था केवल डॉनकार्क। नात्सी सेना द्वारा खदेड़े जाने पर ब्रिटिश जनरल लार्ड गर्ट इस डॉनकार्क की तरफ पिछड़ते चले गए।

भगवान् का शुक्र है कि अभी तक डॉनकार्क बन्दरगाह सुरक्षित है। वहाँ पहुँच कर किसी तरह से चैनेल पार कर सके तो बस....फिर कोई डर नहीं, वरना अपने एक भी सैनिक नात्सी सेना के हाथ से नहीं बच सकेंगे।

लेकिन सैनिकों को बचाया कैसे जाए ? तीन लाख अड़तीस हज़ार सैनिक पार किए जा सकें, इतने जहाज कहाँ हैं ?

मान लो जहाज हैं, लेकिन कहाँ बचा है कोई किनारा ? जहाज़ को किनारे पर लगाया कैसे जाएगा, जब सारे बन्दरगाह बमबारी से ध्वंस हो चुके हैं ? कोई आशा नहीं है। चारों तरफ आग ही आग— इसी आग में झुलस कर सबको मरना होगा।

देखते ही देखते रात हो गई। सारा डॉनकार्क धधक रहा था। काले धुँए से चारों तरफ़ गहरा अँधेरा छा गया था।

एक ज़रिया बचा था। टेलीफोन द्वारा किसी तरह सेनापति लार्ड गर्ट ने इंगलैंड की मंत्री सभा को अपनी विपम परिस्थिति की सूचना दी। जर्मन सैनिकों ने तीन दिन से घेर रखा है। सामने समुद्र है। बस, भगवान् का ही भरोसा है।

तुरन्त इंगलैंड से कैप्टन टेनेन्ट को डॉनकार्क के लिए भेजा गया। छोटे-बड़े मिला कर '.३० जहाज़ उनके साथ थे। जिस तरह भी हो सकेगा सैनिकों को सुरक्षित निकाल ले जाना होगा। ऐसी मुसीबत में ब्रिटिश सेना कभी फँसी न थी।

सिर के ऊपर मार्शल गोयरिंग के लुफ्तवैफे और स्टूका हवाई जहाज लगातार बम वर्षा रहे थे। नीचे तीनों तरफ से गुडेरियॉन, रोमेल और रूनस्टेन्ड की पैनत्सार सेना दैत्य की तरह चढ़ती चली आ रही थी। क्रमशः घेरा छोटा होता आ रहा था। बचना मुश्किल है। मृत्यु सुनिश्चित।

आशंका निर्मूल न थी, मल्लिका। जर्मन सेना विजयोल्लास से उन्मत्त हो रही थी। कहाँ जाएगा यह ब्रिटिश सिंह? डॉनकार्क से किसी को जीते जी जाने नहीं दिया जाएगा। इंगलिश चैनेल का पानी अंग्रेजों के खून से लाल कर दिया जाएगा।

'हॉल्ट! हॉल्ट!'

ठिठक कर खड़ी हो गई जर्मन सेना। यह कौन कह रहा है रुकने के लिए?

आदेश दे रहे थे स्वयं हिटलर। जर्मनी के भाग्य विधाता हिटलर।

लेकिन क्यों? ऐसे मौके क्या बार-बार मिलते हैं? पर अब उपाय ही क्या है? जब स्वयं फ्यूरर का आदेश है तब रुकना ही होगा। क्या पता इसके पीछे भी कोई चाल हो?

ब्रिटिश सेनावाहिनी भी कम चकित नहीं हुई? यह क्या बात है? जर्मन टैंक इतने करीब आकर ठहर क्यों गए? स्टूका हवाई जहाजों ने हमला करना बन्द क्यों कर दिया?

उधर कैप्टन टेनैन्ट इंगलैंड से लाए जहाजों में से एक जहाज को घंटों परिश्रम करने के बाद किसी तरह से किनारे लगा सकने में सफल हो गए।

टेलीफोन द्वारा इंगलैंड खबर पहुँच गई। जहाज और भेजे जायें लेकिन छोटे-छोटे। इन्हें किनारे लगाना आसान है। एक-आध नहीं, हजारों जहाज चाहिए। लांच, स्टीमर, ट्रलर, मछली पकड़ने वाले जहाज जो कुछ भी हों— भेज दिए जायें।

देखते ही देखते डोवर से सैकड़ों की तादाद में जहाज आगे बढ़े। साधारण नागरिकों ने भी इस समय मदद की। वे भी अपने व्यक्तिगत लांच, बोट, वगैरह ले आए। सभी का एक नारा था—'हम अपने लड़कों को बेमौत नहीं मरने देंगे। उन्हें बचाना ही होगा।'

चैनेल के इस पार डॉनकार्क, उस पार डोवर। बीच में सैकड़ों जहाज....आते ही चले जा रहे थे। आते फिर लौट जाते....आने-जाने का तांता लगा था।

सभी के प्रयासों के फलस्वरूप एक एक सैनिक लौट जाने में सफल हुआ। अन्त में कैप्टन टेनैन्ट—'विदा डॉनकार्क, विदा। आज का यह दिन मुझे आजीवन याद रहेगा। अभिशप्त २४ मई को मैं कभी न भूल सकूँगा।'

हालांकि युद्ध के सारे साजो-सामान से हाथ धोना पड़ा। कोई चीज़ लाना संभव नहीं था। यहाँ तक कि बहुतों के शरीर पर यूनिफार्म तक नहीं थी। क्योंकि ज्यादातर सैनिकों को तैर कर जहाज़ पर चढ़ना पड़ा था। विदेशी ऐतिहासिक तथ्य के अनुसार—

'Hitler halted the middle Army Group before calais for two days. Thanks to this, the British gained time to secure a bridgehead at

Dankirk, which did not fall into German hands until June 24th.

By then the greater part of the British Expeditionary Force and parts of the French Army, more than three hundred and fifty thousand men in all, had managed to escape to England, albeit by abandoning all their heavy equipment.' [German History 1933-45; Hermaun Mau & Helmut Krausnick : P-110.]

नि:सन्देह अंग्रेजों ने कमाल कर दिखाया था। दो दिन के इतने समय में फँसे हुए इतने सैनिकों को बचा कर निकाल ले जाना केवल अंग्रेजों के लिए ही संभव था। जहाँ जितने जहाज थे, उन्हें इकट्ठा करके सैनिकों को लेने जाना, युद्ध के इतिहास के लिए अनोखी मिसाल थी। चारों तरफ से ब्रिटिश सेनापति लार्ड गर्ट के लिए लोग जय-जयकार करने लगे। इस हालत में लाखों सैनिकों का स्वदेश लौट जाना कोई मामूली बात नहीं थी। सचमुच उनका प्रयास सराहनीय था। उन्हें नई पदवी और मर्यादा प्रदान कर सम्मानीय किया गया। ब्रिटिश सरकार इसे कहती है glorious retreat, सारा संसार हँस रहा था। हिटलर की दया से जान बचा कर भाग लेना 'गौरवपूर्ण पीछे हटना' हुआ ?

२४ मई को डॉनकार्क का पतन हुआ—केवल १४ दिन में।

हिटलर भी यह देख कर चकित हुआ। सचमुच असाध्य परिश्रम किया है पैनत्सार सैनिकों ने।

और पेरिस ? चार हजार टैंक और अनगिनत सांजोया गाड़ियों के साथ बीस लाख सैनिकों की एक विशाल सेना इस बीच पेरिस पहुँच गई थी। स्पष्ट था पेरिस का पतन होने ही वाला था।

परिस्थिति और भी गम्भीर बना दी इटली ने। हिटलर और मुसोलिनी—दो दोस्त। एक प्राण, दो शरीर। एक जर्मन के तो दूसरे इटली के भाग्य-विधाता। एक जमाने से सन्धिबद्ध थे।

मुसोलिनी जानबूझ कर इतने दिनों तक खामोश बैठे थे। अब १० जून को चेते।

इधर पेरिस की हालत बिगड़ चुकी थी, उधर तभी किया इटली ने हमला। फ्रांस इन दो शक्तियों को झेल सके वह क्षमता कहाँ ?

पेरिस के सौन्दर्य को दया करके नष्ट मत करो। शताब्दियों के परिश्रम का फल है यह। लेना है ऐसे ही ले जाओ। बम फेंक कर नष्ट मत करो। हम आत्म-समर्पण कर रहे हैं। युद्ध नहीं सन्धि चाहते हैं।

प्रस्ताव लेकर आगे आये विजयी वीर नब्बे वर्ष के वृद्ध, मार्शल पेंता। यह वही पेंता हैं जिन्होंने प्रथम महायुद्ध में जर्मनी को बुरी तरह से हराया था। आज वही वर्दून

का विजयी अनुनय-विनय कर रहा था—सन्धि चाहिए।

सन्धि ? ठीक है सन्धि की शर्तें सुन लो। तुम्हारे पास जितने टैंक, तोपें, साँजोया गाड़ियाँ और अस्त्र-शस्त्र हैं, अविलम्ब जमा करो। युद्ध-पोतों को अभी हमारे सैनिक बन्दरगाह में भेज दो फौरन। इसके अलावा उत्तर और पश्चिम के समुद्री तट आज से हमारे अधिकार में रहेंगे।

और इटली ने जिन जगहों पर कब्जा किया है वहाँ फिलहाल उनकी सेना बनी रहेगी।

स्विटजरलैण्ड से शुरू करके भूमध्यसागर के तटवर्ती क्षेत्र की तीस मील की जगह में किसी तरह का अस्त्र-शस्त्र नहीं रखा जाएगा।

तुंला, एजासिओ, उरान, और विजार्ता—इन चारों नौ-सेना के अड्डों पर एक सैनिक तक नहीं रहेगा।

और एबीसीनिया के जीबूति आदिसआबाबा रेल लाइन पर इटली का कब्जा रहेगा।

बाकी बचे हिस्से पर तुम जैसी चाहे वैसी सरकार बना सकते हो। लेकिन ऐसा कुछ न करना कि हमारे शत्रु सिर उठाएँ। ऐसी हालत में हम चुप नहीं बैठेंगे।

सन्धि-पत्र पर हस्ताक्षर कहाँ हो ? नहीं, दूसरी जगह नहीं होगा। याद है न वारसाई की सन्धि ? उस दिन सबने मिल कर जर्मनी का अपमान किया था। आज भाग्य ने पल्टा खाया है। इसीलिए उस दिन जिस तरह जर्मनी को सबके सामने घुटने टेकने को मजबूर किया गया था, फ्रांस को भी बिल्कुल वैसे ही आज हर शर्त माननी पड़ेगी। इसलिए सन्धि पर हस्ताक्षर होंगे इसी कैम्पेन के वन में। उसी रेलगाड़ी के उसी डिब्बे में, उसी पत्थर की शिला के सामने, जिस पर तुमने लिख रखा है—'यहाँ एक स्वाधीन राष्ट्र के सामने जर्मनी का गर्व चूर्ण हुआ है।'

आज तुम्हारी उपस्थिति में यहीं फ्रांस की शोचनीय पराजय की कहानी जर्मन भाषा में लिखी जाएगी। तुमको सिर झुका कर देखना पड़ेगा। इस बात के लिए तैयार हो ?

मान लिया मार्शल पेंता ने। इसके अलावा चारा ही क्या था ? इस बीच इस भयंकर युद्ध का महसूल चुकाने में दो तिहाई हिस्सा हाथ से जा चुका था। शर्त मान लेने से अगर एक तिहाई ही बच जाए।

यथासमय उस रेल के डिब्बे को कैम्पेन के जंगल में लाया गया।

१९४० की २२ जून। इस समारोह में भाग लेने के लिए दलबल सहित हिटलर आ पहुँचे। उनके साथ थे गोयरिंग, ब्राउशिच, काइटेल, रिबेनट्राप, हेस जैसे सहयोगी।

बाईस साल पुरानी बात थी। इन बाईस सालों में एक दिन के लिए भी हिटलर पत्थर की इस शिला पर खुदे अक्षरों को नहीं भूल सके थे। हर रोज़ सोचा करते थे; जर्मनी के इस अपमान का बदला वह लेकर रहेंगे। आज बाईस साल बाद उनकी वह इच्छा पूरी होने जा रही थी।

सन्धि की शर्तें सुनते-सुनते फ्रांस के प्रतिनिधियों की आँखें भर आईं।

बाईस साल पहले जर्मन प्रतिनिधियों की आँखें क्या छलछलाई नहीं थीं ? उस समय किसने करुणा दिखाई थी उन्हें ? आज वे क्यों छोड़ देंगे ?

समारोह समाप्त हुआ तो पत्थर की शिला स्थापित करने के लिए हिटलर रेल के डिब्बे से नीचे उतरे। वारसाई अपमान का बदला भली प्रकार से लिया जा चुका है। जर्मन जनता के आगे उन्होंने जो प्रतिज्ञा की थी, आज वह पूरी हुई। आज वे सुखी हैं, सार्थक हैं, विजयी हैं।

बाहर मिलिट्री बैण्ड खड़ा था। चहुदिशा कांप उठी बैण्ड की धुन से—'डॉयेच लैण्ड ब्यूवार आलेस्'—सारे देशों का देश है जर्मनी। जर्मनी दीर्घजीवी हो।

मल्लिका, इतिहास का विचित्र खेल है। उस दिन विजयी फ्रांस की तरफ से वारसाई सन्धि पर हस्ताक्षर किए थे वर्दून विजयी मार्शल पेंता ने। और आज भी पेंता को ही पराजित फ्रांस के प्रतिनिधि के रूप में सन्धि-पत्र पर हस्ताक्षर करने पड़े। भाग्य का परिहास इसे ही कहते हैं।

पेरिस का पतन हुआ। जर्मनी का सारा दावा मानना पड़ा सिर झुका कर।

फ्रांस के अनधिकृत हिस्से में मार्शल पेंता ने नई सरकार गठित की। नाम रखा वीसी सरकार। सन्धि के फलस्वरूप इतना-सा ही बच गया है, यही क्या कम है !

परन्तु नब्बे साल के इस वृद्ध व्यक्ति को विजयी-पक्ष ने छोड़ा नहीं। इनकी दृष्टि में वे भी थे कुइस्लिंग। उन्हें पहले मृत्युदण्ड दिया, बाद में उम्र की बात सोच कर आजीवन कारावास की सजा दी गई। फ्रांस के तटवर्ती इलाके से कुछ दूर विस्के उप-सागर के एक छोटे से द्वीप के 'आईल द यू' कैदखाने में उन्हें जीवन के अन्तिम दिनों तक बन्दी रखा गया था।

उनका कसूर यही था कि देश और देशवासियों को मुसीबत के बीच छोड़ कर भागे नहीं थे। उन्हीं के बीच जीने का, उनका दुःख-दर्द बाँट लेने का प्रयास किया था। फिर भी वे कुइस्लिंग—विश्वासघातक।

कुछ दिनों तक चुप रहने के बाद हिटलर फिर उठ खड़े हुए।

पोलैण्ड, डेनमार्क, हॉलैण्ड, फ्रांस आज उनके कब्जे में थे। पर कूटनीति के क्षेत्र में वे हार गए थे। उन्होंने सोचा था, डॉनकार्क की घटना के फलस्वरूप अंग्रेज सिर झुकाएँगे। सन्धि करना चाहेंगे। लेकिन अंग्रेजों ने कुछ भी नहीं किया। यह तक नहीं सोचा कि हिटलर ने लाखों-लाखों सैनिक किस खुशी में छोड़ दिए।

गोयरिंग फिर बुलाए गये। सुन कर उछल पड़े गोयरिंग। यही तो वे चाहते हैं। वे दिखा देना चाहते है कि उनके द्वारा परिचालित जर्मन जहाज क्या नहीं कर सकते।

२६ जुलाई को इंगलैण्ड पर हवाई हमले शुरू हुए। एक-दो नहीं, हजारों की तादाद में बमबारू हवाई जहाज। शुरू हुई ध्वंस-लीला। मृत्यु।

यही क्रम चलता रहा दिन पर दिन। महीने दर महीने। दिन रात—हर समय।

सारा इंगलैण्ड जलने लगा। लगातार बमों की वर्षा हो रही थी पार्लियामेन्ट हाउस, वेस्ट मिनिस्टर ऐबे पर। यहाँ तक कि बकिंघम पैलेस भी बच न पाया। बस, एक ही इरादा था। ब्रिटिश सरकार को परम शिक्षा मिलनी चाहिए। तोड़-फोड़ कर संसार के नक्शे से इस देश का नामो-निशान मिटा देना होगा। इस बार किसी भी तरह से छोड़ा न जाएगा।

मुसीबत पर मुसीबत !

२७ सितम्बर को जर्मनी, इटली और जापान के बीच त्रिपक्षीय सन्धि हुई बर्लिन में। अर्थात् अब दो नहीं तीन मित्र हैं।

इस समाचार ने सारे विश्व को चौंका दिया। इसका अन्त क्या होगा?

'...देशवासियों की तरफ से, लोगों की नजर की आड़ में रह कर, तिल-तिल करके अपना जीवन दे कर प्रायश्चित्त करूँगा। अगर भगवान् की छाया सिर पर रही; पृथ्वी पर सच्चाई की जीत हुई, तो मेरे देशवासी मेरे हृदय की बात एक दिन अवश्य ही समझ सकेंगे।'

—सुभाषचन्द्र बोस

१६४० साल समाप्त हुआ। १६४१ साल आया। इंगलैण्ड को इस हालत में देख कर भारत के लोग खुशी से नाच उठे। ठीक हुआ—अच्छा हुआ। हिटलर के हाथों इन्हें और पिटना चाहिए था।

यह खुशी हिटलर या जर्मनी के जीतने के कारण नहीं, बल्कि ब्रिटिश की पराजय के कारण थी। जिस अंग्रेज ने हमें पैरों के नीचे दबा रखा है, हमें पशुओं की तरह मार रहा है, उसकी शोचनीय दशा पर हम क्यों न खुश हों?

उस दिन २६ जनवरी थी।

भारत के लिए नव-जीवन की किरण के समान थी। नए दिन का संकेत। स्वाधीनता दिवस। स्वाधीनता चाहिए।

अचानक एक समाचार ने सबको चौंका दिया।

सुभाष लापता हैं। उन्हें ढूंढ़ा जा रहा है पर उनका कहीं पता नहीं। सभी सोच रहे थे कि यह सम्भव कैसे हुआ? उन पर कड़ी नज़र रखने के लिए सादा पोशाक में कुल बासठ गुप्तचर रखे गये थे। उनकी नज़र बचा कर दूसरी जगह चले जाना संभव कैसे हुआ?

पर उन्हें ज़रूरत क्या थी बाहर जाने की? क्या ऐसा काम था? इन प्रश्नों का उत्तर पाने के लिए हमें पीछे हटना पड़ेगा मल्लिका।

गांधी जी और सुभाष। स्वाधीनता संग्राम के दो उल्लेखनीय पात्र।

ठीक वैसे ही जैसे बहुत दूर तक बगल-बगल बिछी दो रेल की पटरियां। बगल-बगल रह कर भी एक दूसरे में कोई मेल नहीं।

बस, मेल था तो एक ही बात का। दोनों का लक्ष्य था—स्वाधीनता।

३ सितम्बर १६३६ साल। दूसरा विश्वयुद्ध आरम्भ हुआ।

इस बार भी मतों में मेल नहीं।

गांधी जी अंग्रेजों की मदद करना चाहते थे और सुभाष उनका विरोध करना चाहते थे। वे स्पष्ट शब्दों में कहते—'हम अंग्रेजों की मदद क्यों करें? क्या तर्क है इसका? पहले विश्वयुद्ध में गांधी जी ने अंग्रेजों का साथ दिया था। बदले में हमने क्या पाया? मिली जालियांवाला बाग़ की निष्ठुर हत्या। यह बात क्या भूल जाने की है?

'इसके अलावा कानूनन भारत आज लड़ाई में फंस गया है। लेकिन क्यों? क्या बड़े लाट ने युद्ध की घोषणा करने से पहले भारतवासियों से पूछा था? इस बार भी क्या उन्होंने गांधीजी या अन्य नेताओं से बात की है? तो फिर उनके अच्छे-बुरे की हम क्यों चिन्ता करें?

'बल्कि अब जो कुछ हुआ है यही तो हम चाहते हैं। यही तो हमारे लिए मौका है। घायल अंग्रेजों के हाथों से अपना देश छीन लेने का यही उपयुक्त समय है। शत्रु की

कमजोरी का फायदा उठाना चाहिए। इसलिए लड़ना होगा। स्वाधीनता की अन्तिम लड़ाई।'

गांधी जी इसके पक्ष में नहीं। इसलिए बड़े लाट लार्ड लिनलिथगो से मिलने के बाद उन्होंने दुनिया को अपने मन की बात बता दी—

'इस युद्ध में मुझे इंग्लैण्ड और फ्रांस के साथ पूर्ण सहानुभूति है। इंग्लैण्ड का पार्लियामेंट भवन या वेस्ट मिनिस्टर ऐबे ध्वंस हो, यह दृश्य मैं बरदाश्त नहीं कर सकता हूँ। मैं इस समय भारत की स्वाधीनता की बात बिल्कुल नहीं सोच रहा हूँ। इंग्लैण्ड और फ्रांस की स्वाधीनता ही अगर चली गई तो भारत की स्वाधीनता किस काम की ?'

'My own sympathies were with England and France from the purely humanitarian standpoint. I told him that I could not contemplate, without being stirred to the very depth, the destruction of London which had hitherto been regarded as inpregnable. As I was picturing before him the House of Parliament and the Westminister Abbey and their possible destruction, I broke down. I have become disconsolate.

....I am not, therefore, just now thinking of India's deliverance. It will come but will it be worth, if England and France fail or if they come out victorious over Germany ruined and humbled.'

यह विज्ञप्ति किसकी है ? यह क्या आँखों का भ्रम है ? गांधी जी ने यह बात कही है ?

लेकिन क्या ये वही गांधी हैं जिन्होंने एक दिन देशबन्धु के घर पर बंगाल के विप्लवी नेताओं को बुला कर कहा था—

'Had India sword I woul have asked her to draw it. But as she had no sword—I ask her to adopt Non-violent; non-co-operation.....I am out to destroy this satanic Government.' अर्थात् 'भारतवासियों के पास तलवारें नहीं हैं। रहतीं तो सबको तलवार उठा लेने को कहता। नहीं हैं, इसीलिए अहिंसा और असहयोग की नीति अपनाने की सलाह दे रहा हूँ। मैं इस शैतान सरकार को नष्ट करने के लिए दृढ़ प्रतिज्ञ हूँ।'

आश्चर्य ! वही गांधी जी आज कुछ और कह रहे हैं। आज लग रहा है उस शैतान सरकार को नष्ट करने का इरादा नहीं है। बल्कि यूरोप के हाथों इन्हें ध्वंस होते देख कर उनका मन शैतान सरकार के प्रति सहानुभूति-मय हुआ जा रहा है।

जवाहरलाल भी यही कह रहे थे। अंग्रेजों पर मुसीबत आई है, इस वक्त अगर हम भी लड़ाई छेड़ दें तो विदेशी लोग हमें क्या कहेंगे ?

लेकिन इस मौके को जान-बूझ कर गँवा देने से देशवासी हमें क्या कहेंगे ? क्या कहेंगे हमारे वंशज ? आने वाले इतिहास में क्या लिखा जाएगा ?

[illegible] जवाहरलाल के [illegible] इन प्रश्नों का उत्तर नहीं था।

उस समय गांधी जी की वजह से सुभाष कांग्रेस से बहिष्कृत थे। जबकि गांधी जी के वोट पर नहीं, जन साधारण का वोट पाकर सुभाष दुबारा कांग्रेस के सभापति निर्वाचित हुए थे। फिर भी गांधी जी ही तो सर्वेसर्वा हैं—उनकी इच्छा-अनिच्छा ही सब है। सुभाष के शब्दों में—'The entire intellect of the Congress has been mortgaged to one man.'

इसी बात को और भी स्पष्ट शब्दों में कहा था त्रिपुरा कांग्रेस की अभ्यर्थना कमिटी के सभापति, गांधीवादी नेता सेठ गोविन्ददास ने। भाषण देते समय गर्व से कहा था उन्होंने—'फासिस्टों में मुसोलिनी, नात्सियों में हिटलर और कम्युनिस्टों में स्टालिन की जो जगह है, कांग्रेस सेवकों में महात्मा गांधी की भी वही जगह है।' [आनन्दबाजार पत्रिका : ११ मार्च : १६३६]

सुभाष जनता द्वारा निर्वाचित सभापति थे, फिर भी गांधी जी को यह बात पसन्द नहीं थी। इसीलिए वही हुआ जो होना था। सुभाष को वह पद त्यागना पड़ा। उससे भी काम नहीं चला—उनका कांग्रेस से बहिष्कार कर दिया गया। अपराध था अनुशासन भंग करना।

लेकिन मल्लिका, इतिहास क्या कहता है? सुभाष के विरुद्ध लगाये गये इस आरोप को क्या इतिहास ने माना?

विदेशी लेखक माइकेल एडवर्ड्स ने अपनी सुप्रसिद्ध पुस्तक The last years of British India में लिखा है—'Gandhi now turned the technique of Non-co-operation, not against the British, but against Congress's own president. Bose was forced to resign.' [The last years of British India : P—78]

अर्थात् गांधी जी का अब असहयोग ब्रिटिश के विरुद्ध नहीं, कांग्रेस के अपने सभापति के विरुद्ध ही था। फलस्वरूप बोस पदत्याग करने को बाध्य हुए।

न केवल इतना ही; उन्होंने आगे भी कहा कि—

'भारत तथा बाहर के अनेक लोगों का विश्वास था कि गांधी जी प्रकाश और माधुर्य के सम्मिश्रण से बने हैं, लेकिन देखने में यह आया कि अपने नेतृत्व के वास्तविक प्रतिद्वन्द्वी को हटाने के लिए उन्होंने अपनी मर्यादा और कूटनीति का सहारा लिया। यह बात केवल टेम्नी हॉल से ही उम्मीद की जाती है'—

'Gandhi, whom so many both in India and abroad believed to be compounded only of sweetness and light, had, by the use of his over-whelming prestige and the sort of intrigue one would expect from Tammany Hall, succeeded in disposing of the only real opposition to his leadership' [Ibid : P—78]

१५ सितम्बर को वर्धा में कांग्रेस वर्किंग कमिटी की बैठक हुई। इसका उद्देश्य था ब्रिटिश सरकार के साथ, युद्ध-काल में सहयोगिता की जाए या नहीं।

वहिष्कृत सुभाष को भी इस कमिटी में बुलाया गया था।

उन्होंने वही एक ही बात कही—'भाड़ में जाएँ ब्रिटिश। उनके अच्छे-बुरे से हमें क्या लेना-देना ? हमने क्या अपने देशवासियों से प्रण नहीं किया था कि युद्ध में किसी तरह का सहयोग नहीं देंगे ? हरिपुरा के अधिवेशन में भी तो यही बात साल भर पहले हमने कही थी—तो फिर ? इस तरह की उल्टी-सीधी बातें क्यों की जा रही हैं ? अब भाव तय करने की जरूरत नहीं। जरूरत है लड़ाई की।'

किसी ने सुभाष की बात नहीं सुनी। वही पुरानी बात—युद्ध हम करेंगे नहीं। इसीलिए सहयोग चाहिए। बातचीत करनी है। सबसे पहले लाट साहब को पत्र लिखना है। देखना है सहयोग की बात सुन कर वे क्या कहते हैं ?

एक तरफ समस्त गांधीवादी, दूसरी तरफ अकेले सुभाष। हालाँकि वे कांग्रेस से वहिष्कृत थे। लेकिन विचार किया जाए तो किसका कहना ठीक था ? इसका उत्तर मिलता है इतिहासकार डाक्टर रमेशचन्द्र मजुमदार की पुस्तक से—

'But there was one leader, Subhas Bose, who stood up boldly in defence of the Congress policy.' (History of Freedom Movement : vol III : P—597)

सुभाष की दूरदर्शिता का समर्थन आगे चल कर अंग्रेजों ने भी किया था। बाद में उन्होंने स्वीकार किया था कि अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियों की जितनी स्पष्ट धारणा सुभाष को थी, उतनी और किसी को नहीं थी।

'Bose himself welcomed the possibility of conflict because a blow to Britain in Europe would undoubtedly weaken her grasp on India. Other Congress leaders had no such clear cut vision of the future,' [last years of British India; Michael Edwardes : P—78]

पर उस दिन कांग्रेस के इस निर्णय पर सबसे ज्यादा खुशी अंग्रेजों को ही हुई थी। क्योंकि उन्हें गांधी जी से डर नहीं था। उन्हें डर था इन चरमपन्थी विप्लवियों से। यह बात उन्होंने स्वयं कही है, मल्लिका।

The British felt they had little to fear from Gandhi himself, for they soon recognized him for what he was—an anti-western reformer.

As long as Gandhi was in control of Congress, they knew they had an ally. As long as civil disobedience remained non-violent, it did not greatly worry the...Government.

Who was hurt by non-co-operation any way ? Only Indans.

Gandhi's whole aim was to minimize violence; the Government's was the same, they were still capable of suffering a few out-breaks of small scale violence but if once Gandhi ceased to dominate Congress, the machine he had built up might well be used by more dynamic and violent people. A full scale rebellion could not be crushed.

So the Government obliged Gandhi by treating him with considerable respect, jailing him occasionally to keep up appearances while they took much more positive action against terrorists and those western style revolutionaries whom they really feared.' [Last years of British India; Micheal Edwardes. p—57]

अर्थात् ब्रिटिश समझ गये थे कि उन्हें गांधी से डरने की जरूरत नहीं है। क्योंकि वह पाश्चात्य सभ्यता के विरोधीमात्र थे।

'जब तक गाधी जी कांग्रेस के कर्णधार रहेंगे तब तक उन्हें विश्वास है कि उनका एक दोस्त है। जब तक उनका असहयोग आन्दोलन अहिंसात्मक रहेगा, तब तक सरकार को परेशान होने की जरूरत नहीं है। इस असहयोग आन्दोलन से नुकसान तो केवल भारतवासियों का है। गांधी का उद्देश्य है हिंसा को रोक रखना—सरकार भी यही चाहती है। छोटी-मोटी हिंसात्मक घटनाएँ दबाने में कोई परेशानी नहीं है लेकिन अगर गांधी कांग्रेस से हट जाते हैं तब यह ऐसे लोगों के हाथों में जा सकती है जो समर्थ और हिंसात्मक आन्दोलन के पक्षपाती है। ये अगर किसी तरह का विद्रोह करते हैं तो इसे रोक सकना सरकार के लिए कठिन हो जायेगा।

इसीलिए सरकार गांधी के प्रति सम्मानजनक व्यवहार बनाये रखती और लोगों की नजरों में उनकी मूर्ति धूमिल न हो सके इसीलिए समय-समय पर उन्हें जेल में डाल देती। सरकार उनके प्रति कहीं ज्यादा ठोस और कठोर कदम उठाती जो आतंकवादी थे और जो पश्चिमी ढंग से निर्मित विप्लवी संस्थाएँ थीं।'

सुभाष इसी विप्लवी दल में थे। अहिंसा को वे नीति नहीं, पॉलिसी समझते। वे कहते—Not creed but policy. अंग्रेजों के प्रति उनके मनोभाव को कौन नहीं जानता था? ऐसे आदमी के कांग्रेस से निकाल दिये जाने पर अंग्रेज तो खुश होंगे ही।

एक घटना का उल्लेख करता हूं।

जनता चाहती थी कि सुभाष दोबारा कांग्रेस के सभापति बनें, पर गांधी जी नहीं चाहते थे। यह बात उन्होंने स्वयं कही है—

'मुझे स्वीकार करना ही पड़ेगा कि मैं शुरू से ही उनके फिर से निर्वाचित होने का विरोधी था। इसका कारण मैं आज नहीं बता सकता।'

साफ-साफ स्वीकार किया है गांधी जी ने। पर क्यों? एक ही आदमी एक बार से अधिक सभापति बन चुका है। जवाहरलाल ही तीन बार बन चुके थे सभापति। किसी ने कभी कोई एतराज नहीं किया। फिर सुभाष के वक्त क्यों?

इसका उत्तर मिलता है डा० ए० के० मजुमदार की पुस्तक 'Advent of Independence' की पृष्ठ संख्या ४०६ में। प्रथम श्रेणी के कांग्रेस नेता के० एम० मुन्शी ने एक पत्र में लिखा था—

'The Government of India knew my relation with Gandhiji and Sardar and often saw to it that confidential information reached Gandhiji through me.

On one such occasion, I was shown certain secret service reports that Netaji had contacted the German Consul in Calcutta and had come to some arrangement with him, which would enable Germany to rely upon him in case there was a war.

I conveyed the information to Gandhiji, who naturally felt surprised.'

[भारत सरकार गांधी जी और सरदार (पटेल) के साथ मेरे सम्बन्ध की बात जानती थी और इसीलिए वे इस बात का ध्यान रखते कि गुप्त समाचार गांधी जी तक मेरे ज़रिये से पहुँचे।

ऐसे ही एक मौके पर, मुझे गुप्तचर विभाग की कुछ गुप्त रिपोर्टें दिखाई गईं, जिनमें था कि नेताजी ने कलकत्ता के जर्मन कौंसल से सम्पर्क स्थापित किया और उनके साथ ऐसा इन्तजाम किया है कि अगर युद्ध शुरू हुआ तो जर्मनी उन पर निर्भर कर सकता है।

मैंने यह बात गांधीजी को बताई तो उनका चकित होना स्वाभाविक था।]

यह बात १९३८ की है। मुन्शीजी ने यह बात कही १९६२ साल में। दिसम्बर माह में। छब्बीस साल बाद।

पर गुप्तचर विभाग ने अपने गुप्त कागजात मुन्शी जी को दिखाये क्यों?

अगर उपयुक्त प्रमाण था तो चुप रह जाने का क्या कारण था? चुप रह कर मुन्शी जी के जरिये गांधीजी से शिकायत ही क्यों की गई? और गांधीजी ही ने क्यों भारत सरकार की बात पर इतना भरोसा ही किया? इन प्रश्नों का सही जवाब क्या है?

सुभाष जन्म से विप्लवी है। निराश होकर टूटना उन्होंने सीखा नहीं। इसीलिए समय न गवां कर वे एक छोर से दूसरे छोर तक चक्कर लगाने लगे।

बस, सबसे यही कह रहे थे कि समय आ गया है—अब देर नहीं। लड़ाई करनी होगी। उनकी पुकार सुन कर लाखों लोग आगे बढ़ आये—यही हम भी चाहते हैं। लड़ाई ही चाहिये। पंजाब, नागपुर, सीमान्त प्रदेश, बिहार, उड़ीसा, संयुक्त प्रान्त, बम्बई, मद्रास और अन्य प्रान्तों से बुलावा आया।

१७ अक्टूबर को बड़े लाट का जवाब आया। उनकी विज्ञप्ति में न कोई वादा, न कुछ। सिर्फ प्रादेशिक मन्त्रिमण्डलों के अधिकारों को कम करना, देश की सुरक्षा के बहाने व्यापक गिरफ्तारियाँ तथा अन्य दमनकारी व्यवस्थाएँ—बस यही हुआ।

सिर्फ आठ प्रदेशों में तब कांग्रेस के मंत्रिमण्डल थे। दुःखी होकर वर्किंग कमिटी ने पदत्याग करने के लिए कहा इन मंत्रिमण्डलों को।

मन्त्रिमण्डल ने पद तो त्याग दिया पर इसके बाद? आगे क्या करना है? लड़ाई?

नहीं नहीं—गांधीजी उस रास्ते पर नहीं जाने वाले है। उनका लक्ष्य तो लड़ाई से बचना है।

'I am not spoiling for a fight. I am trying to avoid it.'

इसके अलावा वे अंग्रेजों का विश्वास भी नहीं खोना चाहते थे। बड़े लाट पर उन्हें बहुत भरोसा है।

'I have not lost faith in Britain, I like the latest pronouncement of Lord Linlithgow, I believe in his sincerity.'

२० मार्च १६४० साल। सुभाष ने रामगढ़ में समझौता-विरोधी सम्मेलन का आयोजन किया।

देखने लायक दशा थी। एक तरफ मौलाना आजाद के नेतृत्व में कांग्रेस का अधिवेशन, दूसरी तरफ सुभाष का समझौता विरोधी सम्मेलन।

एक का कहना था—कोई समझौता नहीं। भीख माँगने से स्वाधीनता कभी नहीं मिलेगी। आवेदन-निवेदन से भी कुछ नहीं होगा, इसलिए लड़ना होगा।

दूसरी तरफ कहा जा रहा था—नहीं, लड़ाई नहीं। समझौता और सहयोग से सब होगा। इसलिए अभी चुपचाप हम पहले की तरह उनसे अनुरोध करते रहेंगे।

The working Committee will continue to explore all means of arriving at an honourable settlement, even though the British Government has banged the door in the face of the Congress.'

यह सब देख कर सुभाष तंग आ चुके थे। न सिर्फ कांग्रेस, युद्ध के लिए कोई तैयार नहीं था। एक साथ यात्रा शुरू करने पर भी रामपन्थी और कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी पहले ही पिछड़ गई थी। अब कम्युनिस्ट पार्टी अलग हो गई।

अब क्या किया जाए? ऐसा सुनहला मौका क्या ऐसे ही गवाँ दिया जाए? असम्भव। मौका किसी का रास्ता नहीं देखता है। ठीक है, जिसकी मर्जी वह अलग हो जाए, सुभाष एक कदम पीछे नहीं हटेंगे। वे अकेले ही इस लड़ाई में कूद पड़ेंगे।

१८ जून। नागपुर में फारवर्ड ब्लॉक के अधिवेशन में सुभाष ने ब्रिटिश सरकार को नोटिस दी—

'All power to the Indian people.'

कोई हीला-हवाला नहीं। टाल-मटोल से बात नहीं बनेगी। हमें स्वाधीनता चाहिए। वरना हम जान दे कर इसे पाकर रहेंगे।

इसके बाद ही उनके मुंह से एक भयावह बात सुनने को मिली—

'यूरोप की हर चोट के साथ-साथ ब्रिटिश साम्राज्यवादियों की भारत की पकड़ ढीली होती जायेगी। इसलिए इस संकट के समय, उनके लिए आंसू न बहा कर, भारत को अपनी बात सोचनी चाहिए। भारतवासियों को चाहिये कि वे अभी शक्ति हस्तान्तरित करने का दावा करें।'

'With every blow that she receives in Europe the Imperialist might of Britain is bound to loosen its grip of India.

Let us therefore cease talking of saving Britain with the Empire's help or with India's help. India must in this grave crisis think of herself first....

It is for the Indian people to make an immediate demand for the transference of power to them through a Provisional National Government.'

सुभाष कांग्रेस से बहिष्कृत। दो-दो बार सभापति रह कर भी आज वे कांग्रेस के कोई नहीं। इसमें किसका कसूर है? गांधी जी का? सुभाष का? कांग्रेस का?

नहीं मल्लिका, दोष किसी का नहीं है। यही होना था। उनके कानों में तो चौबीसों घंटे बज रही थी एक ही बात—मुक्ति चाहिए—देश की, मनुष्य की मुक्ति। कौन सी शक्ति है जो उन्हें रोकती?

इसी सिलसिले में १६२७ में माण्डले जेल से लिखी, सुभाष की कुछ लाइनें नीचे लिख रहा हूँ—

'अपने जीवन को पूर्ण रूप से विकसित कर भारत माता के चरणों में समर्पित करूंगा और इस आत्मोत्सर्ग द्वारा पूर्णता प्राप्त करूंगा, मैं इसी आदर्श को मान कर चला था...मेरे इस छोटे से परन्तु घटनाओं से भरपूर जीवन पर से कितने तूफान गुजर चुके हैं। विघ्न-बाधाओं के उस पत्थर के जरिये मैंने अपने को बारीकी से पहचानने और समझने का अवसर पाया है।

'इस घनिष्ठ परिचय के कारण मैंने तय किया है कि यौवन काल में जिस कांटों से भरे रास्ते पर मैंने यात्रा शुरू की है उस पर अन्त तक चलता जाऊंगा। अनजाने भविष्य की कल्पना कर जिस व्रत को शुरू किया है उसे पूरा करके रहूँगा।

'मैंने अपने प्राणों और समस्त जीवन की शिक्षा को निचोड़ कर यह सत्य पाया है कि पराधीन राष्ट्र में सब व्यर्थ है—क्या शिक्षा-दीक्षा, कार्य—सब व्यर्थ है अगर स्वाधीनता प्राप्त करने में ये सहायक नहीं हुए। इसीलिये आज मेरे हृदय की गहराई से यही आवाज निकल कर कानों में गूंज रही है—'स्वाधीनता रहित हो कर कौन जीना चाहता

है, कौन चाहता है जीना ?'

यह थे सुभाष। यही था उनका असली रूप। जीवन भर जिसका स्वप्न देखा था उसी स्वाधीनता को प्राप्त करने का मौका आ गया है। उसकी शंखध्वनि सुन कर स्थिर रहना क्या सम्भव है ? इस पुकार को सुन कर तो हर कोई तैयार हो जायेगा।

अन्दर ही अन्दर तैयारी कुछ दिनों पहले से शुरू हो गई थी।

बाहर जाना होगा। हिटलर से मार खा कर अंग्रेज इस समय अपना घर सम्भालने में व्यस्त हैं। इस अपूर्व समय का सदुपयोग करना होगा। हमला—भीतर बाहर दोनों तरफ से होना चाहिए।

फारवर्ड ब्लाक, बी० वी०, अनुशीलन समिति, पूर्णदास का दल, अनिल राय और लीलाराय के श्रीसंघ और उत्तरी बंगाल की विभिन्न विप्लवी संस्थाओं के सहयोग पर कोई सन्देह नहीं था। साहस और शौर्य में वे किसी से कम न थे। उनमें वास्तविक सैनिकों के सभी गुण मौजूद थे। पर इतना ही काफी नहीं था—

'I know their strength. They were real revolutionaries of high spirit. But their strength and sacrifice were not enough to achieve complete independence for our Motherland.' (On to Delhi : P—71)

साम्राज्यवादी शक्ति का सामना करने के लिये चाहिए आधुनिक अस्त्र-शस्त्र। चाहिए सुप्रशिक्षित सेना। और भी बहुत कुछ।

इसीलिये बाहर ही से जबरदस्त हमला करना होगा। और इसीलिये बाहर जाना होगा। सभी तैयार थे। हर व्यवस्था पक्की थी।

पहले पेशावर जाना होगा। वहाँ से पैदल चल कर, पहाड़ पर्वत लाँघते हुए काबुल पहुँचना है। काबुल से किसी विदेशी दूतावास की मदद से सीधे यूरोप।

आखिरी बार आम जनता के सामने भाषण देते हुए उन्होंने देशप्रिय पार्क में कहा—

'दोस्तों, अब शायद मैं न रहूं। इस खुले आसमान के नीचे खड़े हो कर आप लोगों से कुछ कहने का शायद फिर कभी मुझे मौका नहीं मिले। इससे पहले ही शत्रु मेरा गला दबा दे सकते हैं दीर्घकाल के लिए। इसलिए अन्तिम बार मैं आप सबसे करजोड़ प्रार्थना करता हूँ कि इस मौके को हाथ से जाने मत दीजियेगा। आगे बढ़ते चलिए। जीत हमारी ही होगी।'

अचानक कुछ समय के लिये सारी योजना स्थगित कर दी गई।

३ जुलाई को हॉलवेल मान्यूमेन्ट आन्दोलन का दिन निश्चित था। ठीक उसके एक दिन पहले। दोपहर के दो बजे। अचानक डिप्टी कमिश्नर मिस्टर जॉन ब्रिन आए—'तुम्हें भारतीय रक्षा-कानून धारा १२६ के मुताबिक गिरफ्तार किया जाता है। चलो प्रेसीडेन्सी जेल।'

सुभाष क़ैद थे, पर गांधीजी भी चुपचाप नहीं बैठे थे। वे आराम से शान्ति स्थापित करने की चेष्टा करते जा रहे थे। इस बीच उन्होंने हिटकर को भी उपदेशों से भरा एक पत्र लिखा था कि इस तरह से लड़ना ठीक नहीं। लड़ते भी हो तो अहिंसात्मक ढंग से लड़ो।

ऐसी ही एक चिट्ठी उन्होंने इंगलैण्डवासियों को लिखी। इस तरह से हिंसक ढग से हिटलर और मुसोलिनी को रोकना उचित नहीं। तुम उन्हें सादर अपने देश बुलाओ। अच्छे महल में रखो फिर अहिंसात्मक ढंग से विरोध करो।

'You will invite Herr Hitler and Signor Mussolini to take what they want of the countries you call your possessions. Let them take possession of your beautiful island with your many beautiful buildings. You will give all these, but neither your souls, nor your minds. If these gentlemen choose to occupy your homes, you will vacate them. If they do not give you free passage out, you will allow yourself, man, woman and child, to be slaughtered, but you will refuse to own allegience to them.'

२२ जुलाई को गांधीजी ने बड़े लाट साहब लार्ड लिनलिथगो को यह चिट्ठी दी। बड़े लाट साहब तो दंग रह गए। जिनके कारण सब कुछ लुटने को था, उन्हीं को इंगलैण्ड बुला कर खातिरदारी की जाए? ऐसा तो उन्होंने सपने में भी नहीं सोचा था। मौलाना आज़ाद ने आगे लिखा था—

'When Gandhiji told Lord Linlithgow that the British people should give up arms and oppose Hitler with spiritual force, Lord Linlithgow was taken aback by what he regarded as an extra-ordinary suggestion.It was normally his practice to ring the bell for an A. D. C. to come and take Gandhiji to his car. On this occasion he neither rang the bell, nor sent for the A. D. C.

The result was that Gandhiji walked away from a silent and bewildered Viceroy and had to find his way out to his car all by himself.' [India Wins Freedom : Abulkalam Azad]

गांधीजी अहिंसा की नीति पर विश्वास करते थे। यही उनके जीवन का धर्म था; जबकि दूसरी ओर लिनलिथगो के लिए युद्ध ही सब कुछ था। ऐसी दशा में बड़े लाट अगर शिष्टाचार की बातें भूल गए तो इससे गांधीजी का क्या बनता बिगड़ता है?

१९४० में सुभाष की पुकार का कहाँ उत्तर दिया था गांधीजी ने, या कांग्रेस ।

ने ? इससे तरुण दल क्षुब्ध था; चंचल था। कुछ लोगों ने कहना शुरू कर दिया था कि आज की कांग्रेस केवल युद्ध-विरोधी संस्था-मात्र है और कुछ नहीं। इनका मुंह बन्द करने के लिए कुछ करना जरूरी हो गया।

कुछ लोग कह रहे थे कि राष्ट्रीय आन्दोलन शुरू किया जाए, परन्तु गांधीजी इसके पक्ष में नहीं थे। अन्त में राष्ट्रीय आन्दोलन की जगह शुरू हुआ व्यक्तिगत सत्याग्रह। यानी कि एक आदमी, सामना-सामनी कानून तोड़ने के अपराध में जेल जाएगा। लेकिन हर कोई ऐसा नहीं कर सकता है। गांधीजी ही कहेंगे कि कौन क्या करेगा।

पहले सौभाग्यशाली व्यक्ति थे विनोबा भावे। उस दिन तक लोग उन्हें जानते तक नहीं थे। लेकिन अब रातों-रात प्रसिद्ध हो गए। दूसरे सत्याग्रही थे जवाहरलाल। उसके बाद कई हजार - पर हालत वही की वही बनी रही।

दुर्घटना पंजाब में घटित हुई। वहाँ समपूरन सिंह, बिना गांधीजी की अनुमति के, बीच सड़क पर खड़े होकर कानून भंग कर बैठे। उसके बाद ही एक आना जुर्माना देकर कोर्ट से बाहर निकल आए।

इस बात की भयंकर आलोचना हुई। इस तरह तो मिल चुकी आजादी ? दुःखी होकर कांग्रेस सभापति मौलाना आजाद ने कहा—

'This brought such ridicule on the movement in the Punjab that I had to go there to set matters right.' [India Wins Freedom : Abulkalam Azad]

कुछ दिनों बाद ही गांधीजी के कहने पर यह सत्याग्रह आन्दोलन रोक दिया गया।

सुभाष तब प्रेसीडेन्सी जेल में थे। उनके लिए यह अच्छा ही हुआ। वहीं उनकी भेंट हुई हेमचन्द्र घोष, सत्य बख्शी, मनीन्द्र राय जैसे नेताओं से। फिर नए सिरे से राय-मशविरा शुरू हुआ।

इतना बढ़ आने के बाद क्या सब व्यर्थ हो जाएगा ?

श्रद्धेय हेमचन्द्र बोले—'तुम देश के नायक हो। देश और राष्ट्र तुमसे अनेकों आशाएँ रखता है। लेकिन यहाँ रहे तो जेल में सड़ने के अलावा और कुछ नहीं होगा।'

आत्मविश्वास जाग उठा सुभाष में—'हाँ, मैं जाऊँगा। मुझे जाना ही होगा। मैं इस मौके को हाथ से जाने नहीं दूँगा।'

'The cumulative effect of all these factors together with Sri Hem Chandra Ghosh's advice to Subhas in the Presidency jail (July 2, 1940) ultimately led Subhas Bose to take a firm decision to

leave the country and to work from outside for the cause of Indian Independence.' [Two Great Indian Revolutionaries : Uma Mukerji : p—161]

२८ अक्टूबर को जेल में रह कर ही केन्द्रीय न्याय सभा के सदस्य निर्वाचित हुए। बिना किसी प्रतिद्वन्द्विता के।

ठीक इसी के एक महीने बाद (२६ नवम्बर) लोगों ने नींद से जागते ही जो कुछ सुना उससे सन्नाटे में आ गए।

सुभाष ने मुक्त होने का दावा करते हुए आमरण अनशन प्रारम्भ किया है। इससे पहले अपने सिद्धान्त की बात उन्होंने बंगाल के गवर्नर और मन्त्रियों को बता दी थी।—'मेरी अन्तिम बात है, या तो मुक्ति नहीं तो मृत्यु'।

इसके अलावा देशवासियों के लिए एक मर्मस्पर्शी विज्ञप्ति प्रकाशित की—

'Forget not that the greatest curse for a man is to remain a slave. Forget not that the grossest crime is to compromise with injustice and wrong. Remember the eternal law—you must give life if you want to get it. And remember that the highest virtue is to battle against inequity, no matter what the cost may be.'

(भूलो मत कि दासता से बढ़ कर दूसरा अभिशाप कोई और नहीं। यह भी मत भूलो कि अन्याय और दुर्नीति से समझौता करने से बड़ा कोई अपराध नहीं। जीवन को पूर्णरूप से पाने के लिए जीवन देना पड़ता है। यह भी याद रखो कि हर क्षति के विरुद्ध लड़ते रहना है चाहे इसके लिए कितनी भी क़ीमत क्यों न चुकानी पड़े।)

५ दिसम्बर को उन्हें कुछ शर्तों के साथ छोड़ दिया गया।

अस्वस्थता के कारण लगभग उसी समय बी० वी० के प्रमुख नेता सत्य बख्शी को भी छोड़ा गया।

शासक सम्प्रदाय निश्चिन्त। मुक्ति मिली तो क्या हुआ? चारो तरफ सदा सतर्क पुलिस के सैनिक हैं। सादी पोशाक में गुप्तचरों की भी कोई कमी नहीं। इनकी नज़र से बच कर जाएँगे कहाँ?

फिर बात ही कितने दिन की है? २७ जनवरी को मोहम्मद अली पार्क में भाषण देने के लिए मुकदमा चलेगा। उसी दिन जा कर जेल में घुसना पड़ेगा।

इधर सुभाष ने नया जीवन शुरू किया। किसी से नहीं मिलेंगे। कोई बातचीत नहीं, कमरा बन्द करके धार्मिक ग्रंथों का पाठ, साधन भजन करेंगे। बस।

वही क़ैदियों का जीवन। पहले जेल में, अब अपने कमरे में।

समय बीतता गया। दिन रात में कोई अन्तर नहीं रह गया।

यह कौन से सुभाष हैं ?

मुँह पर दाढ़ी। आँखों के नीचे स्याही। आमूल परिवर्तन हो गया था उनमें।

कभी-कभी अतीत के जीर्ण पन्ने चिन्ता के घेरे के आसपास फड़फड़ाते। कितनी बातें याद आतीं कितने चेहरे याद आते। स्वाधीनता की वेदी पर चढ़े कितने शहीदों के चित्र दिखाई देते—अस्पष्ट पर अविस्मरणीय।

याद आये मृत्युन्जयी खुदीराम। उनकी बात।

'हँसते-हँसते पहनूँगा फांसी
देखेंगे भारतवासी।'

सचमुच भारतवासियों ने देखा था। देखा था उन्हें हँसते हुए। फाँसी के मंच पर चढ़ कर भी वे हँस रहे थे। इतना हँसते भारतवासियों ने इससे पहले किसी को देखा था क्या ?

हालांकि बंगाल के विप्लवियों में शहीद होने वाले खुदीराम पहले नहीं थे।

पहले शहीद थे प्रफुल्ल चक्रवर्ती। १६०७ साल में देवघर के पास रोहिणी पहाड़ पर, उल्लासकर दत्त द्वारा निर्मित बम का परीक्षण करते समय उनकी मृत्यु हुई थी।

दूसरे शहीद थे खुदीराम के साथी प्रफुल्ल चाकी। पुलिस सब-इन्स्पेक्टर नन्दलाल बनर्जी के हाथों पकड़े जाने की आशंका से उन्होंने मुकामाघाट स्टेशन पर आत्महत्या की थी।

खुदीराम थे तीसरे शहीद। फाँसी लग कर प्राण त्यागने वाले वे पहले शहीद थे।

१६०८ साल। ३० अप्रैल। बृहस्पतिवार। रात के ठीक आठ बजे थे।

यूरोपियन क्लब के बाहर अंधेरे में छिप कर खड़े थे खुदीराम और प्रफुल्ल चाकी। बेचैनी से प्रतीक्षा कर रहे थे। कब बाहर आएँगे दुष्ट जिला जज किंग्सफोर्ड ? आज ही उनका आखिरी दिन है। आज उसे विप्लवी बालक सुशील सेन को बेंत से मारने के दण्ड की सजा मिलनी ही है।

यह निकल रही है उसकी बग्घी क्लब के गेट से। अब ? अब तुम कहाँ भाग कर जाओगे किंग्सफोर्ड ?

भयंकर विस्फोट की आवाज से सारा मुजफ्फरपुर काँप उठा। क्या हुआ, कुछ समझ ही में नहीं आया। सिर्फ धुंआ ही धुंआ। धुँए से चारों तरफ अंधकार हो गया।

बहुत देर बाद पता चला, बग्घी किंग्सफोर्ड की नहीं, मिस्टर केनेडी की थी। मिसेज केनेडी और मिस केनेडी बग्घी में थीं और दोनों ही खत्म हो गई हैं। मिस केनेडी उसी रात, मिसेज केनेडी आठ घंटे बाद।

दूसरे दिन तड़के खुदीराम पकड़े गये, चौबीस मील दूर व्याफी रेल स्टेशन पर। और दूसरे दिन, २ मई को प्रफुल्ल चाकी ने आत्महत्या कर ली।

गिरफ्तार करके खुदीराम को मुजफ्फरपुर लाया गया। उन्हें देखने के लिए भीड़

टूट पड़ी। कहाँ है वह बहादुर लड़का ?

और खुदीराम ? उनका किस्सा उस समय के हर अखबार में निकला था—

'दृढ़ कदमों से खुदीराम हँसते हुए गाड़ी पर चढ़े। उनके एक तरफ पुलिस के सुपरिन्टेंडेन्ट और दूसरी तरफ एक पुलिस कर्मचारी बैठे। खुदीराम जोर-जोर से 'वन्दे-मातरम्' का नारा लगाने लगे—गाड़ी जल्दी से स्टेशन के बाहर चली गई। [संजीवनी : ७ मई १६०८]

यही बात सरकारी अखबार 'स्टेट्समैन' ने भी लिखी थी—

'He came out of a first class compartment and walked all the way to phaeton, kept for him outside, like a cheerful boy who had known no anxiety...on taking his seat the boy lustily cried Bande-mataram.' [The Statesman : 2. 5. 1908]

६ जून को एडीशनल सेशन जज मिस्टर कार्नडफ के इजलास में मुकदमा शुरू हुआ।

खुदीराम बेफिक्र। चेहरे पर वही हँसी...जो बराबर देखते आ रहे थे सब।

कितनी छोटी-छोटी सी, न भूलने वाली तस्वीरें। कितनी अविस्मरणीय घटना। फिर भी वही हँसी। जैसे उनके लिए सब कुछ हँसी की बात थी।

'तुमने गीता पढ़ी है ?'

'हाँ, पढ़ी है।'

'तुम्हारे मन में किसी तरह का डर है क्या ?' डर की बात सुन कर खुदीराम हँसने लगे। हँस कर ही जवाब दिया—'डरूँगा क्यों ?' [संजीवनी : १८ जून १६०८]

भारतीय दण्डविधान ३०२ धारा के अनुसार सीधे प्राणदण्ड का आदेश हुआ।

खुदीराम सुन कर वही हँसी हँसता रहा।

'मृत्यु-दण्डाज्ञा के बाद, खुदीराम को सम्पूर्णरूप से अविचलित और बेफिक्र देख कर विदेशी शासक के स्वजातीय जज साहब को शायद लगा कि कैदी अपने दण्ड की गम्भीरता को समझ नहीं पाया है। इस धारणा के वशीभूत हो कर फांसी के हुक्म के बाद जज ने खुदीराम से पूछा—'तुम्हें जो दण्ड दिया गया है उसे समझ गये हो न ?'

हँसते हुये खुदीराम ने सिर हिलाया—'समझ गया हूँ।'

[संजीवनी : १८ जून १६०८]

११ अगस्त—१६०८ साल।

खुदीराम को फांसी के मंच पर ले आया गया।

आश्चर्य की बात थी—वह उस वक्त भी हँस रहा था। उन्होंने भारतवासियों को दिखा दिया था कि हँसते हुये मृत्यु का वरण कर लेना क्या होता है। स्वर्णाक्षरों में उस दिन के अखबारों में यह बात लिखी हुई है—

'मुजफ्फरपुर, ११ अगस्त, आज प्रातःकाल छह बजे खुदीराम को फांसी दे दी गई है। खुदीराम दृढ़ कदमों से, खुशी-खुशी फांसी के मंच की ओर बढ़े। यहाँ तक कि जब उनके सिर पर टोपी डाल दी गई, तब भी वे हँस रहे थे।'

[अमृतबाजार पत्रिका : १२ अगस्त १९०८]

खुदीराम चले गये पर यह मृत्यु, मृत्यु नहीं। यह तो हुआ जीवन के आदर्श के लिए आत्मोत्सर्ग। जिनका एकमात्र लक्ष्य ही मनुष्य का कल्याण करना—उनका जीवन ऐसे ही उत्सर्ग होता है। इसीलिए मर कर भी वे अमर हैं। जीवित हैं कविता, कहानी, साहित्य, संगीत और इतिहास के पृष्ठों में।

खुदीराम के बाद नम्बर आया कनाई लाल दत्त और सत्तेन बोस का।

मुजफ्फरपुर की घटना को केन्द्रबिन्दु मान कर तब तक सम्पूर्ण बंगाल में एक तूफान सा आया था।

अरविन्द घोष, बारीन घोष, उल्लासकर दत्त, उपेन बन्धोपाध्याय, हेमदास, नरेन गुसाईं, सत्तेन बोस, कनाई लाल दत्त जैसे और भी अनेक लोगों को एक के बाद एक कैद किया गया था। शुरू हुआ इतिहास प्रसिद्ध मानिकतला का मुकद्दमा।

कैदी गण निश्चिन्त। बातों, गानों और हँसी-खुशी में मस्त। मानो कोई एक बड़ा सा कुटुम्ब हो।

विश्वास-घातकता की नरेन गोसाई ने। सारी गुप्त बातें उसने पुलिस को बता दीं।

कनाई और सत्तेन गरज उठे। विश्वासघाती को क्षमा नहीं करेंगे। इसका जवाब हम देंगे ही। जेल में कैद रह कर हम प्रमाणित कर देंगे कि हमारे लिए असाध्य कुछ नहीं।

प्लॉन के मुताबिक अन्दर दो-दो रिवाल्वर आ गए। लेकिन नरेन का पता नहीं। पुलिस ने सावधानी से उसे हटा दिया, एक अस्पताल के यूरोपियन वार्ड में। उसके पास चौकस सिपाही हिग्गिस था और एक अंग्रेज वार्डर। ऐसी दशा में वह हाथ कैसे आये?

उन दिनों सत्तेन दमे की बीमारी की वजह से साधारण अस्पताल में भर्ती था। उसने पुलिस से कहा कि मैं भी सरकारी गवाह बनना चाहता हूँ। तुम लोग नरेन को मेरे पास ले आओ, हम सलाह मशविरा करेंगे।

पुलिस तो खुश हो गई। ये हुई न बात? यही तो हम भी चाहते हैं। ठीक है, कल सुबह तड़के ही नरेन को तुम्हारे पास ले आयेंगे।

तुरन्त कनाई लाल भी बीमारी के बहाने आकर अस्पताल में भर्ती हुए। आने दो कल नरेन को, देखा जाएगा।

१ सितम्बर १९०८ साल।

यथा समय नरेन को सत्तेन के पास ले आया गया। साथ सिपाही हिग्गिस और एक वार्डर।

सत्तेन का एक हाथ कमीज़ की जेब में था। बात करते-करते ही जेब से ही रिवाल्वर चला दिया उन्होंने। जाँघ पकड़ कर नरेन तीर की तरह निकल भागा। गोली चलाने का दूसरा मौका नहीं मिला।

उधर गोली चलने की आवाज़ सुनते ही कनाई नीचे से दुमंजिले पर दौड़ आए। वह लँगड़ाता हुआ भाग रहा है नरेन। आज तो इसे छोड़ना ही नहीं है।

वे दौड़ कर नरेन के पीछे गये और उसके बाद ही उनके हाथ की रिवाल्वर गरज उठी—धाँय ! धाँय ! धाँय !

गोली लगने से नरेन स्नानागार के पास की नाली में जा गिरे, पर कनाई ने उसे छोड़ा नहीं। रिवाल्वर की सारी गोलियाँ उस पर चला कर ही माने।

अलीपुर के फौजदारी के जज मिस्टर एफ० आर० रो के इजलास में नया मुदकमा शुरू हुआ। अपराध था सरकारी गवाह नरेन गोसाईं की हत्या।

जज मिस्टर रो ने पूछा—'रिवाल्वर किसने दिया था ?'

'किसने दिया था ?' कनाई लाल बोले—'दिया था खुदीराम की आत्मा ने।'

'सरकारी खर्चे पर वकील करना चाहोगे ?'

'धन्यवाद।' फिर हँस कर कनाई लाल बोले—'नहीं उसकी कोई जरूरत नहीं है।'

प्राणदण्ड दिया गया। हाईकोर्ट से भी यह सजा बरकरार रही।

१० नवम्बर १६०८ साल।

उस समय रात का अँधेरा साफ नहीं हुआ था।

आ पहुँचे पुलिस कमिश्नर हैलिडे, डिस्ट्रिक्ट मैजिस्ट्रेट मिस्टर बेम्पॉस, जेलर-सुपर एमर्सन और अन्य छोटे-बड़े अधिकारी।

आज कनाई का अन्तिम दिन था। पृथ्वी छोड़ कर जाने का समय आ गया था। वे लेकिन बेफिक्र....खुश। फाँसी के मंच पर खड़ा करके पूछा गया—'तुम्हें कुछ कहना है ?'

'नहीं, धन्यवाद।' कनाई ने निश्चिन्त होकर कहा।

कनाई चले गये—वीरों की तरह। गेट के बाहर अगणित मनुष्य खड़े थे। सिर्फ एक बार इस वीर को देखना चाहते थे। धन्य होना चाहते थे।

शव बाहर आते ही शंखध्वनि होने लगी।

२१ नवम्बर को भी यही दृश्य दोहराया गया। प्रातःकाल ५ बजे सत्तेन आकर फाँसी के तख्ते पर खड़े हुए।

परन्तु इस बार शासकों ने अपनी गलती दोहराई नहीं। उनका अन्तिम संस्कार अलीपुर जेल के अन्दर ही सम्पन्न हुआ।

प्रफुल्ल, खुदीराम, कनाई, सत्तेन चले गए। बचे अरविन्द घोष, बारीन घोष, उल्लासकर दत्त और उपेन बन्धोपाध्याय जैसे मुख्य बन्दीगण। इन्हें अपराधी मान कर मुकद्दमा चलता रहा, एडीशनल जज मिस्टर बिचक्राफ्ट की अदालत में।

१९०९ की ६ मई को मुकदमें का फैसला हुआ। बारीन घोष और उल्लासकर दत्त को मृत्युदण्ड। उपेन बन्धोपाध्याय, हेमदास, विभूति सरकार, वीरेन्द्र सेन, सुधीर सरकार, इन्द्रनाथ नन्दी, अविनाश भट्टाचार्य, शैलेन्द्रनाथ वसु, ऋषिकेश कांजीलाल, इन्दुभूषण राय को आजीवन कैद।

परेश मौलिक, निरापद राय और शिशिर घोष को दस साल का कारावास। अशोक नन्दी, बालकृष्ण हरिकाना और शिशिर सेन को सात साल तथा कृष्ण जीवन सान्याल को एक साल की कैद। बाकी सभी छोड़ दिए गए।

अरविन्द भी मुक्त हुए, परन्तु यह वह अरविन्द नहीं। विप्लवी गुरु अरविन्द की जगह पर एक ज्योतिर्मय पुरुष प्रकट हुए—नाम 'ऋषि अरविन्द' था।

देशबन्धु उस दिन अरविन्द के पक्ष से पैरवी करते समय उत्तेजित हो उठे थे—

'My appeal to you, therefore is that a man like this who is being charged with the offence with which he has been charged, stands not only before the bar in this court but stands before the bar of the High Court of history and my appeal to you is this—that long after the controversy will be hushed in silence, long after this turmoil, the agitation will have ceased, long after he is dead and gone, he will be looked upon as the poet of patriotism, as the prophet of nationalism and lover of humanity....'

देशबन्धु की भविष्यवाणी व्यर्थ नहीं गई। आज भी विप्लवी गुरु अरविन्द लाखों करोड़ों लोगों के लिए ऋषि अरविन्द हैं।

अपील के फलस्वरूप बारीन घोष और उल्लासकर दत्त की मृत्युदण्ड की सजा, आजीवन कारावास में बदल दी गई। हेम दास और उपेन बन्धोपाध्याय को भी वही सजा रही। दूसरे आजीवन कैद वालों को दस साल की सजा देने के बाद बालकृष्ण हरिकाने, इन्दुनाथ नन्दी, सुशील सेन व कृष्णजीवन सान्याल को छोड़ दिया गया।

परन्तु यही अन्त नहीं हुआ। १९०९ की १० अप्रैल को बम के मामले के सरकारी वकील आशुतोष विश्वास मारे गए पुलिस की सुब्रार्वन अदालत में। आततायी चारु बोस वहीं पकड़े गए। आश्चर्य! अपराधी का दाहिना हाथ तो बिल्कुल पंगु है। इसीलिए उन्होंने रिवाल्वर को अपने दाहिने हाथ के तलुए से कस कर बाँध रखा था। फिर जो कुछ करना था बाएँ हाथ से किया।

अदालत में उनसे पूछा गया कि सरकारी खर्च पर वकील रखोगे। उत्तर सुन कर चकित रह गए जिला मजिस्ट्रेट मिस्टर थॉम्पास।

'नहीं, मुझे कुछ नहीं चाहिए। सेशन-वेशन की भी कोई जरूरत नहीं है। फैसला करके मुझे कल ही फाँसी से लटका दो। यह तय था कि आशु बाबू मेरी गोली से मरेंगे और मुझे फाँसी होगी।'

'No sessions trial but hang me tomorrow. It was all pre-ord-

ained that Ashu Babu shall be shot by me and I shall be hanged.'

यही किया गया। कुछ ही दिनों में उन्हें फाँसी हो गई।

अब आगे आए वीरेन दत्त गुप्ता।

२४ जनवरी १९१० साल।

स्थान---कलकत्ता हाईकोर्ट। जज हैरिंगटन की अदालत से निकल कर सीढ़ी से उतर रहे थे बम के मामले के गुप्तचर विभाग के प्रमुख समसुल आलम। दो-चार सीढ़ियां ही बाकी थीं कि---

धांय! धांय! धांय।

शमसुल आलम लाश हो गए।

वीरेन दासगुप्ता को सीधे प्राणदण्ड मिला। फांसी हुई २१ फरवरी को।

१९१५ साल। प्रथम विश्वयुद्ध के नाम पर गदर पार्टी, रासबिहारी बोस और जतीन मुखर्जी (बाघा जतीन) के प्रयासों के फलस्वरूप शुरू हुआ अग्नियुग का दूसरा अध्याय।

कुछ न हो सका तो रासबिहारी बोस जापान चले गए। और बाघा जतीन?

१९१५ साल की ९ सितम्बर को जर्मनी द्वारा भेजे गए अस्त्रों के जहाज को छुड़ाने में घमासान युद्ध करना पड़ा। यह युद्ध उड़ीसा के बूढ़ीबालम के किनारे हुआ। एक तरफ डेन्हाम, टेगार्ट, किलवर्न के साथ साम्राज्यवादी शक्ति, दूसरी तरफ विप्लवी जतीन मुखर्जी और उनके चार साथी चित्तप्रिय राय चौधरी, नीरेन दास गुप्ता, मनोरंजन सेनगुप्ता और जोतिष पाल।

इस लड़ाई में चित्तप्रिय रायचौधरी मारे गए। घायल बाघा जतीन ने दूसरे दिन अस्पताल में प्राण त्याग दिए। नरेन और मनोरंजन को फांसी हो गई।

बचे जोतिष पाल को आजीवन कारावास हुआ, परन्तु वे पागल हो गए और इसी में उनकी मृत्यु हुई।

१९१८ की १५ जून को पुलिस से लड़ते हुए नलिन बागची और तारिणी मजुमदार, ढाका के फाल्ता बाजार में मारे गए। प्राण भले ही चले जाएँ पर आत्म-समर्पण नहीं करना है। पुलिस ने कितना हाथ-पांव जोड़ा---नाम बता दो, कौन हो तुम, क्या परिचय है, परन्तु नलिन की ज़ुबान पर बस एक ही बात थी—

'Let me die peacefully.' मुझे शान्ति से मरने दो।

१९२४ की १ ली मार्च को फांसी हुई गोपीनाथ साहा को। मारना चाहते थे पुलिस कमिश्नर चार्ल्स टेगार्ट को, पर गलती से मार आए अर्नेस्ट डे को।

सुभाष इस दिन को नहीं भूले हैं। मृत्युन्जयी गोपीनाथ की शव-देह को लेने स्वयं गए थे। परन्तु उन लोगों ने दिया नहीं। फांसी के बाद श्वेताङ्ग सार्जेन्ट ने गोपीनाथ की निर्भीकता की बात इन शब्दों में कही थी---

'He played like fawn
And at the dawn
was slain on the lawn.'

१६२६ की ६ अगस्त को फिर फाँसी का रस्सा भींग उठा शहीदों के खून से। इस बार शहीद हुए प्रमोद चौधरी और अनन्तहरि मित्र।

अलीपुर जेल के भीतर ही इन लोगों ने आई० बी० विभाग के मालिक भूपेन चटर्जी को जिस तरह मारा, उसकी तुलना नहीं होती है। रिवाल्वर नहीं था। था गड्ढा खोदने का लोहे का छड़। उसी से मार एक रायबहादुर चटर्जी को ठंडा कर दिया।

१६३० की १८ अप्रैल से तीसरा अध्याय शुरू हुआ। शुरुआत हुई चट्टगाँव के युवा विद्रोह की। उसके बाद यहाँ-वहाँ छुटपुट। खून से नित नया इतिहास लिखा जाने लगा।

यह दासता हमेशा नहीं रहेगी। भारत स्वाधीन होकर रहेगा। उस दिन क्या भारतवासी उन्हें याद नहीं करेंगे? उनकी याद में सिर श्रद्धा से नहीं झुकाएंगे? या उन्हें अकृतज्ञ कहेंगे?

सोचते-सोचते न जाने कितना समय बीत गया। सुभाष की चिन्ताधारा ने दूसरा मोड़ लिया।

देशबन्धु की बात याद आई। १६२४ में जब उन्हें गिरफ्तार किया गया था तब विरोध करते हुये वे बोले थे—

'If love of country is crime. I am a criminal. If Mr. Subhas Chandra Bose is a criminal, I am a criminal, not only the Chief Executive Officer of the Corporation, but the Mayor of this Corporation is equally guilty.'

देशबन्धु!

सच है। देश को कौन नहीं चाहता है? कौन उसकी मंगल-कामना नहीं करता है? देश के लिए सर्वस्व त्याग कर कौन देशबन्धु बन सका है?

शान्त, निस्तब्ध रात। चारों ओर सन्नाटा था। सारा संसार सो गया है। सिर्फ नींद नहीं थी तो सुभाष की आँखों में। हजारों तरह की चिन्ताएँ सता रही थीं।

प्रथम विश्वयुद्ध के समय प्रयास व्यर्थ हुआ था। इस बार भी क्या वही होगा? ऐसा मौका क्या हाथों से निकल जाने दिया जाये?

अचानक उनके सामने एक संन्यासी की तस्वीर उभरी। कहीं से उनकी अमृत-वाणी कानों में गूँजने लगी—

'बाद में क्या होगा—जो यह सोचता है उससे कोई काम नहीं हो सकता है। जिसे सच समझते हो, उसे अभी करो। बाद में क्या होगा यह सोचने की जरूरत क्या है? इतनी सी तो जिन्दगी है, उसमें भी अगर नतीजे की बात सोची जाये तो काम क्या होगा? फल तो वह (ईश्वर) देगा—तुम क्यों परेशान होते हो? तुम उधर देखे बगैर अपना काम करते रहो।

—जो डरपोक होते हैं, वे ही समुद्र की लहरें देख कर नाव डुबो देते है। जो महावीर होते हैं वे कहीं कुछ देखते हैं?'

एक अद्‌भुत अनुभूति से सुभाष का मन जगमगा उठा। यही होगा स्वामीजी, यही होगा। तुम्हारी इच्छा ही पूरी होगी। आशीर्वाद करो, मैं इस कार्यभार को जीवन के अन्तिम क्षण तक उठा सकूँ। तुम मुझे शक्ति दो।

२६ जनवरी १९४१ साल।

जिस समय भारतवासी स्वाधीनता की मांग कर रहे थे, पता चला सुभाष का कहीं पता नहीं। सभी जगह ढूँढ़ा जा चुका है पर उनका कहीं पता नहीं चल रहा है। किसी को कुछ बताया नहीं है। कब, किस तरह गृह-त्याग किया है, यह कोई नहीं जानता है।

सारा भारत विस्मय से दंग रह गया। जिनका लक्ष्य स्वाधीनता पाना है वही स्वाधीनता दिवस पर गायब हो गये? लेकिन क्यों? सुभाष गये कहाँ?

इस खबर से सबसे ज्यादा विचलित हुए कविगुरु रवीन्द्रनाथ। अभी कुछ दिनों पहले जिसे उन्होंने बड़े प्यार से देश के नेता के रूप में स्वीकारा था वही सुभाष आज लापता है? यह तो बड़े दुःख की बात है।

तुरन्त उन्होंने मँझले भाई शरत बोस को तार किया—'Deeply concerned over Subhas's disappearance. Convey to mother my sympathy. Kindly keep me informed of news.'

शरत बाबू क्या कहे? कहने को था ही क्या?

विशाल बसु परिवार में यही एक व्यक्ति थे जो शुरू से सुभाष के इस दुःसाहसपूर्ण कार्य का समर्थन कर रहे थे। लेकिन यह बात कहें कैसे? सुबि उनके बड़े प्रिय हैं। बड़े गर्व के। इसीलिए एक बड़े स्वार्थ का ध्यान रख कर दूसरी बात कहने को बाध्य हुए—'Mother and we profoundly touched by message. No news of Subhas yet despite utmost efforts last few days. Hope he will have your blessings where ever he may be.'

'सुभाष जहाँ कहीं भी क्यों न रहें, आशा करता हूँ आप का आशीर्वाद उसके ऊपर सदा रहेगा।'

शरत बाबू की अन्तिम लाइन से क्या कुछ इशारा नहीं मिलता है, मल्लिका?

गांधीजी ने भी तार भेजा—'Startling news about Subhas. Please wire truth. Anxious. Hope all well—Bapu.'

उत्तर भेजा शरत बाबू ने—

'We as much in dark as public about Subhas's whereabouts and intention and even the exact time of leaving. No news in spite of best efforts for last three days. Circumstances indicate renunciation.'

तार आया बाबू राजेन्द्र प्रसाद का—'Great anxiety about Subhas Babu. Please wire latest information.'

शरत बाबू ने छोटा सा उत्तर भेजा—'No news.'

अब शुरू हुई हर तरह की आलोचनायें। लोग अटकलें लगाने लगे। साधु-संग के लिए सुभाष का गृह-त्याग करना स्वाभाविक है।

'ऐसा ही हुआ होगा।' समर्थन करते हुए फारवर्ड ब्लॉक के एक्टिंग प्रेसीडेंट सरदार शर्दूल सिंह कविश्वर बोले। 'जरूर सुभाष ने साधु-संग के लिए ही घर छोड़ा है। कुछ दिनों पहले ऐसा ही कुछ मुझसे कहा था।'

अंग्रेज शेर कहाँ चुप बैठ सकता है? चारो तरफ टेलीफोन द्वारा चौकस रहने को कहा गया। ईस्टर्न फ्रन्टियर राइफेल्स, सूर्माबैली लाइट हॉर्स राइफेल्स—सरकार का प्रथम श्रेणी का शत्रु सुभाष भागा है। हर तरफ कड़ी नजर रखो। किसी हालत में बार्डर पार न कर सकें। एक-एक पासपोर्ट की नये सिरे से जाँच की जाये। किसी तरह का शक होते ही रोक लो।'

'हर विदेशी जहाज की तलाशी लो। हर नाव पर निगरानी रखो। किसी भी तरह से सुभाष को पकड़ना होगा।'

मल्लिका, तुमने देखा, सारी तत्परता दक्षिण-पूर्व एशिया की तरफ थी। क्योंकि उन्होंने अफवाहें सुन रखी थीं। सुनने में आया था कि दमदम एयरपोर्ट से, कल एक रहस्यमय व्यक्ति को जापानी हवाई जहाज पर चढ़ते देखा गया था। वह आदमी और कोई नहीं सुभाष थे।

बड़े कौशल से इस अफवाह को फैलाया गया था। उद्देश्य था कि पुलिस को भारत की पूर्वी सीमा पर व्यस्त बनाये रखना। अफवाह सफल हुई, इसमें कोई शक नहीं। अंग्रेज सरकार उस दिन सोच ही नहीं सकी कि उनके परम शत्रु सुभाष का लक्ष्य पूर्वी नहीं पश्चिमी सीमा है।

इधर सब से नजर बचा कर बी० बी० के नेता सत्य बख्शी बड़ी उत्कण्ठा लिए बैठे थे। न जाने अन्त तक क्या होगा? उन्हें लग रहा था कि उनका दम घुटा जा रहा है।

वास्तव में सुभाष अन्तर्ध्यान हुये थे १७ जनवरी की रात को। १ बज कर १५ मिनट पर। लेकिन बताया आज गया है। बताना पड़ा क्योंकि कल यानी २७ जनवरी को सुभाष के मुकदमें की तारीख थी।

इधर नौ दिन बीत चुके थे फिर भी सुभाष बॉर्डर पार कर उधर जा नहीं सके थे। कहाँ, किस हाल में सुभाष हैं—सब कुछ उन्हें पता था। सीमाप्रान्त के फारवर्ड ब्लॉक के नेता अकबर शाह ने पूरी रिपोर्ट भेज दी थी।

इस समय सुभाष पेशावर में थे। आज ही उन्हें भक्तराम के साथ दुरूह रास्ते पर चल पड़ना है। हालांकि जाना और भी पहले था, पर कुछ दिन पेशावर रुकना पड़ गया क्योंकि पंजाब की कीर्ति किसान पार्टी का नया प्रोग्राम आडे आ गया।

अब तय हुआ है कि पहले से ठीक किये गये रास्ते से न जाकर दूसरे रास्ते से जाना पड़ेगा। यह रास्ता बहुत अधिक खतरनाक और भयंकर था। यहाँ डर ज्यादा था, लेकिन क्या किया जाए? खजुरी मैदान से होते हुये अफ्रीदी इलाका गिनबरी पार करने पर दूरी कम हो जाती है। इसीलिये यह रिस्क लेना पड़ा।

सुभाष समतल भूमि के उतार चढ़ाव से परिचित थे। इस रास्ते की भयंकरता का उन्हें कोई ज्ञान नहीं था। इस हालत में क्या इतनी कठिनाई झेल कर वे जा सकेंगे?

नाना प्रकार की चिन्ता होने लगी। चिन्ता के कारण थे सुभाष। सुभाष अस्वस्थ थे। वे किस हद तक अस्वस्थ थे, इस बात को सत्य बख्शी से ज्यादा और कौन जानेगा?

जनवरी के महीने में उत्तर-पश्चिम सीमा में कितना ज़बरदस्त जाड़ा पड़ता है, इसकी कल्पना तक इन्सान नहीं कर सकता है।

क़ायदे का गरम कपड़ा भी उनके साथ नहीं। लेकर जा नहीं सकते थे, क्योंकि वे एक मामूली पठान बन कर जा रहे थे। कोट या ओवरकोट पहन नहीं सकते थे। उपयुक्त कपड़े के बगैर बीमार सुभाष कैसे यह जाड़ा सहन कर सकेंगे।

लेकिन क्या कोई सुभाष को उनके लक्ष्य से विमुख कर सका है? कोई बाधा ऐसी है क्या जिसे उन्होंने अपने रास्ते की रुकावट बनने दी हो? नहीं—नहीं। सुभाष तो वह सूर्य है जो हरदम चमकता ही रहता है।

उस वक्त तक सारा देश यही सोच रहा था कि सुभाष इस तरह से कहाँ चले गए?

यह रास्ता खतरों और कठिनाइयों से भरा है, सुभाष ने क्यों यह रास्ता चुना? क्या आवश्यकता थी? इस विशाल भारतवर्ष में नेता की क्या कमी है? लेकिन उनमें से और कोई तो इस मुसीबत के सामने नहीं कूदा? सारी जिम्मेदारी क्या इन्हीं की है?

इन प्रश्नों का उत्तर पाने के लिये हमें सुभाष को पहचानना पड़ेगा, मल्लिका! उनके इस दृढ़चरित्र के पीछे हाथ किसका है? अपने रास्ते के साथी के रूप में इन्हें किन लोगों का साथ मिला था? किनके बीच आप बड़े हुए? किस परिवेश में?

इसके बारे में श्रद्धेय भूपेन्द्र किशोर रक्षित राय ने क्या कहा है सुनो—

'सुभाष की सृष्टि अचानक नहीं हुई थी।....सुभाषचन्द्र के प्राणों के गुरु थे विवेकानन्द। उनके कर्मगुरु थे देशबन्धु चित्तरंजन दास। उनके विप्लव गुरु थे श्री अरविन्द और उनके मित्र और साथी थे विप्लवी दल। उन्हें देश का नेता बनाया था दूरदर्शी ऋषि कवि रवीन्द्रनाथ ने। उनका शैशव कैशोर्य और यौवन इस जलधारा में नहाया था। वे महान् थे।'

ये थे सुभाष। इनको रोक रखना क्या आसान बात थी ? माँ का स्नेहसिक्त आँचल क्या उन्हें बाँध सका था ?

विप्लवी का धर्म होता है बढ़ते चलना। क्या पाया, क्या खोया, का लेखा-जोखा करने का समय कहाँ ? वह सब बातें अच्छे लड़कों के लिए होती हैं—सुभाष अच्छे लड़के कब थे ?

सुभाष ने जीवन में असम्भव को सम्भव बनाने का बीड़ा उठाया था। उनमें थी दृढ़ता।

इस बार भी उसमें कोई अन्तर नहीं आया। पेशावर से चल कर, खतरनाक और कष्टकर कठिन रास्ता तय करते हुए पहाड़ों को लाँघ कर वे काबुल पहुँच गये।

उसके बाद लगभग डेढ़ महीने से अधिक समय तक वहाँ रेडियो व्यवसायी उत्तमचन्द्र के यहाँ रहे।

१८ मार्च को सपना पूरा हुआ। इटैलियन राष्ट्रदूत एल्बर्ट कौरानी की मदद से वे युद्धरत यूरोप के लिए रवाना हुए।

सुभाष लिखित अमूल्य निबन्ध, इस्तहार और चिट्ठियाँ लेकर भक्तराम दूसरे ही दिन हिन्दुस्तान लौट आए।

आते ही लाहौर गए। फारवर्ड ब्लॉक के एक्टिंग प्रेसीडेन्ट सरदार शर्दुल सिंह कविश्वर इन दिनों वहीं थे। बोस बाबू की चिट्ठियाँ उन्हें देनी थीं।

२८ मार्च को लाहौर से कलकत्ते। यहाँ मँझले भाई शरत बाबू को दोनों निबन्ध सौंपने थे। भक्तराम के मुँह से सारी बातें सुन कर खुशी से शरत बाबू गद्-गद हो उठे।

आधी पृथ्वी के मालिक अंग्रेजों की आँखों में धूल झोंक कर उनका सुवि आज अपनी मंजिल तक पहुँचने में सफल हो गया है। अब असली युद्ध शुरू होगा। वह दिन पास आ गया है।

सुभाष के लिखे निबन्ध अखबारों में पढ़े होंगे तुमने, मल्लिका। यहाँ उसे संक्षेप में लिख रहा हूँ—

....यूरोप में युद्ध शुरू होते ही गांधी जी ने बिना शर्त अंग्रेजों को सहयोग देने के लिये एक विज्ञप्ति प्रकाशित की थी। ग्यारह साल से कांग्रेस जो कुछ कहती आ रही थी उसे आराम से भुला दिया गया।

गांधी जी के काम से यह प्रकट हो गया है कि राष्ट्र के नेता बनने की योग्यता उनमें नहीं है। गांधी आन्दोलन क्रमशः अपनी गतिशक्ति खोता जा रहा है और संरक्षणशील हो गया है।

मन्त्रिमण्डल में घुसते ही गांधीवादियों को क्षमता का स्वाद मिला है। अब वे भविष्य में यह अधिकार बना रहे इसके लिये व्यग्र हो रहे हैं। वर्तमान काल में कांग्रेस

में जो कुछ हो रहा है उसे 'पॉवर पॉलिटिक्स' के अलावा और कुछ कहा नहीं जायेगा। इसका मुख्य-केन्द्र है—वर्धा।

इनका प्रधान लक्ष्य है कांग्रेस के समस्त विरोधी मनोभावों का दमन करना, जिससे हमेशा के लिये यह अधिकार बने रहें....

शरत बाबू के निर्देशानुसार अब भक्तराम मिलें सत्य बख्शी से। उसके बाद उन्हें सारी बातें बताएँ।

बोस बाबू ने तुरन्त एक विश्वासी आदमी भेजने के लिये कहा है, जो वहाँ जाकर इटैलियन एम्बैसी की सहायता से ध्वसात्मक अस्त्र-अस्त्रों की शिक्षा लेगा। यह आने वाले युद्ध की तैयारी के लिये करना होगा।

२१ अप्रैल को भक्तराम फिर पेशावर से काबुल के लिये चल पड़े। उनके साथ थे शान्तिमय गांगुली—बी० वी० के विश्वासी सदस्य। ध्वसात्मक कार्यों की ट्रेनिंग लेने के अलावा बोस बाबू और भारत के बीच सम्पर्क बनाए रखने के लिये इटैलियन एम्बैसी से जुड़े रहने की जरूरत थी।

काबुल पहुँचते ही भक्तराम ने उत्तमचन्द से भेंट की। यह वही उत्तमचन्द है जिन्होंने हजारों तरह की मुसीबतें सिर पर झेलने के बाद भी सुभाष को डेढ़ महीने तक अपने घर में रखा। उत्तमचन्द ने शुभ समाचार प्रदान किया—२८ मार्च को बोस बाबू निर्विघ्न बर्लिन पहुँच गये हैं। वहाँ से आई मासिक पत्रिकाओं और दैनिक समाचार पत्रों से यही प्रमाणित होता है। इसके अलावा मित्र हाजी साहब के पते पर उनकी चिट्ठी भी आई है।

भक्तराम इटैलियन राजदूत अल्बर्ट कोरानी से भी मिले।

यह खबर तुरन्त सुभाष को दी गई—'कलकत्ते से आदमी आ गया है—अगला आदेश दीजिये।'

आदेश आया २० मई को।

—'आज भी मेरे साथ इनका राजनैतिक समझौता नहीं हुआ है। यद्यपि बिना किसी शर्त के ये लोग मुझे हर तरह की मदद करने को तैयार है, लेकिन मैं इसके लिये तैयार नहीं हूँ।

सबसे पहले ये लोग स्पष्ट रूप से भारत की स्वाधीनता की बात घोषित करें। स्वाधीन भारत का संविधान भारतीय जनता ही निश्चित करेगी....आशा करता हूँ कि इस बात की स्वीकृति मुझे कुछ ही दिनों में मिल जायेगी।

काबुल से पेशावर और पेशावर से कलकत्ता के बीच सम्पर्क स्थापित करने की व्यवस्था अविलम्ब की जाए।

और कलकत्ते से जो सब मित्र आवश्यकता पड़ने पर काबुल आएँगे, उनके आश्रय और सुरक्षा पर कठोर दृष्टि रखने की जरूरत है।

कलकत्ते के मित्रों के लिये मैं कहूँगा कि वे गोरखा सैनिकों के मध्य प्रचार कार्य करने के लिये कुछ विश्वासी लोगों को नेपाल भेजने की व्यवस्था करें।

कुछ तरुणों को अविलम्ब सेना में भर्ती होना पड़ेगा। उनका काम होगा सैनिकों के मन में देश-प्रेम की भावना जागृत करना तथा सैनिकों के गुप्त तथ्यों इकट्ठा करना।

बर्मा के विप्लवियों से सम्पर्क स्थापित करने के लिये वहाँ भी कुछ लोगों को भेजना आवश्यक है....'

कलकत्ते के मित्रों ने अपने उत्तरदायित्व का पालन किया था क्या ? अवश्य। न केवल बर्मा देश के विप्लवियों के साथ मिल कर बल्कि उस भंयकर युद्ध के बीच मृत्युभय को तुच्छ कर, बर्मा पहुंचे पैदल चल कर और सशरीर जा पहुँचे सुभाष के सामने। उस समय सुभाष सुभाष नहीं, बल्कि विश्व के लिए आश्चर्य की वस्तु थे। विश्व भर के नेता जी थे।

इधर बी० वी के प्रमुख नेता सत्य बख्शी अत्यन्त व्यस्त थे। व्यस्तता का कारण था। सुभाष ने जो इश्तेहार भेजा था उस पर लिखा था 'message to my country-men. उसके नीचे बस इतना ही लिखा था 'From somewhere in Europe.'

सुभाष के कहे मुताबिक उसकी हजारों-हजारों प्रतियाँ बँट गई थीं। हर जगह। अखबारों, विभिन्न दूतावासों में, एक-एक सरकारी, गैरसरकारी दफ्तरों में—कोई जगह छूटी नहीं। यहाँ तक कि डाक द्वारा नगर के प्रमुख नागरिकों के घर भी भेज दिये गये।

इस मामले में अमलेन्दु घोष (मुकुल), निर्मल राय, कमला दासगुप्ता, जैसे दल के लोगों की भूमिका उल्लेखनीय है। उन्होंने कोई कमी नहीं रखी थी।

उस समय हेमचन्द्र घोष, भूपेन्द्र किशोर रक्षित राय, मेजर सत्य गुप्त, रसमय सूर, निकुंज सेन, भुपति राय जैसे अन्य नेतागण जेल में थे।

भरोसा था तो सिर्फ जतीश गुहा, विनय सेनगुप्ता, कामाक्षा राय, कँमेट दास-गुप्ता का—जो जेल के बाहर थे। इसके अलावा थे कुछ तरुण कार्यकर्त्ता। पुलिस की नज़र बचा कर इतनी खूबी से वे अपना काम करते चल रहे थे कि देखे बगैर विश्वास नहीं किया जा सकता है।

अब सबसे पहले जरूरत थी सुभाष से सम्पर्क बनाये रखने के लिये एक गुप्त बेतार केन्द्र स्थापित करने की। इस काम के लिये एक दक्ष और विश्वस्त टेक्निीशियन चाहिए। ऐसा आदमी, जो बुलाते ही सब छोड़छाड़ कर आ जाए। पर ऐसा मिलेगा कहाँ ?

दल के सदस्य सत्यव्रत मजुमदार इस जिम्मेदारी को उठाने के लिए तैयार थे। वे यादवपुर कॉलेज के इलेक्ट्रिकल इंजीनियरिंग के छात्र थे। फाइनल इयर था। परीक्षा शुरू होने वाली थी। फिर भी वे सम्पूर्ण भारत के हित के लिए परीक्षा छोड़ने को तैयार थे।

ऐसे ही नाना प्रकार के कामों में लगे थे धीरेन्द्र साहाराय, सुबोध चक्रवर्ती, रातुल राय चौधरी, जगदीन्द्र सेन, नीरेन राय जैसे बी० वी० के तरुण। पुलिस की सक्रियता के कारण यह कहना मुश्किल था कि कितने दिन तक बाहर रह सकेंगे। हिंसक भेड़िए की तरह पुलिस सबको ढूंढती फिर रही थी। वे इस अन्तर्ध्यान होने का कारण

ढूंढ़ कर ही रहेंगे। लाख कोशिश करने पर भी वह अभी तक कुछ पता नहीं कर सकी थी। फिर भी सावधान रहना ठीक होता है।

न केवल पुलिस, जनसाधारण भी उसी अंधेरे में था। यही सवाल उनके दिमाग में भी घूम रहा था।

सुभाष, सब कुछ छोड़-छाड़ कर चले कहाँ गए? महीनों बीत चुके हैं, अभी तक उनका कोई पता नहीं। तो क्या सचमुच ही वे हिमाचल की गुफा में सन्यासी बन कर तपस्या करने चले गए हैं? या जापान गए हैं, उसी रहस्यमय हवाई जहाज से?

सरकार बिल्कुल चुप मार गई थी। इतनी चौकसी, नाकेबन्दी के बाद भी एक आदमी आँखों में धूल झोंक कर हाथ से निकल जाए तो सरकार कहे क्या? उसकी तो इज्जत मिट्टी में मिल गई। सरकार इस बात को अपने मुँह से कबूले कैसे? लेकिन इतनी बड़ी हार वह क्या मुँह बन्द करके मान ले?

सुभाष को न पाकर उनका गुस्सा उतरा एलगिन रोड वाले घर पर। सुभाष न सही, उनका घर तो है। उस समय के एक अखबार की खबर के मुताबिक।

—'भारत रक्षा विधान के अन्तर्गत अपराधी श्रीयुक्त सुभाषचन्द्र बोस—मुकदमे के दौरान लापता होने के कारण उनके विरुद्ध गिरफ्तारी का हुक्म और हुलिया प्रकाशित करते हुए उनकी सम्पत्ति जब्त करने का आदेश दिया गया।'

इस आदेश के जारी होने के छह महीना बीत जाने और श्रीयुक्त सुभाषचन्द्र बोस के कोर्ट में हाज़िर न होने पर, उत्तरी विभाग के पुलिस कोर्ट के अतिरिक्त चीफ प्रेसीडेन्सी मेजिस्ट्रेट खान बहादुर वलीउल इसलाम ने एक आदेश जारी किया कि ३८/१ नम्बर एलगिन रोड के घर में अपराधी का जो एक चौथाई हिस्सा है, वह फौजदारी कार्यविधि ८८ (७) धारा के मुताबिक सरकार के अधिकार में आ जाएगा।

महाजातीय सदन के मामले में हाईकोर्ट ने यह फैसला किया कि इस सम्पत्ति के बारे में १९४२ के ३१ जनवरी तक कोई विचार नहीं किया जाएगा।' [साप्ताहिक देश, २७ दिसम्बर १९४१ साल]

फैसला हो गया। लेकिन अपराधी कहाँ? इसका कोई जवाब नहीं था उनके पास? पर जनसाधारण इस बात को मानने को तैयार नहीं। वे इसका जवाब चाहते थे।

१० नवम्बर को भारतीय राष्ट्रीय परिषद् में सबसे पहले युवराज दत्त ने जानना चाहा—'सुभाष कहाँ हैं? हम महामान्य सरकार बहादुर से यह बात साफ-साफ जानना चाहते हैं।'

उत्तर दिया स्वराष्ट्र विभाग के सेक्रेटरी मिस्टर कनरैन स्मिथ ने—'उन्होंने शत्रु-पक्ष के साथ हाथ मिला लिया है। वर्तमान काल में रोम या बर्लिन में हैं।'

'इसका कोई प्रमाण है तुम्हारे पास ?'

'हाँ है।'

कुछ इश्तहार दिखाए गए। वही इश्तहार जिन्हें सुभाष के कहने पर चारों तरफ फैला दिया गया था।

'यह बात सही है।' इसी के दो दिन बाद इस बात का समर्थन किया एशोशिएटेड प्रेस ने। यह खबर हमने बर्लिन, टोकियो और रोम रेडियो से सुनी है। रोम और टोकियो रेडियो से यह प्रसारण हिन्दी भाषा में हुआ था।'

'बिल्कुल बेकार की बात है।' कहा इंगलैण्ड के न्यू स्टेट्समैन एण्ड नेशन के सम्पादक मिस्टर किंग्सली मार्टिन ने। 'मैं इन बातों पर विश्वास नहीं करता हूँ।'

मध्यम मार्ग अपनाया भारत सचिव मिस्टर एमेरी ने। कह दिया—'मैं नहीं जानता, बोस कहाँ है।'

उसी दिन बर्लिन रेडियो से दूसरी बात कही गई—'हाँ, बोस यहीं है। हमारे बीच हाल ही में एक समझौता हुआ है। हम अब एक दूसरे के मित्र हैं।'

पर जनसाधारण इससे आश्वस्त न हो सके। यह तो युद्ध की बात है और युद्ध के मतलब हुए झूठ।

परन्तु इंगलैण्ड के एम्पायर न्यूज एजेन्सी ने कहा—'सुभाष बर्लिन ही में हैं। जर्मन उन्हें अफगानिस्तान और सीरिया के बीच से पहले रोम ले गये। वहाँ का बेतार योग कमजोर होने के कारण बाद में उन्हें बर्लिन ले जाया गया। यह बात हमने रोम रेडियो से साफ-साफ सुनी है।'

'ये बात है ?' विभिन्न समाचार पत्रों ने यह बात कही—'अगर रोम का बेतार योग इतना कमजोर था तो यह बात साफ-साफ सुनी कैसे ?'

अब रंगमंच पर अवतरित हुये सर स्टैफोर्ड क्रिप्स। प्रसिद्ध व्यक्ति। खासतौर से समाज-तन्त्र सम्बन्धी बढ़िया बातें करने में कुशल थे। हालाँकि बातों में उस्ताद थे, काम में नहीं। इसीलिए क्रिप्स के यह कहने पर कि वे निःसन्देह कह सकते हैं कि सुभाष बर्लिन में हैं, विदेशी अखबारों ने शोर मचा दिया—सुभाष भारत के नम्बर एक कुईसलिंग हैं।

इस बात का जम कर विरोध किया सम्पादक रामानन्द चट्टोपाध्याय ने—'कौन कहता है कि सुभाष कुईसलिंग हैं ? गैरीबॉल्डी, सॉनयाल सेन, डी वैलेरा जैसे स्वाधीनता प्रेमी योद्धाओं ने क्या अपने देश की स्वाधीनता के लिये विदेशी राष्ट्रों से सहायता नहीं माँगी थी ? वे भी क्या कुईसलिंग थे ? हाल ही में फ्रांस के 'द गॉल' इंगलैण्ड की शरण में पहुँचे हैं। उनका इरादा मुक्ति सेना बना कर फ्रांस को स्वाधीन करने का है, पर उन्हें तो कोई कुईसलिंग नहीं कह रहा है ? बल्कि तुम अंग्रेज। तो उनकी तारीफ करते नहीं थक रहे हो। यहाँ स्वार्थ पर चोट पहुँची है तो सुभाष कुईसलिंग हैं ?'

यह बात तो थी ही मल्लिका। जब तक तुमसे स्वार्थ सिद्ध होता है तुम अच्छे हो। जरा भी इधर-उधर हुआ नहीं कि मुसीबत। हम तुम्हें नीचा दिखाने के लिए तुम्हारे

चरित्र को दोष देना शुरू करते हैं और इस तरह से काम बनाने की कोशिश करते हैं। यही तो किया गया था विप्लवियों के साथ ? 'Give the dog a bad name to hang him' इसीलिये सुभाष का यह रूप देख कर अंग्रेजों का भड़क जाना स्वाभाविक ही था। 'सुभाष अंग्रेजों के सबसे बड़े शत्रु हैं' कह कर उनकी गौरववृद्धि ही की। यह आख्या इसलिये दी गई क्योंकि उन्होंने साम्राज्यवादी ब्रिटिश सरकार का साथ नहीं दिया।

लेकिन क्या हुआ था जॉन एमेरी के वक्त पर ? अतुलनीय शक्ति-सम्पन्न मिस्टर एमेरी उस समय हमारे भारत-सचिव थे। पद-मर्यादा में इंगलैण्ड के प्रधानमंत्री के बाद ही उनका स्थान था। जॉन एमेरी उन्हीं के लड़के थे। युद्ध के समय इंगलैण्ड-विरोधी बहुत भाषण दिये थे उन्होने। दिये थे बर्लिन रेडियो से। उन्हें भी क्या सारे संसार के आगे कुईसलिंग कहा गया था ?

नहीं। बाद में उन पर मुकदमा चला था, सजा भी दी गई थी। लेकिन अंग्रेज इतने मूर्ख नहीं हैं कि यह न जानते हों कि कहाँ क्या करना होगा।

खैर जन-साधारण का बस यही सवाल था कि सुभाष कहाँ हैं ? वे जीवित हैं या नहीं ? जहाँ भी हों वे चुप क्यों हैं ? वे तो चुप रहने वाले व्यक्ति नहीं हैं। इस खामोशी का कारण क्या है ? रहस्य क्या है ?

यही एक ही प्रश्न बर्लिन में रहने वाले भारतीयों के मन में चक्कर काट रहा था।

रहस्य का कारण एक छोटी सी चिट्ठी थी। इस चिट्ठी के माध्यम से उन सब को चाय का निमन्त्रण दिया था सिनोर आरलैण्डो मौजोट्टा ने।

कौन हैं ये सिनोर आरलैण्डो मौजोट्टा ? इन्हें सब का अता-पता मिला कहाँ से ? जो कोई रास्ते पर, दुकान पर मिलता, यही सवाल पूछता। कौन हैं ये ? आपने इनके बारे में कुछ सुना है ? मामला क्या है ?

प्रश्न पर प्रश्न ?

पत्र आया था ६ नवम्बर सोफिएन ट्रूस पर स्थित भूतपूर्व ब्रिटिश दूतावास भवन से। यह तो शुरू से आखीर तक बड़ा रहस्यात्मक है।

सभी निश्चित समय पर ठीक जगह पर आ पहुँचे। मन में कौतूहल।

कुछ प्रमुख जर्मन लीग भी दिखाई पड़ रहे थे। वे भी बुलाये गये थे।

लेकिन कहाँ हैं सिनोर आरलैण्डो मैजोट्टा ? कहाँ है वह रहस्यमय व्यक्ति ?

अचानक प्रवासी भारतवासी कुछ देख कर आश्चर्यचकित रह गये। उनकी आँखें फटी की फटी रही गई। कौन ? कौन हैं ये सिनोर आरलैण्डो मैजोट्टा ? यह कौन खड़ा है उनके सामने ?

यह दिवास्वप्न है या मायाजाल ?

सबने फिर ध्यान से देखा।

नहीं, कहीं कोई गलती नहीं। इतने पास से क्या कोई अपने आदमी को पहचानने में गलती कर सकता है ?

वही मुंह, वही आँखें, वही तेजस्वी स्वर्गीय छटा...कहीं कुछ बेमेल नहीं। कुछ भी तो अस्पष्ट नहीं है। सुभाष ! सुभाष ! यह तो भारत के स्वाधीनता संग्राम के प्रतिनिधि सुभाष हैं। सुभाष के अलावा और कोई नहीं।

लेकिन यह सम्भव कैसे हुआ ?

सारा यूरोप युद्ध की आग के चपेट में है। इस भयावह स्थिति के बीच से, ब्रिटिश शक्ति को अंगूठा दिखा कर यहाँ आये कैसे ? यह तो विश्वास भी नहीं होता है।

काबुल से यात्रा शुरू हुई थी। १८ मार्च १९४१ साल में। उनका पासपोर्ट इटैलियन था और नाम था सिनोर आरलैण्डो मैजोट्टा।

इतने नामों में से यह नाम क्यों चुना गया ? असल में इस नाम से, कूटनीतिक दृष्टि से एक वायरलेस आपरेटर का पद उन दिनों था। इटैलियन दूतावास का कूटनीतिज्ञ वायरलेस आपरेटर बनना पड़ा था सुभाष को ! यह रहस्य भेद किया था जर्मनी के वैदेशिक ऑफिस के एक दायित्वपूर्ण सदस्य डाक्टर ऑलेक्जेन्डर वॉर्थ ने—

"At the Italian Legation in Kabul there happened to be a position for an official wireless operator with diplomatic status. This position including a diplomatic passport in the name of Orlando Mazzota was taken over by Netaji.' [Netaji in Germany : Alexander Werth : P—12]

इसका परिणाम अच्छा निकला था, मल्लिका। क्योंकि अन्तर्जातीय नियम के अनुसार कूटनीतिक प्रतिनिधियों को कोई देखता तक नहीं है।

हिन्दुकुश के ऊँचे-नीचे पहाड़ी रास्ते, ताशकुरगान की पहाड़ी घाटियाँ, अफगानिस्तान की हजारों बर्फीली मृत नगरियाँ, तीर्थस्थान माजीर का शरीफ़गाह और भयंकर जंगलों से घिरा अवसादपूर्ण अकास्स और पाटाकेसर पार कर अन्त में पहुँचे समरकन्द।

२० मार्च को टार्मिज। वहाँ से मास्को उनके साथ थे वही डाक्टर वेलगार।... जो काबुल से उनके साथ आ रहे थे।

रूस। विप्लवियों का तीर्थ-स्थान। शुरू से ही सुभाष का लक्ष्य रूस रहा था। वे अनेकों बार कह चुके थे कि स्वाधीनता संग्राम के लिए अगर मदद चाहिए तो रूस से लेनी चाहिये क्योंकि यही एक ऐसा देश है जिसे शोषितों और उत्पीड़ितों के प्रति सहानुभूति है।

लेकिन ऐसा वे कर नहीं सके थे। इसका कारण था यूरोप की राजनैतिक परि-

स्थितियाँ। इधर रूस उस समय जर्मनी के साथ मैत्रीपूर्ण संधि कर चुका था। यद्यपि अंग्रेज भी पीछे नहीं थे।

मास्को के ब्रिटिश राजदूत स्टैफोर्ड क्रिप्स ने अन्दर ही अन्दर काम शुरू कर दिया था। उन्होंने प्रचार शुरू कर दिया कि जर्मनों पर विश्वास मत करो। ये किसी भी दिन तुम्हारी पीठ पर पीछे से छुरा भोंक सकते हैं। खूब सावधान रहो। एक बार मेरी बात का ख्याल रखना।

एक तरफ जर्मनी, दूसरी तरफ ब्रिटिश। ऐसी हालत में इच्छा रहने पर भी अंग्रेजों के परम शत्रु सुभाष की मदद वे कैसे करते ?

फिर भी सरकारी तौर से कोई मदद न करने पर भी उनका व्यवहार बहुत ही बढ़िया था। उन्होंने सुभाष की व्यक्तिगत सुख-सुविधा पर पूरा ध्यान रखा। इसमें ज्यादा प्रत्यक्ष रूप से वे कुछ कर भी नहीं सकते थे।

परन्तु परोक्ष रूप से ? अगर परोक्ष रूप से उतना भी नहीं किया होता तो सुभाष बर्लिन नहीं पहुँच सकते थे। सिनोर ऑरलैण्डो मैजोट्टा का परिचय वे जानते थे।

मास्को स्थित जर्मन दूतावास के मिलिट्री के गुप्तचर विभाग के अफसर ने उस दिन बर्लिन के लिए एक रिपोर्ट भेजते हुए लिखा था—

"In Moscow no official cognizance had been taken of his presence, but the Russians had done everything they could to make his stay there a pleasant one. Revolution in India fitted their plans excellently. [An extract from Nachrichtendieust i. e, the German Military Intelligence service for East—in the charge of Paul Leverkuchu : Netaji in Germany : N. G. Ganpuley : P—181]

मास्को में रहते समय सुभाष वहाँ के जर्मन राजदूत Count Vou Derschulenburg से मिले।

आगे बढ़ना विप्लवियों का धर्म है। अगर साथ देने को नहीं मिला तो पीछे हटने की जरूरत नहीं। आगे चलो।

मास्को से आकाश के रास्ते से बर्लिन। यह जगह सुभाष के लिए कुछ नई नहीं। हिटलर, गोयेरिंग उनके अपरिचित न थे। यह परिचय हुआ था नात्सी शासन के प्रारम्भिक दिनों में। जब सुभाष यूरोप में निर्वासित थे।

लेकिन क्यों ? क्या सुभाष नात्सी समर्थक हैं ?

नहीं। कभी नहीं।

तब इस परिचय का कारण क्या था ?

कारण था सुभाष की दूरदर्शिता। सुभाष जानते थे, आज नहीं तो कल—युद्ध होना ही है। तब यही भारत के लिए सुन्दर अवसर होगा। उस मौके को काम में लाना

होगा। ब्रिटिश राज्य का शत्रु हमारा परम मित्र होगा। प्रथम विश्वयुद्ध की गलती की पुनरावृत्ति नहीं होगी।

यहीं गांधी जी और उनमें अन्तर था, मल्लिका।

गांधी जी का कहना था, हिंसा या द्वेषभाव नहीं, केवल प्रेम से अंग्रेजों का हृदय-परिवर्तन कर हम आजादी लाएँगे। पर सुभाष कहते थे, साँप मारने के लिए लाठी की जरूरत होती ही है। मनसा देवी की पूजा करने से कुछ नहीं होगा।

गांधी जी का लक्ष्य था—बातचीत, आलाप-आलोचना करते हुए सावधानी से धीरे-धीरे पाँव बढ़ाना। परन्तु सुभाष कहते, भीख माँगने पर स्वाधीनता नहीं मिलेगी। भाव लगाने, कीमत आँकने का प्रश्न कहाँ उठता है? इसे पाने के लिए क़ीमत चुकाएँगे। इसलिए लड़ाई करेंगे। बेकार में समय नहीं गँवाना चाहिये।

गांधी जी की प्रथम और अन्तिम बात थी—अहिंसा। वे कहते थे—स्वाधीनता तो अवश्य ही चाहिए लेकिन अहिंसा के माध्यम से। प्राणों की आहुति देकर पाई स्वाधीनता निरर्थक है।

सुभाष का लक्ष्य—स्वाधीनता, जिसे पाने के लिए वे सब कुछ कर सकते है। छल-बल-कौशल, जैसे भी हो, स्वाधीनता चाहिए ही चाहिए।

सुभाष के मनोभाव से कोई अनभिज्ञ नहीं था। गांधी जी जानते थे। जानते थे हिटलर, गोयेरिंग जैसे प्रमुख नात्सी नेतागण।

निर्वासन काल ही में उन्होंने स्पष्ट शब्दों में इन लोगों से पूछा—'अंग्रेजों के विरुद्ध कब युद्ध शुरू कर रहे हैं?'

स्पष्ट उत्तर नहीं दिया था। जो कुछ कहा था अस्पष्ट था—

'अभी हम उस बारे में कुछ नहीं सोच रहे हैं।'

'हमने सोच लिया है।' कहा था सुभाष ने—'ब्रिटेन हमारा चिरकाल का शत्रु है। तुम क्या करोगे, क्या पता, पर हम लड़ेंगे।'

'Britain is our traditional enemy. We will fight her, whether you support or not.'

'सुभाष स्पष्ट और प्रत्यक्षवादी थे। उनके लिए स्वाधीनता का प्रश्न ही सबसे बड़ा प्रश्न था। किस तरह से, कौन सा रास्ता अपनाने पर स्वाधीनता मिल सकती है—इस तरह की कोई बात उनके मन में नहीं थी।'

१९३५ साल में यह बात यहूदी लेखक Otto Zerek ने कही थी। उन दिनों सुभाष वियेना में थे। उसी समय दोनों में मित्रता दृढ़ हुई थी। ऑटो ज़ेरेक के शब्दों में—

'यूरोप के बारे में सुभाष की जो जानकारी थी किसी असली यूरोपियन के लिए इससे ज़्यादा जानना सम्भव नहीं था। दोष उनमें एक ही था। वे भयंकर अंग्रेज विरोधी थे।....'his implacable hatred of the British....' मैं कभी-कभी इस बात का विरोध करता था। सुन कर हँसते रहते थे।

अचानक एक दिन वे किसी को कुछ कहे बगैर वियना से गायब हो गए। बड़ा आश्चर्य हुआ था उस दिन। बहुत सोचा था लेकिन कोई ढंग का उत्तर नहीं सोच सका।

दो हफ्ते बाद लौट आए। वैसे ही खुश, प्रसन्न।'

लेकिन कहाँ गए थे सुभाष ? किसके पास ?

Otto Zerek ने आगे बताया—

'भेंट होते ही उन्होंने कहा—'जानते हो कहाँ था ? बर्लिन। हिटलर से मुलाकात करके आ रहा हूँ।'

यह तो खबर जैसी खबर थी। मैंने सोचा था, भारतीय युवा समाज के प्रतिनिधि की हैसियत से उनकी नात्सियों और जर्मनी के लिए अच्छी धारणा नहीं होगी। लेकिन ऐसा सोचना मेरी गलती थी। जर्मन राईख की हर चीज ने उन्हें खुश कर दिया था। हिटलर जर्मनी के पुनरुत्थान के लिए कितना काम कर रहे थे, यही उनके लिए बड़े आश्चर्य की बात थी।

सब सुन कर पूछे बगैर रहा न गया—'आप किस तरह के पुनरुत्थान की बात कर रहे हैं ?'

'युद्ध। ब्रिटिश के साथ युद्ध की।'

लगता था इसके अलावा उनके जीवन का कुछ और लक्ष्य नहीं था, इच्छा नहीं थी। और भगवान् की लीला देखिये, ये जो चाहते थे वह मिल भी जाता था।

इसी एक कारण ने उन्हें नात्सियों का दोस्त बना दिया था। क्योंकि दोनों का एक ही लक्ष्य था—अंग्रेजों के विरुद्ध युद्ध। हो सकता है इसी वजह से जर्मनों के यहूदियों के प्रति अत्याचार करने के सम्बन्ध में कुछ कहा नहीं था इन्होंने।

मैंने फिर पूछा—'आप तो अपने राष्ट्र की स्वाधीनता के इच्छुक हैं, पर आप एक ऐसे राष्ट्र के साथ मित्रता कर रहे हैं जो दूसरे राष्ट्र पर अत्याचार कर रहा है।'

हमारे इतने दिनों के परिचय और बातचीत के दौरान यह पहला मौका था जब कि वे सटीक उत्तर नहीं दे सके। अन्त में बोले—

Any how, Hitler is our natural ally. And he knows it. I put before him detailed plans for an agreement between Germany and the Indian Free State which is to come into force when we gain our freedom. He is studying the project. We shall get his support when we revolt. [Germany Odyssey : Otto Zerek]

'कुछ भी हो, हिटलर हमारे स्वाभाविक मित्र हैं और इस बात को वे जानते भी हैं। जर्मनी और भविष्य के स्वाधीन भारत के बीच कैसे एक सन्धि की जा सकती है इस बारे में मैंने एक बड़ी भारी योजना उनके आगे रखी है। वे उस पर विचार कर रहे हैं। जब हम विद्रोह करेंगे, हमें उनका समर्थन जरूर मिलेगा।'

न केवल ऑटो जेरेक बल्कि Mrs. Kitty Kurti भी कम आश्चर्य में नहीं पड़

गई थीं। निर्वासित जीवन में जो लोग उनके बहुत क़रीब आए उनमें श्रीमती किट्टी कुर्ती भी हैं। श्रीमती कुर्ती को सुभाष ने सारी बात साफ-साफ बता दी थी।

उस दिन श्रीमती किट्टी कुर्ती के यहाँ वे आमन्त्रित थे। ज्योंही सुभाष कमरे में घुसे श्रीमती कुर्ती ने पूछा—'आज धूप इतनी तेज नहीं थी। क्या मिस्टर बोस प्रातः भ्रमण के लिए समय निकाल पाए थे?'

'नहीं मिसेज कुर्ती। आज मेरा समय मिस्टर गोयेरिंग से भेंट करने के लिए निश्चित था। उन्हीं के ऑफिस से सीधे चला आ रहा हूँ।'

इस खबर से मैं और मेरे पति चकित रह गए। नात्सी जर्मनी के इस पगले साँड़ से मिस्टर बोस का क्या काम? दोनों के चरित्र में जरा भी मेल नहीं।....अपने देश की स्वाधीनता के लिए मैं भी सब कुछ कर सकती हूँ; लेकिन नात्सियों के साथ किसी भी तरह का सम्बन्ध बनाने की बात मैं सोच भी नहीं सकती हूँ। ये लोग तो छूतवाली महामारी की तरह घृणित जीव हैं।

मैंने पूछा—'अपने देश के उद्धार के लिए क्या आप पृथ्वी के श्रेष्ठ बदमाश से भी मित्रता करेंगे?'

उन्होंने कहा—'It is dreadful, but it must be done. It is our only way out. India must gain her independence, cost what it may. Have you an idea, Mr. and Mrs. Kurti, of the despair, the misery, the humiliation of India? Can you imagine her suffering and indignation? British imperialism there can be just as intolerable as your Nazism here, I assure you : But it is perhaps difficult for you to understand it all. [Subhas as I knew him : Kitty Kurti : p—11.]

'यह बात भयावह है, लेकिन इसे करना ही होगा। यही हमारे लिए एकमात्र रास्ता है। किसी भी क़ीमत पर, हमें स्वाधीनता प्राप्त करना ही है। मिस्टर एंड मिसेज कुर्ती, आप धारणा नहीं कर सकती हैं कि भारत कितनी निराशा, लांछना, और दुःख में है। क्या आप कल्पना कर सकती हैं कि भारत कितना कष्ट और अन्याय झेल रहा है। मैं विश्वास दिलाता हूँ कि भारत में ब्रिटिश साम्राज्यवाद उतना ही असहनीय है जितना कि यहाँ नात्सीवाद। लेकिन यह बातें समझ पाना आपके लिए मुश्किल ही है।

हाँ, यही थे सुभाष, जिनके वक्तव्य में कोई बात अस्पष्ट न थी। स्पष्ट था उनके अनुसार, जैसे भी हो, किसी भी रास्ते से, अपने देश को स्वाधीन करना। देश को दुःखी रख कर पृथ्वी भर के दर्द से व्यथित होने में उनका विश्वास नहीं था।

यह बात है १९३३ से १९३५ के बीच की, जब युद्ध आरम्भ नहीं हुआ था। उसके बाद छह साल गुजर गए थे। छह साल बाद सुभाष उसी बर्लिन में फिर आए।

उस बर्लिन और अब के बर्लिन में बड़ा अन्तर थो। आज बर्लिन शक्ति-सम्पन्न था।

रूस से कुछ मदद नहीं मिली। देखना है यहाँ क्या होता है।

९ अप्रैल को उन्होंने सहयोग की शर्तें जताते हुए एक गुप्त स्मारक-पत्र, जर्मन सरकार को भेज दिया।

इस लम्बे-चौड़े स्मारक-पत्र का कुछ अंश नीचे लिखता हूँ—

'ब्रिटिश साम्राज्य न केवल भारत के मुक्ति-पथ का वरन् पृथ्वी के मानव समाज की उन्नति के पथ का, सबसे बड़ा बाधक है।....आज हर भारतीय चाहता है कि इस युद्ध में ब्रिटिश साम्राज्यवाद हमेशा के लिए समाप्त हो जाए। क्योंकि ब्रिटिश का ध्वंस होना भारतीयों के लिए वरदान सिद्ध होगा—उन्हें बहुआकांक्षित स्वाधीनता प्राप्त हो जाएगी।

भारत ब्रिटिश को अपना शत्रु समझता है, इसलिए यह स्वाभाविक है कि उन्हें पराजित करने में सहयोग प्रदान करें। इस सहयोग को पाने के लिए वचन देना पड़ेगा कि अग्नियुद्ध में जीत होने पर भारत स्वाधीन होगा।

यूरोप में एक स्वाधीन भारत सरकार बनानी होगी।....हर मित्रराष्ट्र में स्वाधीन भारत का कूटनीतिक दूतावास स्थापित होगा।....विद्रोह में मदद करने के लिए, भारत को, अफगानिस्तान के रास्ते आवश्यक सहायता पहुँचानी होगी।'

मल्लिका, सबसे आवश्यक हिस्सा जरा ध्यान से पढ़ो—

'ब्रिटिश प्रभाव और अनुशासन को समाप्त करने के लिए जर्मनी और रूस के बीच जो मैत्रीपूर्ण समझौता हुआ है, उसे बनाए रखना होगा।'

इस पत्र को भेजने के बाद शुरू हुई उत्तर की प्रतीक्षा।

लेकिन कहाँ? दिन, सप्ताह बीतते चले गए....आशा की एक किरण भी नहीं।

क्या कारण है? इसका कारण था जर्मनी की नई योजना। जर्मनी उसी में व्यस्त था—'at that time the leading lights of German Politics must have been so busy that they had no time to consider in detail the case of a man, even of Bose's political status, who had appeared suddenly on the scene, with his uncommon demand.' [Netaji in Germany : N. G. Ganpuley : P—31]

इसके अलावा जर्मनी के मन में एक डर, एक सन्देह सिर उठा रहा था। क्या पता, सुभाष कहीं अंग्रेजों के गुप्तचर न हों। इसलिए पहले ही से पक्की तरह खोजबीन कर लेनी चाहिए।

लेकिन ऐसा होना नहीं चाहिए। कलकत्ते के जर्मन कॉन्सलर ने तो उल्टा ही कहा है। काबुल के जर्मन कॉन्सलर का भी यही कहना है। इसलिए शक करने का

सवाल नहीं उठता है ।

'German Foreign office was very well informed about Bose through its pre-war Counsul General in Calcutta and also from its representative in Kabul. The Foreign Office had all the information about his great past and knew from their reports that, as an active fighter against British imperialism Bose could be trusted with any help that the Government thought fit to extend to him.' [ibid: p—29]

सुभाष का अतीतकाल ही उनके चरित्र का सबसे बड़ा साक्षी है । उधर से डरने की कोई बात नहीं । उधर से कोई खतरा नहीं है ।

खतरा तो दूसरी तरफ है । यह आदमी जैसा तो जिद्दी है वैसा ही स्पष्टवक्ता । ऐसे आदमी को वचन देने से पहले हर तरह से सोच-विचार कर लेना जरूरी है ।

सच में मल्लिका, जर्मनों ने सुभाष को भली-भांति पहचान लिया था । पहचाना था कुछ साल पहले—जब वे वियाना में थे ।

भारतवर्ष ब्रिटिश साम्राज्य के लिए रत्नों की खान है । अब वही भारत आज स्वाधीन होना चाहता है । यह तो गलत बात है । भारत हाथ से चला जाएगा तो बचेगा क्या ?

इसीलिए दुनिया की नजरों में भारत को गिराने की कितनी कोशिश हो रही थी । दुनिया को वे समझा देना चाहते थे कि ऐसे कूपमंडूक भारत को स्वाधीन करने का कोई अर्थ नहीं होता है ।

एक के बाद एक तस्वीरें दिखाई जाने लगीं—'इण्डिया स्पीक्स', 'बेंगॉली' जैसी फिल्में । सब का उद्देश्य एक ही था—भारतवासियों को निम्नस्तर का दिखाना । अन्त में फिल्म आई 'Every body loves music.' यह फिल्म और भी घटिया किस्म की थी । इसमें दिखाया गया था कि स्वयं गांधी जी एक लंगोटी धारण करके किसी अंग्रेज महिला के गले से लिपट कर बॉल-डान्स कर रहे हैं ।

गांधीवादी अनेक नेता उस समय यूरोप में थे, पर किसी ने इसका विरोध नहीं किया । विरोध किया सुभाष ने । खबर सुनते ही वे फौरन Archbishop Cardinal Intizar के पास गए और गरज कर बोले—

'मैं यह जानना चाहता हूँ कि अभी फौरन यह फिल्म बन्द करेंगे या नहीं ?'

फिल्म पर रोक लगायी गयी, न सिर्फ वियाना में बल्कि सम्पूर्ण जर्मनी में ।

सबसे उल्लेखनीय घटना घटित हुई थी १९३४ साल में । सुभाष तब म्यूनिक में थे । वहाँ की नात्सी पार्टी ने तय किया कि सुभाष का नागरिक अभिनन्दन किया जाएगा ।

इसी के अगले दिन एक घटना हुई । अचानक उस दिन हिटलर ने रेडियो द्वारा एक भाषण में अंग्रेजों की भारत पर शासन प्रणाली की प्रशंसा कर दी ।

बस, फिर क्या था ? तुरन्त अनुष्ठान रद्द करना पड़ा । Hitler is at liberty

to lick British boots. (हिटलर को छूट है कि वह अंग्रेजों के जूते चाटे) पर मैं उसका दिया कोई भी अभिनन्दन ग्रहण करने को तैयार नहीं हूँ।

यह सुन कर समस्त यूरोप स्तब्ध रह गया था। जर्मनी के भाग्य-विधाता हिटलर के बारे में कोई इस तरह की बात कहने का दु:साहस कर सकता है, ये तो वे स्वप्न में भी नहीं सोच सकते हैं।

परन्तु एडल्फ हिटलर ने भी इस दु:साहसी व्यक्ति को यथायोग्य सम्मान प्रदर्शित करने में विलम्ब नहीं किया, दूसरे ही दिन उन्होंने अपनी गलती मानते हुए रेडियो द्वारा अपनी बात का स्वयं खण्डन किया था।

ऐसे स्पष्टवक्ता थे सुभाष। भला इन्हें जर्मनी कभी भूल सकता है? या भूल जाना सम्भव है? ऐसे आदमी को वचन देने से पहले सोचना-विचारना तो पड़ेगा ही।

इस बीच युद्ध ने गति पकड़ी। जर्मनी के आक्रमण से आहत हो एक के बाद एक शहर, ताश के पत्ते की तरह गिरते जा रहे थे। गोयेरिंग के बमों की चोट से आहत इंगलैण्ड किसी तरह टिमटिमा रहा था।

लंदन की दशा देखी नहीं जाती थी। अधिकतर मकान बमों की चोट से धूल में मिल चुके थे। यहाँ तक कि बकिंघम पैलेस भी अछूता नहीं था। जर्मनी की छोटी-छोटी पॉकेट बैटलशिपों ने परिस्थिति और भी गम्भीर कर दी थी। उनके गुप्त आक्रमणों के कारण अनेकों ब्रिटिश जहाज डूब चुके थे। एक तरफ इंगलैण्ड की विशाल नौ-सेना, दूसरी तरफ जर्मनी की केवल तीन पॉकेट बैटल शिप—ग्राफ शिप, डयेसलैण्ड और एडमिरल शियर।

छोटे जहाज। खूब छोटे, लेकिन जबरदस्त, शक्तिशाली। एक बार तोप के सामने पड़ गए तो बच नहीं सकते। कितना भी बड़ा भारी बैटलशिप, डेस्ट्रायर या क्रूजर क्यों न हो....धांय से उड़ा कर गायब। ऐसी तेज गति कि सेकेन्डों में पहुँच के बाहर।

और पकड़ में आ भी गए तो फायदा क्या होने वाला था। क्षण भर में शक्ल बदल जाती। अभी एक चिमनी थी, अब वहाँ तीन चिमनियाँ दिखाई पड़ रही हैं। रंग भी दूसरा। इसके अलावा नाम-धाम, पता-ठिकाना, निशान, झण्डा बदलने में वक्त ही कितना लगता है?

इसी तरह से ब्रिटिश कॉनवाय के नाक के सामने से सीधे-सादे भलेमानस की तरह कितनी बार चले गए थे। जैसे किसी मित्र देश का जहाज हो।

इसी के साथ यूबोटों ने नाक में दम कर रखा था। हिटलर ने इंगलैण्ड को इसकी खुली चुनौती दी थी क्योंकि अंग्रेजों को अपनी नौ-सेना पर बड़ा गर्व था।

"Our U-boat-war will begin at sea and they will notice that we have not been sleeping and the Air Force will play its part and

the entire armed forces will force the decision by hook or by crook.'

इस बीच ब्रिटिश मंत्रिमंडल में परिवर्तन हुआ है बड़ा जबरदस्त।

फ्रांस पर १० मई १९४० को हमला हुआ था। उसी दिन प्रधानमंत्री नेविल चेम्बरलेन ने पदत्याग दिया। वे शान्तिप्रिय व्यक्ति थे—वे इस झंझट में नहीं पड़ सकते थे। अब नए प्रधानमंत्री हुए विन्स्टन चर्चिल। बड़े भारी कूटनीतिज्ञ। ब्रिटेन को इस मुसीबत से बचाने का संकल्प करके आए थे।

चर्चिल ने भी पार्लियामेन्ट की एक गुप्त सभा में स्वीकार किया था कि हमारा बड़ा नुकसान हुआ है। एक साल में ४६,००,००० टन के जहाजों से हमें हाथ धोना पड़ा है।

'Our losses and those of our Allies by sinking in the last few months have been heavy. In the last 12 months they amount to 46,00,000 tons.

The enemy continually varies his form of attack in order to meet our counter measures.' [Secret session speeches: Churchill: p-43]

१० मई को एक नए इतिहास की रचना की हिटलर के डिप्टी रूडल्फ हेस ने। अचानक बिना किसी से कुछ कहे वे एक छोटे से जहाज से स्कॉटलैण्ड के ईगल हैम हवाई अड्डे पर जा उतरे और तभी पुलिस ने उन्हें पकड़ लिया।

इस सूचना ने चारों ओर शोर मचा दिया। इस भयावह युद्धकाल में हेस यहाँ क्यों आए हैं?

हेस बोले—'मैं तुम्हारे ड्यूक ऑफ हेमिल्टन से बात करना चाहता हूँ। वे मेरे मित्र हैं। बर्लिन ऑलम्पिक्स के समय हमारी दोस्ती हुई थी। उन्हें एक बार मुझसे मिलाने के लिए ले आओ। मैं बड़ी ज़रूरी खबर ले कर आया हूँ।'

सुन कर ड्यूक ऑफ हेमिल्टन भागे हुए आए।

'मैं सन्धि का प्रस्ताव ले कर आया हूँ।'

'सन्धि ?' विश्वास ही न कर सके ड्यूक।

'हाँ सन्धि। केवल तीन शर्तें हैं—(१) हमारे सारे पुराने उपनिवेश लौटा देने होंगे (२) तुम लोग यहाँ पर निश्चिन्त होकर रह सकते हो। हम तुम्हारे किसी मामले में दखल नहीं देंगे। तुम भी यूरोप के किसी विषय में हस्तक्षेप नहीं कर सकोगे (३) सन्धि की शर्तों की आलोचना हम चर्चिल के साथ नहीं, किसी और के साथ करेंगे।'

सुन कर ड्यूक ऑफ हेमिल्टन दंग रह गए। इस आदमी का क्या सिर फिर गया है?

'मैं ठीक कह रहा हूँ। यूँ तो फ्युरेर को मेरे आने की सूचना नहीं है, परन्तु उस बात की तुम्हें चिंता करने की जरूरत नहीं है। उन्हें मैं राजी कर लूँगा, तुम लोग

अपनी बात बताओ।'

इंग्लैण्ड तैयार नहीं हुआ। होने की बात भी न थी। ये शर्त मानने के अर्थ थे पराजय।

उधर हिटलर गुस्से से आग-बबूला हो रहे थे। इतनी हिम्मत हुई कैसे हेस की? किससे पूछ कर वह सन्धि का प्रस्ताव ले कर गया है? इससे बढ़ कर अपमान की और क्या बात हो सकती है? ठीक है, लौट आने दो—गोली से उड़ा दिया जाएगा।

लेकिन मल्लिका, वे कभी लौट नहीं सके थे। उसी दिन कैद हुए तो सारा जीवन कैदखाने में ही बीत गया।

पर प्रश्न यह उठता है कि क्या वे स्वेच्छा से इंगलैण्ड गए थे या जो भी किया था वह हिटलर के ही निर्देशानुसार? हिटलर को अंग्रेजों से सहानुभूति थी, यह तो प्रमाणित हो ही चुका है। डानकार्क की घटना इसका सबसे बड़ा प्रमाण है।

'The Operation Dunkirk gives very clear evidence of Hitler's sympathies for Britain.

Between 29th May and 14th June 300,000 British troops were allowed to be embarked from Dunkirk because Hitler refused to allow the victorious German forces to mop up the routed Britains.' Netaji in Germany : N. G. Ganpuley : P—50]

वरना उस दिन जर्मनी को कमी किस बात की थी? सब कुछ तो था उसके पास। हिटलर अगर ब्रिटिश को खत्म करना चाहते तो एक भी प्राणी उस दिन लौट कर नहीं जा सकता था।

'At that time Germany had a very strong Air Force, a well equipped submarine fleet and the German army was victoriously following the demoralized enemy at it's heels.

If Hitler had wished it, not a single British soul would have ever reached England.

That was also the occasion when Germany could have invaded England; but Hitler's decision was to the contrary. [Ibid : P—30]

तो फिर? इसके तह में क्या रहस्य छिपा है? उस दिन लाखों सैनिक डानकार्क से कैसे लौटने में सफल हो गए थे?

कारण स्पष्ट था। स्वजातीय प्रेम। हिटलर का कहना था कि जर्मन संसार की सबमें उच्च जाति है। दो तिहाई पृथ्वी का मालिक अंग्रेज—उसकी रगों में भी यही खून दौड़ रहा है। शक्तिशाली इंगलैण्ड घुटने टेक कर उनसे संधि की प्रार्थना करे, यह वह जरूर चाहते थे लेकिन उनको मटियामेट करने की इच्छा कदापि न थी।

'The superiority of Nordic races was a mania with him" on

account of that he was in favour of conserving this dominant Nordic power.' [Ibid : P—30]

झगड़ा उठाया इटली के भाग्य विधाता मुसोलिनी ने ।

दोनों अभिन्न मित्र । हिटलर और मुसोलिनी । हांलाँकि शिक्षा, विचारधारा और सूझ-बूझ के मामले में मुसोलिनी श्रेष्ठ थे पर दोनों का लक्ष्य एक ही था । फिर भी दोनों एक नहीं । मुसोलिनी में इच्छाएँ थीं, पर क्षमता न थी । क्षमता के अभाव में उन्हें बार-बार ठोकरें खानी पड़ी थीं ।

जैसा कि ग्रीस के मामले में हुआ था ।

१९४० साल के अट्ठाइस अक्टूबर की बात है ।

मुसोलिनी गरज उठे—'ग्रीस मुझे चाहिए ही चाहिए ।'

परन्तु उल्टी मार पड़ी । मार खाते-खाते अलबेनिया के भीतरी भाग तक सेना को घुसना पड़ा । हिटलर से मदद की प्रार्थना करनी पड़ी । मन ही मन हँसे हिटलर ।

जर्मन सेना आई । परिणामस्वरूप ग्रीस और यूगोस्लाविया दोनों गए । यूगो-स्लाविया का युद्ध समाप्त हुआ १७ अप्रैल १९४१ को और ग्रीस सेना को अपना मूल निवास स्थान छोड़ना पड़ा । उन्होंने आश्रय लिया क्रीट द्वीप में ।

ग्रीस की राजधानी एथेन्स डेढ़ सौ मील दूर, एजेन सागर के मुहाने पर यह क्रीट द्वीप है । ग्रीस के अलावा भी दूसरे मित्रराष्ट्र के सैनिक बहुत दिनों से वहाँ जमे बैठे हैं । क्योंकि द्वीप की हैसियत से क्रीट द्वीप बड़ा महत्वपूर्ण है । क्रीट हाथ से चला गया तो समझो भूमध्य सागर पर से अधिकार छिन गए । इसलिए जैसे भी सम्भव हो क्रीट को हाथों से निकलने नहीं देना है ।

हांलाँकि खतरे की कोई बात नहीं । क्रीट के चारों ओर समुद्र है । इसलिए कुछ करने के लिए नौसेना का होना जरूरी है । जर्मनी के पास नौसेना नही है । वे इस तरह का कोई सिर दर्द नहीं उठाना चाहेंगे ।

परन्तु यह क्या हुआ ? अचानक सारे खतरे के साइरन क्यों बज उठे ? क्या हुआ ?

हवाई जहाज ! एक आध नहीं, हजारों की संख्या में हवाई जहाज ही हवाई जहाज । क्रीट के ऊपर का आकाश हवाई जहाजों से ढँक गया ।

१९ मई की बात है । आकाश का हाल देख कर वहाँ इकट्ठा सभी राष्ट्र भौंचक्के रह गए । चिड़ियों के झुण्ड की तरह पैराट्रुपर्स उतरते चले जा रहे हैं । हजारों की तादाद में ।

अच्छा ! ये बात है ? ठहरो । तुरन्त तोपों का मुँह उनकी तरफ कर दिया गया । एक भी सैनिक जान बचा कर भाग नहीं सकेगा लेकिन यह क्या ? ये सैनिक तो नहीं हैं । ये तो रबर की गुड़ियाँ हैं । इस मज़ाक का क्या कारण है ?

कारण जब समझ में आया तब कुछ करने को बचा नहीं था। सब को धोखे में डाल कर, द्वीप के दूसरी तरफ हजारों की संख्या में जर्मन सेना उतर आई थी। फलस्वरूप क्रीट का भी पतन हो गया।

अफ्रीका का भी यही हाल हुआ। दोस्त की इज्जत बचाने के लिए हिटलर को हस्तक्षेप ही करना पड़ा।

१६४० की ४ अगस्त को अचानक इटैलियन सेनापति ग्रात्सियानी, अफ्रिका के ब्रिटिश शासित सोमालीलैण्ड में बड़ी भारी सेना लेकर घुस गए। सोल्लुम जीत लिया। लेकिन कुछ दिन बीतते ही ब्रिटिश जनरल वॉवेल ने ऐसी चोट पहुँचाई कि फिर वही हाय-हाय। 'मुझे बचाओ दोस्त।'

हिटलर का इशारा पाकर इस बार रोमेल आगे आए। जर्मनी के कनिष्ठतम सेनापति रोमेल।

लीबिया, बेनगाजी, वर्ना, तवरुक पार कर रोमेल आलामिन आ पहुँचे। सामने ही मिश्र देश का बन्दरगाह अलेक्जेन्द्रिया था।

भागो! भागो!

जान बचाने के लिए ब्रिटिश सैनिक भागने लगे। सब कुछ भले ही चला जाए, इस 'डेजर्ट फाक्स' का सामना नहीं करना है। लेकिन कुछ नहीं हुआ।

हजारों की संख्या में अंग्रेज सैनिकों को आत्मसमर्पण करना पड़ा। इनमें से अधिकतर भारतीय सैनिक थे। इन्हें इटली के कारावास में भेज दिया गया। कुछ को जर्मनी में।

इस घटना ने इंगलैण्ड में तहलका मचा दिया। यह तो डानकार्क की घटना की पुनरावृत्ति है। अब तो रोमेल को रोकना ही पड़ेगा, वरना न तो मिश्र, न भारत, कुछ भी उसके हाथों से न बच पाएगा।

रोमेल की इस अविश्वसनीय गतिशीलता ने हिटलर को भी आश्चर्य में डाल दिया। कहाँ बेनगाजी और कहाँ आलामिन। यह तो विश्वास नहीं होता है। हॉलांकि सेवेन्थ पेनत्सार सेना के सेनापति के रूप में पिछले साल उन्होंने जिस फुर्तीलेपन से फ्रांस में अभियान चलाया था, उसने पहले भी लोगों को आश्चर्यचकित कर दिया था। पर यह तो और भी बड़ी बात है।

सितम्बर में हिटलर ने उन्हें अपने शिविर में बुला कर पूछा—'बोलो, क्या चाहिए?'

'चाहिए कुछ युद्ध सामग्री। सिर्फ तीन सौ लड़ाकू विमान मेरे लिए इतना ही काफी है।'

इस बात का समर्थन किया केमार्सिंह और एडमिरल रेडार ने। अब तक रोमेल को जो कुछ दिया गया है वह बहुत मामूली था। उसी से उन्होंने अफ्रीका के रेगिस्तान में तूफान उठा दिया था। उन्हें इस बार कुछ अधिक मिलना ही चाहिए।

हिटलर ने जिज्ञासा प्रकट की—'आलामिन से अलेक्जेन्द्रिया का बन्दरगाह कितनी दूर है?'

'पैंसठ मील।'

'ठीक है। तुम्हें युद्ध के आवश्यक सामान मिलेंगे।'

रोमेल उम्मीदों से भरपूर उत्तरी अफ्रीका की मरुभूमि में लौट आये। फ्यूरेर ने कहा है तब तो सब कुछ मिल ही जाएगा। आता ही होगा युद्ध के लिए लड़ाकू हवाई जहाजों का जत्था।

रोमेल की इस सफलता पर एक और व्यक्ति भी मुग्ध था। उसे रोमेल की युद्ध-नीति और कौशल पर श्रद्धा थी। ये थे ब्रिटिश जनरल मॉन्टगोमरी। उनके शिविर में हमेशा रोमेल की एक तस्वीर टंगी रहती थी। वे कहते थे—'उनसे बहुत कुछ सीखना है। युद्ध समाप्त हो जाए तो मैं उनसे धीरे-धीरे सब सीख लूंगा।'

अफ्रीका के बाद मध्यएशिया।

उस समय रोमेल के डर से ब्रिटिश तटस्थ थे। जिस तरह यह आदमी बढ़ता आ रहा है, भारतवर्ष में घुस आने में देर कितनी लगेगी। जैसे भी हो वह रास्ता बन्द करना होगा। भारत भी चला जाएगा तो बचेगा क्या?

१६४१ के अप्रैल में ब्रिटिश सेना बसरा आ पहुँची।

वहाँ के लोग चौंक पड़े। अंग्रेज क्यों?

भई, हम तुम्हारा उपकार करने आए हैं, वरना जर्मन लोग तुम्हें नहीं छोड़ेंगे।

'नहीं-नहीं, हमें किसी से उपकार की जरूरत नहीं।' कहा प्रधानमंत्री रशीद अली ने—'आप लोग जाएँ।'

'अच्छा, तो इतना घमण्ड है तुम लोगों को? लो चखो मजा।'

जर्मनी से शक्ति में कम हो सकते हैं पर कमजोर ईराक़ से क्या डरना? अन्त में भाग कर किसी तरह से रशीद अली ने जान बचाई। भागे ईरान।

ईराक़ के बाद ईरान। वहाँ भी वही एक बात—हम तुम्हारा उपकार करने आए हैं।

उसके बाद सीरिया। सीरिया पर १ ली जून को हमला हुआ। ब्रिटिश सरकार की हर शर्त मान लेने पर १५ जुलाई को युद्ध बन्द हुआ।

अब खींचातानी शुरू हुई तुर्क में। क्या जर्मनी क्या अंग्रेज, इस मामले में तत्परता देखते बनती थी।

'तुम हमारा साथ दो, बाद में हम तुम्हें खूब मदद पहुँचाएँगे।'

'हाँ, हाँ जरूर।' बड़ी चतुराई के साथ तुर्क जान बचाते रहे। 'हम तो तुम्हारे ही साथ हैं।'

हालाँकि अन्त में उन्हें अंग्रेजों का साथ देना ही पड़ा। जर्मनी के विरुद्ध जब उन्होंने ब्रिटिश की ओर से युद्ध की घोषणा की तब युद्ध खत्म हो चुका था।

मई का दूसरा सप्ताह होगा।

सुभाष उन दिनों बर्लिन में थे। वही इन्तजारी चल रही थी, कब पक्की खबर आएगी, कब यह प्रतीक्षा समाप्त होगी।

काबुल से फोन आया। 'मैं इटैलियन राजदूत अलबर्ट कोरानी हूँ। भारत से आदमी आया है, निर्देश दें।'

२० मई को सुभाष ने भक्तराम और शान्तिमय गांगुली के लिए इटैलियन दूता-वास में संदेश भेजा।

जून के महीने में वे रोम गए, कब तक वे बैठे रहते ?

विदेश-विभाग के मंत्री काउन्ट चियानो से मिले। ये मुसोलिनी के दामाद थे। उनको तो एक ही बात कहनी थी—पहले भारत की स्वाधीनता का वचन देना होगा। वरना सहयोग का प्रश्न ही नहीं उठता है।

काउन्ट चियानो सुभाष के बारे में सब कुछ जानते थे। उन्हें काबुल के राजदूत कोरानी ने गुप्त रिपोर्ट द्वारा सब कुछ सूचित कर दिया था।

२ अप्रैल को भेजी गई रिपोर्ट में उन्होंने स्पष्ट शब्दों में लिखा था—

'बोस के मतानुसार, यूरोप में एक स्वाधीन भारतीय गवर्नमेंट होगी और इटली, जर्मनी तथा जापान को भारत की स्वाधीनता की स्वीकृति देनी होगी। ऐसा वचन मिलने पर ही स्वाधीन भारत के निजी आकाशवाणी-केन्द्र से वे अपने अभियान की घोषणा करने को तैयार हैं। इस काम के लिए धन की जो भी आवश्यकता होगी, वह हमें ऋण के रूप में देना होगा। भारत स्वाधीन होने पर वह ऋण चुका दिया जाएगा।

'बोस को हम जानते हैं। भारतीय राजनैतिक नेताओं में अगर कोई भरोसेमंद हैं, वास्तविक स्थिति से अवगत हैं तो बोस ही हैं, इसमें दो राय नहीं।

पिछले जून के महीने में, जब लग रहा था इंगलैण्ड अवश्य हारेगा तब अगर बोस की योजनानुसार कोई संगठन रहता तो अनायास ही भारत स्वाधीन हो सकता था।

पिछले साल हमने मौका गँवा दिया है। यह मौका फिर आ सकता है। उसका सद्व्यवहार करने के लिए हमें तैयार रहना चाहिए।'

परन्तु काउन्ट चियानो से मिल कर सुभाष को जरा भी खुशी नहीं हुई। वैदेशिक मंत्री होते हुए भी दुनिया की मौजूदा हालत से जरा भी परिचित नहीं है। उस पर जर्मन विरोधी भी लगा। ऐसे आदमी से कितनी आशा रखी जा सकती है ?

चिन्ता, चिन्ता और चिन्ता। जर्मनी के परराष्ट्र मन्त्रालय से कोई खबर नहीं। वही हाल इटली का है। इस परिस्थिति में क्या किया जाए ?

अचानक रोम में उनकी भेंट हुई जर्मनी के विदेश विभाग के पाश्चात्य समस्याओं के विशेषज्ञ Adam Von Trott Zu Solz से।

सुभाष की योजना सुन कर बड़े उत्साही हो उठे वॉन ट्रट। हां—यही तो होना

चाहिए। कैसे भी हो इस योजना को सफलता का जामा पहनाना ही होगा। ट्रट बहुत दिनों से भारतीय स्वाधीनता संग्राम के प्रति आग्रह रखते आ रहे थे। इस आग्रह के पीछे हाथ एक मुस्लिम युवक का था।

जानती हो मल्लिका, वह मुस्लिम युवक कौन था ? हुमायूं कबीर। उस समय दोनों इंगलैण्ड की ऑक्सफोर्ड युनिवर्सिटी में एक साथ पढ़ते थे।

ट्रट के कहने पर सुभाष फिर बर्लिन लौट गए। मुलाकात की परराष्ट्र मंत्री रिबेनट्रप और प्रचार सचिव गोयेबॉल्स् के साथ। काम इतना आसान नहीं था क्योंकि हिटलर की अंग्रेज-प्रीति तो सर्वविदित थी।

'It was therefore not very easy to change this pro-British attitude of Hitler into a friendly gesture towards India which was in direct opposition to England." [Ibid : P—34]

पर सुभाष हताश नहीं हुए। उन्होंने लोगों को हर तरह से समझाने की कोशिश की। उन्होंने सबको बताया कि प्रथम विश्वयुद्ध में जर्मनी ने कैसे सहायता की थी। एस० एस० मैमारिक और हेनरी एस० जहाजों द्वारा अस्त्र-शस्त्र भेजा था। और उन्हें लाने की कोशिश में कैसे वाघा अतीन मारे गए थे।

उन्हें फिर से बताया कि बरसाई की सन्धि की कैसे अवहेलना हुई। केवल इक्कीस साल पहले ही की तो बात है—तुम लोग क्या इसी बीच उस बात को भूल गए ? उसका मुंहतोड़ जवाब नहीं दोगे क्या ? बदला नहीं लोगे ?

उस दिन बरसाई सन्धि मान लेने को बाध्य किसने किया था ? इसी ब्रिटिश ने न ? अब मुट्ठी में पाकर तुम लोग उन्हें छोड़े दे रहे हो। पर याद रखना, अंग्रेज तुम्हें नहीं छोड़ेंगे। उस दिन कौन तुम्हें बचाएगा ?'

उनकी बातों का प्रभाव हुआ। लोगों ने सुभाष की बातें बड़े ध्यान से सुनी। इसी के साथ उन्होंने वचन दिया कि यूं तो जर्मनी युद्धरत है, पर वे 'मास्सोट्टा' की हर तरह से मदद करने की कोशिश करेंगे।

जर्मनों का भी विचार सुनो मल्लिका—Very soon we felt the strength of his will power, the honesty of his intentions and the inexorability of his personal dedication to India's cause,....

We could not help being influenced by his ideas and wishes., अर्थात् 'बड़ी जल्दी हमने उनकी इच्छाशक्ति की ताक़त, उद्देश्य के प्रति उनकी ईमानदारी और सच्चाई तथा भारत के लिए अपना जीवन उत्सर्ग करने की वासना को महसूस किया।

'हम उनके विचारों और इच्छाओं के प्रभाव से अपने को बचा नहीं सके।'

इसके तह में थे वॉन ट्रट। यह नेताजी का सौभाग्य समझना चाहिए कि उस समय वॉन ट्रट इस विभाग के सर्वोच्च पद पर थे। अगर इनका और इनके मित्रों का समर्थन न मिला होता तो सुभाष बर्लिन रह न पाते।

'It was great luck for Netaji and his cause that Adam Von Trott zu Solz happened to be the head of the office in charge of all matters concerning Netaji's activities in Germany...without trott, his circle of friends and his devoted working team, Netaji probably would not have remained in Berlin.' डाक्टर अलेक्जेन्डर वर्थ ने कहा था : 'Trott was designated head of the 'Special India Division' and I, his deputy assistant.'

अब शर्तें तय होने लगीं, रह-रह कर। सुभाष का दावा था—'लक्ष्य हम दोनों का एक ही है। वह है ब्रिटिश साम्राज्यवाद को नष्ट करना। फिर भी हमारी संस्था बिल्कुल ही अलग ढंग की एक भारतीय संस्था होगी। उसमें तुम लोग किसी भी तरह का हस्तक्षेप नहीं कर सकोगे। इसके अलावा तुम्हारे पड़ोसी राष्ट्रों के झगड़ों में हम नहीं पड़ेंगे। वह तुम्हारा निजी मामला है, उससे हमें क्या लेना-देना है ? हमारा तो एक ही शत्रु है—अंग्रेज। उन्हीं से हमें निपटना है।

फिलहाल तुम्हें ट्रेनिंग के लिए मिलिट्री और टेकनिकल आफिसर देने पड़ेंगे। आवश्यक धन हम कर्ज के रूप में लेंगे। भारत स्वाधीन होने पर पाई-पाई चुका दिया जाएगा। इसकी जिम्मेदारी मेरी है। कहो 'तैयार हो ?'

जर्मनी तैयार हुआ।—'हाँ, हम तुम्हारी सारी शर्तें मान रहे हैं।'

डा० वर्थ के शब्दों में—Netaji's stiff demands that no German should interfere with his work, that the financial assistance granted to him should be considered as a loan given to Free India which after the war would be paid back and his request for personnel and technical assistance from the German Foreign Office and the OKW (Supreme Military Command) met with the German Foreign Minister's favourable understanding.

....Indians did not want to be involved in Germany's quarrel with other countries or with her own internal quarrels.

The Germans, i. e. the German Foreign Office, accepted this point of view and never wanted Bose to support them in their war with other countries.

Neither Bose nor Azad Hind Radio ever defended, by speech or in broadcasts the policy of the National socialist Party in continental Europe or elsewhere.

The work done by the Indians under Bose in Germany was based on the firm understanding that without being idealogically involved in the National socialist doctrine, the Indians in Germany

could advance the cause of Indian independence. [Netaji in Germany : Alexander Werth : P—17—19]

तुम्हें जर्मनी की इस बिना-शर्त सहायता देने पर आश्चर्य हो रहा होगा, मल्लिका। क्या कारण है कि भारतीय स्वाधीनता के लिए वे इतना परेशान थे ? इसके पीछे कोई स्वार्थ नहीं था क्या ?

अवश्य था। अंग्रेज केवल सुभाष ही के शत्रु नहीं, उनके भी थे। दोनों का लक्ष्य था अंग्रेजों को नष्ट करना। ऐसी हालत में सुभाष की मदद करना माने शत्रु के विरुद्ध कार्यवाही करना।

सबसे बड़ा फायदा था—सुभाष को उनकी सहायता के अर्थ हुए भारतीय युद्ध-प्रिय युवकों का समर्थन मिलना। भारत ही इस समय अंग्रेजों का सबसे बड़ा अड्डा है, इसलिए भारतीय युवकों का समर्थन बहुत बड़ी सफलता होती।

देखते-देखते एक दिन बर्लिन की भूमि पर सुभाष के आजाद हिन्द संघ (Azad Hind Centre) ने जन्म लिया।

लेकिन कार्यकर्ता ? युद्ध के झमेले में पड़ कर न जाने कौन कहाँ छिटक कर जा गिरा है, इसका पता नहीं। ऐसी हालत में काम करने वाले कहाँ मिलेंगे ? शुरू हुई यूरोप की परिक्रमा।

सबको ढूंढ़ निकालना होगा। सबका पता मालूम करके चाय पर आमंत्रित करना होगा। आमंत्रण सिनोर ऑरलैण्डो मैजोट्टा की ओर से भेजा जाएगा, क्योंकि सुभाष का रहस्योद्घाटन अभी नहीं हुआ है। जर्मनों के शब्दों में। अभी वे हैं 'महामान्य मास्सोट्टा'।

यह योजना सफल हुई। निमन्त्रण पाकर आगे आए नाम्बियार, शर्मा, सुल्तान, हबिबुर रहमान, प्रमोद दासगुप्ता, आविद हसन, एम० वी० राव, कान्तराम, डा० मल्लिक जैसे स्वाधीनता प्रेमी भारतीय युवागण। और आए विख्यात संवाददाता गिरिजा मुखर्जी।

नाम्बियार अट्ठारह वर्षों से पेरिस में रह रहे थे। यूरोप की राजनीति से भली भाँति परिचित थे।

हबिबुर रहमान जर्मनी के प्रचार विभाग के खास आदमी थे, इसलिए उनकी योग्यता पर किसी तरह का शक नहीं किया जा सकता था।

और गिरिजा मुखर्जी ?

जीवन में शायद ही किसी ने इतना कष्ट झेला होगा। स्वदेश में वे अंग्रेजों के कैदी थे, क्योंकि वे स्वाधीनता चाहते थे। विदेश में, वे ब्रिटिश प्रजा होने के नाते कानूनन जर्मनों के शत्रु हुए, इसलिए यहाँ भी जेल ही में रहे। कुछ दिनों तक फ्रांस के फ्रेजन जेल में थे। उसके बाद ऐतिहासिक सांडिनी कॉन्सेन्ट्रेशन कैम्प में। कभी फ्रांस

के १५वें लूई ने इस कैम्प को बनवाया था, अपने सैनिकों के रहने के लिए। बाद में वही संडिनी जेल के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

और भी दो बंगाली युवक इसी जेल में कैद थे। कुसुम पाल और चौधरी। चौधरी सुभाष के सहपाठी थे। कटक में दोनों साथ पढ़ते थे और कुसुम पाल ? आज भले ही कोई उन्हें न पहचाने, पर एक समय था कि हर भारतवासी उन्हें पहचानता था।

रोज सुनने को मिलता था—'आजाद हिन्द रेडियो, बर्लिन ! बंगला में समाचार सुना रहे हैं कुसुम पाल।'

आजाद हिन्द रेडियो के शुरू होने वाले दिन से अन्तिम दिन तक अपने देशवासियों को वे ही समाचार सुनाते रहे।

बन्दी जीवन से उकता चुके थे सब। जिस समय वे घोर निराशा के दौर से गुजर रहे थे तभी अचानक परराष्ट्र विभाग से आवश्यक निर्देश आया—'अविलम्ब समस्त भारतीय कैदियों को मुक्त कर दिया जाए। कारण मालूम न था स्वयं कैम्प के इन्चार्ज कर्नल स्मिट तक को।

सब छूट कर बाहर आए—मन में एक ही प्रश्न था। मामला क्या है—अचानक भारतीय कैदी ही क्यों छोड़ दिए गये ?

इसका कारण तुम तो समझ ही रही होगी, मल्लिका। सुभाष ने माँग की थी कि फौरन समस्त भारतीय कैदी रिहा कर दिए जाएँ, क्योंकि इन्हीं की मदद से मैं आजाद हिन्द फौज बनाऊँगा।

नया दफ्तर खोला गया बर्लिन के तियारगर्त इलाके में। कार्यकर्ता कुल ३५—अधिकतर यूरोप में पढ़ने आये भारतीय छात्र थे।

ये सभी लोग सुभाष की आवाज सुन कर खिंचे चले आए थे।

सुभाष के रहने का प्रबन्ध हुआ ६ नम्बर सोफेन ट्राश के पुराने ब्रिटिश राजदूत वाले भवन में। इसी के बगल में था स्पेनिश दूतावास।

'The crow is the most cunning and cruel among the birds, the fox among the animals and the British imperialist is among the human beings.' सुभाष का कथन था। इस बात को उन्होंने एक बार नहीं, हजारों बार कहा होगा। यहाँ तक कि बर्मा के युद्धक्षेत्र से रेडियो द्वारा भाषण देते समय भी देशवासियों से यही बात कही थी।

बात सच थी, मल्लिका। यह बात प्रमाणित भी हो गई।

अंग्रेजों का एकमात्र लक्ष्य था—रूस। यूँ तो कम्यूनिस्ट होने के नाते वे रूसियों से घृणा करते थे, पर चूँकि रूस जीतना था इसलिए उस पर नजर थी।

इधर जर्मनी और रूस के बीच सन्धि हो चुकी थी। उन्होंने सोचा कि दोनों

में फूट डालने पर अपना उद्देश्य सिद्ध हो सकता है। और इस काम में पहले से ही क्रिप्स जुटे हुए थे। वे लगातार स्टालिन और मलोतोव के कानों के पास धिनधिना रहे थे—'जर्मनी का कोई विश्वास नहीं। उन्हें विश्वास करोगे तो पछताना पड़ेगा।'

स्टालिन कम बात करते थे। उन्हें देख कर कहना मुश्किल था कि उन पर क्रिप्स की बात का क्या असर हुआ है।

फिर भी क्रिप्स हताश नहीं हुए। उन्होंने दूसरा कूटनीतिक नाटक शुरू किया। रूस में खबर फैला दी कि जर्मनी चढ़ाई कर रहा है और जर्मनी में अफवाह ज़ोर पकड़ रही थी कि रूस की सेना भीतर ही भीतर पूरी तैयारी के साथ चल पड़ी है। गुप्त रूप से पक्की खबर है। बात गाँवों तक में रट गई।

दोनों देशों में यही एक ही खबर ज़ोर पकड़ रही थी। एक ही आलोचना, एक सी प्रतिक्रिया।

निःसन्देह क्रिप्स की यह नीति सफल हुई। दोनों देश एक दूसरे पर सन्देह और अविश्वास करने लगे।

२२ जून, तड़के, आक्रमण न करने की सन्धि भंग की हिटलर ने और दो हजार मील दूर तक विस्तृत रूसी सीमा पर भयंकर गति से आक्रमण किया।

खबर सुन कर ब्रिटिश प्रधानमंत्री चर्चिल की खुशी का अन्त न रहा। हिटलर शत्रु है ही। रूस भी—अब लड़ने दो दोनों को।

उसी रात चर्चिल ने अपने रेडियो-प्रसारण में कहा, 'रूस आज से हमारा मित्र है। हम हर तरह से उसकी मदद करने को तैयार है।'

चिट्ठी पर चिट्ठी, फिर टेलीग्राम....'बताओ, क्या चाहिये तुम लोगों को ?'

स्टालिन ने कोई जवाब नहीं दिया। वे ब्रिटिशों को पहचानते थे। लेकिन चर्चिल पीछे पड़े ही रहे। उनके शब्दों में—'हिटलर को पराजित करने के लिए मैं नरक के साथ भी हाथ मिलाने को तैयार हूँ।'

बहुत हाथ-पाँव जोड़ने पर अन्त में स्टालिन ने उत्तर दिया—'मैं काम-काजी आदमी हूँ। काम की बात ही समझता हूँ। अगर दोस्ती चाहते हो तो काम द्वारा साबित करो।'

'कहो, क्या काम करना है ?'

'सेकेण्ड फ्रन्ट।'

सेकेण्ड फ्रन्ट ? चर्चिल स्तब्ध रह गए—क्या कहना चाहता है यह आदमी ?

'हाँ, सेकेन्ड फ्रन्ट। मैं इधर हिटलर को संभालता हूँ तुम फ्रांस के समुद्री तट से हमला करो। बस—हम इतने से खुश होंगे।'

'अच्छा अच्छा', तुरन्त चर्चिल राजी हो गये—'लेकिन इतनी जल्दी क्या है ? हमें जरा संभालने का मौका तो दो। अभी तुम लोग अकेले लड़ो, बाद में हम दिखा

देंगे, लड़ाई कि[illegible] कहते हैं।

आदर्श और नीति दोनों में बिल्कुल [illegible] होते हुए [illegible] रूस ने ब्रिटिश का साथ किया।

इधर बॉल्टिक सागर से लेकर काले [illegible]गर तक का दो हजार मील लम्बा रण-क्षेत्र जर्मन बमबारी करने वाले जहाजों, हजारों टैंकों और लाखों पैनत्सार सैनिकों से भर गया था। ये सेना रूस के अन्दर तक घुस आई। रूस का जाड़ा बड़ा भयंकर होता है, उससे पहले ही यह लड़ाई खत्म करनी है।

उत्तरी [illegible] सीमा की लड़ाई का सेनापतित्व कर रहे थे प्रसिद्ध फील्ड मार्शल वॉनलीव। उनके साथ थे जनरल कुयलर, जनरल [illegible]स और टैंक संचालन में कुशल जनरल होयप्नर। इनका लक्ष्य था—लेलिनग्राद।

मध्य भाग संभाल रहे थे मार्शल वॉन बोक। उनके साथ थे मार्शल वॉन क्लेगे, जनरल स्ट्[illegible] जनरल वॉन विक्स, जनरल टॅड (टैंक) और मार्शल केसेलरिंग (हवाई जहाज)। इनका लक्ष्य था—मॉस्को।

दक्षिण, फील्ड मार्शल वॉन रूनस्टेव के [illegible] था। इनके सहकारी थे फील्ड मार्शल वान राइकेनाव, जनरल स्टूयेल्पनैजेल, [illegible] सोपार्ट, जनरल वॉन क्लाइस्ट (टैंक) और जनरल लोयेर (हवाई जहाज)। इनका ल[illegible]—रूस का कृषि भंडार, पूरा उक्राइन का इलाका।

रूस की ओर से लेलिनग्राद का [illegible] उत्तरी भाग संभाल रहे थे मार्शल वरोसीलॉव, मध्यभाग मार्शल टिमोशेंको और दक्षिणी भाग मार्शल बूदेनी।

राष्ट्र गुरु लेनिन की सतर्कवाणी [illegible] नहीं भूला था—'Remember, you are always w[illegible]in an inch of invasion.'

चारों ओर पूँजीपतियों के देश—जो मौका पाते ही उन्हें कुचल कर समाप्त कर सकते हैं।

एक तो अचानक आक्र[illegible] करने के कारण, उस पर कमजोर स्थान पर चोट पहुँचा कर, पहली ही बार में ज[illegible] सेना तीर की तरह चार सौ मील अन्दर तक आने में सफल हो गई।

रेडियो प्रसारण में ३ जुलाई को यह बात स्टालिन ने स्वयं स्वीकार की कि लिथूयानिया, लैटविया, व्याइट रशिया का अधिकांश भाग और यूक्राइन का एक भाग शत्रुओं ने अपने कब्जे में कर लिया है। लेलिनग्राद के बारे में अभी कुछ कहना मुश्किल है।

मध्य भाग का विस्तृत भूखण्ड जर्मनों ने जीत लिया। पहले जीता मिनस्क, उसके बाद महत्वपूर्ण रेल-केन्द्र स्मलेनस्क। इसके हाथ से निकल जाने से मास्को को खतरा हो गया। लाल फौज के जी जान से कोशिश करने पर भी स्मलेनस्क को बचाया

न जा सका :

इस युद्ध में नुकसान का एक विवरण सुनो, मल्लिका। दोनों तरफ का सरकारी क्षति-विवरण था—रूस का नुकसान हुआ था—हताहत और गायब हुए थे सैनिक कुल ६ लाख; ५ हज़ार टैंक; ७ हज़ार तोप और ४ हज़ार हवाई जहाज।

और जर्मनियों के मतानुसार उनके निहत सैनिकों की संख्या थी ४,०२,८६५।

इधर मार्शल बूदेनी परेशानी में पड़ गए। अचानक उन्हें जर्मन सेनापति वॉन रूनस्टेड ने सेना के साथ चारों ओर से घेर लिया। पर ये घेरा ज्यादा सफल नहीं हुआ क्योंकि बहुत जल्दी निकल कर नीपा नदी पार कर गये मार्शल बूदेनी।

पर उनके सामने एक समस्या और आई। करोड़ों रुपये व्यय करके नीपा नदी पर जो बाँध बनाया गया था वह पृथ्वी का सबसे बड़ा बाँध होने के साथ-साथ इन्जीनियरों की सर्वोत्तम कला का निदर्शन था। अब जर्मनों की गति को रोकने के लिए इस बाँध को तोड़ डालना ज़रूरी था। हालांकि इससे रूस का बहुत बड़ा नुकसान होगा।

बहुत सोच-समझ कर, अन्त में २८ अगस्त को बूदेनी ने इसी बाँध को और बिजली सप्लाई करने का केन्द्र, डिनामाइट से उड़ा दिया।

भयंकर पानी की बाढ़ से जनसाधारण भले ही परेशानी में पड़े, इसके अलावा चारा भी तो नहीं; स्वाधीनता से बढ़ कर तो कोई चीज नहीं।

इतने पर भी जर्मनी की बढ़ती हुई गति रोकी न जा सकी।

ओडेसा, कियेव, खारकोव, पेरेकोप, क्रीमिया, रस्टोव, कार्च वगैरह हाथों से निकलते चले गये।

कियेव, यूट्राइन की राजधानी थी। खारकोव उद्योग का तीसरा विशाल केन्द्र था और रेलपथ और अन्य सड़कों से जुड़ा होने के कारण यह नगर अधिक समृद्ध था।

इतना ही नहीं, जर्मन सेना लिथुआनिया और लेटविया के बीच से होकर, लेलिनग्राद के निकट पहुँच चुकी थी।

रूस इतनी जल्दी हार मानने वाला नहीं—लेलिनग्राद को हाथ से जाने नहीं दिया जा सकता है।

लेलिनग्राद नौ-सेना और स्थल-सेना का केन्द्र-स्थल था। इसके अलावा हवाई जहाज, गोलाबारी तथा अन्य विभिन्न प्रकार के अस्त्र-शस्त्रों के निर्माण केन्द्र के रूप में भी दूसरा स्थान रखता था। ऐसे शहर को हाथ से निकल जाने देना कहाँ की बुद्धिमानी होगी?

कुछ नेताओं ने, फील्ड मार्शल वॉन लीव, जनरल ब्राउसित्स, जनरल रुनस्टाड, वगैरह ने हिटलर को बहुत समझाया कि मास्को पर पहले हमला करना चाहिए पर हिटलर अपनी जिद् पर अड़ा रहा—नहीं, मैं तो लेलिनग्राद ही पहले चाहता हूँ।

फ्यूरेरार की इच्छा का ध्यान रख कर वॉन लीव ने पैनात्सार सेना का नेतृत्व करते हुये, जबरदस्त हमला किया लेलिनग्राद पर।

पर अब न सिर्फ लाल सेना बल्कि उस नगर के तीस लाख नर-नारी भी सिर उठा कर खड़े हो गए—लेलिनग्राद हम नहीं देंगे।

८ सितम्बर को जर्मन सेना द्वारा यह नगर पूरी तरह से घिर गया। हर तरह, हर जगह से इसका सम्बन्ध विच्छेद हो गया। क्रोनस्टाडे के नौ सेना केन्द्र के अलावा लेलिनग्राद का सम्पूर्ण रूस के भूखण्ड से सम्बन्ध टूट गया।

जर्मनी, एक से एक शक्तिशाली और सुरक्षित दुर्गों को जीतने में पटु था। एक एक करके इन्होंने कितने दुर्ग जमीन में बिछा दिए थे।

इस बीच तीव्र गति से आक्रमण कर उन्होंने किस तरह से शत्रु का सिर नीचा कर दिया है इसका साक्षी इतिहास है ही। जैसे—पोलैण्ड। पोलैन्ड जीतने मे उन्हें केवल १८ दिन लगे थे। डानकार्क—केवल १२ दिन। बलकान राज्यसमूह—१० दिन और फ्रांस—२६ दिन।

लेकिन आश्चर्य की बात। लेनिनग्राद जीतना असम्भव हो गया। लाल फौज ने क्षण भर के लिए भी सिर नहीं झुकाया।

ऐसी दशा में जर्मनी ने मास्को का रुख किया। जाड़ा शुरू हो चुका था। अक्टूबर भी बीतने वाला था। इसके बाद ही भयानक जाड़ा पड़ जाएगा। उसी के साथ जबरदस्त बर्फ गिरेगी। उससे पहले ही यह लड़ाई खत्म करनी पड़ेगी।

इस समय लाल फौज लेनिनग्राद की रक्षा करने में व्यस्त भी है। इस वक्त वे घेरा तोड़ कर आ भी नहीं सकते। यही तो मास्को जीतने का अचूक मौका है।

तुरन्त फील्ड मार्शल वॉन बोक मास्को की तरफ तीर की तरह चल दिए विशाल सेना ले कर। इनके साथ थे टैंक विशारद जनरल गुडेरियान और हवाई जहाज के विशारद फील्ड मार्शल केसेलरिंग।

इन लोगों ने पहले लेनिनग्राद और मॉस्को जाने वाले रेल-पथ पर स्थित कैलिनिन पर कब्जा कर लिया। उसके बाद जीता कलामास्को, वियाजमा, बरोडिनो, जाते हुए मोजाइस्क।

मास्को सिर्फ सत्तर मील रह गया। एक ही तरफ से नहीं—बड़े से घेरे में हर तरफ से आक्रमण हो रहा था।

कैलिनिन से, एक तरफ की सेना क्लिन के बीच से होते हुए धीरे-धीरे बढ़ने लगी मास्को वोल्गा झील की तरफ। मास्को तो लेना ही है। किसी तरह से हाथ से जाने न पाए।

२० अक्टूबर से रेडियो द्वारा प्रसारित हुई—मास्को पर आई मुसीबत की खबर। मास्को से सरकारी दफ्तर हटा लिए गए। नया दफ्तर बना कुइबिशव में।

सेना में भी कुछ-कुछ परिवर्तन हुआ था। उत्तरी मोरचा मार्शल बरोशीलव के स्थान पर अब जनरल झुकव के अधीन कर दिया गया। बीच में थे मार्शल टिमोशेंको।

मार्शल बरोशीलव और बुदेनी को मास्को से काफी पीछे की तरफ भेज दिया गया। इनको और अधिक सैनिकों की मांग पूरी करने का जिम्मा सौंपा गया। उनसे

कहा गया, युवकों को सैनिक शिक्षा दे कर तैयार करें।

इधर देखते ही देखते मास्को से पैंतिस मील दूर पहुँच गई पैनत्सार सेना। सेनापति थे जनरल वॉन क्लूग।

टैंक, हवाई जहाज, दूर तक गोले बरसाने वाले तोपों से केवल हमला होने लगा।

जनरल जुकाव के नेतृत्व में लाल सेना भी जुट गई थी। प्राणों की बाजी लगा कर वे मास्को की रक्षा करने पर लग गए।

इसी तरह पूरा नवम्बर बीत गया। न लाल फौज टस से मस हुई, न एक इंच बढ़ सकी जर्मन सेना।

और इस बीच वही डरावना जाड़ा उतर आया था मास्को पर। उसी के साथ-साथ भयंकर बर्फ गिरने लगी। बरफ से ढँक गए टैंक, हवाई जहाज और तोप।

प्रकृति के हाथों से बचने के लिए मास्को की आशा छोड़ कर पीछे हटने में ही बुद्धिमानी थी, पर हिटलर ने आदेश जारी किया कि कोई पीछे नहीं हटेगा। जाड़े में बचे ही कितने दिन हैं? जाड़ा खत्म होकर वसन्त आने दो।

यूरोप में रहने वाले हर भारतीय की निगाह बर्लिन पर लगी थी। सुभाष ने बुलाया है—चलो बर्लिन चलो। यहाँ पीछे मुड़ कर देखने का वक्त किसे है? यह जीने की लड़ाई है। इस लड़ाई में बढ़ना है।

पेरिस से भागे-भागे आए वीनू बनर्जी और प्रमोद सेन। नीतिगत दृष्टि से नात्सियों से हमारे विचार जरा भी नहीं मिलते हैं। इनका साथ करना क्या ठीक होगा?

परन्तु सुभाष की बात सुन कर सबके मन से शंकाएँ लुप्त हो गईं—'पृथ्वी में ऐसा कौन सा देश है जिसने किसी शक्तिशाली राष्ट्र की मदद नहीं ली है? क्या आयरलेण्ड ने स्वतन्त्रता प्राप्त करने के लिए अमेरिका से मदद नहीं माँगी थी।

रूस ने नहीं लिया?

अमेरिका की आर्थिक समृद्धि को रोकने के लिए क्या ब्रिटेन ने भीतर ही भीतर जापान की मदद नहीं की थी? तो फिर हम क्यों न लें? हम भी लेंगे। कूटनैतिक ढंग से लेंगे और फिर धीरे-धीरे लक्ष्य की ओर बढ़ेंगे। लक्ष्य है स्वाधीनता। सीधी सी बात है—यह है कूटनीतिक खेल। बुद्धि की मदद से लड़ कर जीतना होगा।'

बम्बई निवासी ए० जी० गनपुले आए। ये थे कट्टर अहिंसावादी कांग्रेस कार्यकर्ता। पुकार सुन कर उन्होंने सुभाष के साथ हाथ मिलाया।

निजी आकाशवाणी केन्द्र 'आजाद हिन्द रेडियो' का काम शुरू हुआ अक्टूबर माह में। उस दिन सुभाष की प्रसन्नता का अन्त न था। इसी क्षण की प्रतीक्षा कर रहे थे वे।

'The first day of broadcasting to India was an eventful day both for Netaji and India. It was the day for which Netaji was

feverishly waiting. Although by temperament a very patient man, he looked that day unusually enthusiastic and even a little excited.' [N. G. Ganpulay : P—51]

लम्बी इन्तजारी के बाद उस दिन दुनिया भर के लोगों ने वह सुपरिचित आवाज सुनी—

'आज़ाद हिन्द रेडियो—बर्लिन, मैं सुभाष बोल रहा हूँ...

सुभाष ? सुभाष बोल रहे हैं ? सारे भारत में जैसे आँधी आ गई हो। इतने दिनों से जो संशय मन में था, उसका अन्त हो गया। हर प्रश्न का उत्तर मिल गया। नहीं, सन्देह करने की कोई गुंजाइश ही नहीं—वही तेजस्वी आवाज़, वही बोलने का ढंग —यह तो हमारे सुभाष ही हैं।

पर यह सम्भव कैसे हुआ ? विश्वयुद्ध छिड़ा हुआ है, पुलिस की इतनी चौकस निगरानी—इस हालत में सबकी आँखों में धूल झोंक कर बर्लिन कैसे पहुँच गए सुभाष ? यह बात तो कल्पनातीत है।

२ नवम्बर को आज़ाद हिन्द संघ का पहला अधिवेशन शुरू हुआ बर्लिन में। भारतभूमि से छह हजार मील दूर भारतीय झण्डा पहली बार लहराया।

शुरू में ही कविगुरु रवीन्द्रनाथ का गीत 'जन गण मन अधिनायक' को राष्ट्रीय-गीत के रूप में ग्रहण किया गया। उसके बाद उल्लेखनीय तीन बातें और स्वीकृत हुईं जो इतिहास में अमर हो गई हैं। पहली बात 'नमस्ते' कोई नहीं कहेगा—कहेगा 'जय हिन्द'।

जिस प्रकार से सुभाष ने गांधी जी को 'राष्ट्रपिता' कह कर पहली बार सम्बोधित किया था, उसी प्रकार से बहुत सी और बातें उनके सिवाय कोई सोच भी नहीं सकता था।

दूसरी बात तय हुई। नारे लगाते समय 'आजाद हिन्द जिन्दाबाद' कहेंगे और तीसरी बात थी—आज से वे सुभाष नहीं 'नेताजी' कहलायेंगे। हर एक भारतवासी के नेता जी।

पहले बनी 'आजाद हिन्द संस्था'। फिर 'आज़ाद हिन्द रेडियो'। अब बननी चाहिए 'आजाद हिन्द सेना'। Indian legion.

उन्होंने सोचा, अफ्रिका की लड़ाई में हजारों की तादाद में भारतीय सैनिक क़ैद हुए थे। अधिकतर बन्द हैं इटली में। क़रीब १० हज़ार होंगे जर्मनी के एनाबुर्ग कैम्प के क़ैदखाने में। इन्हीं कैदियों की मदद से एक भारतीय सेना क्या नहीं बन सकती है ? क्या भारत की निजी 'आज़ाद हिन्द सेना' बनाना मुश्किल हो जाएगा ?

परन्तु एक विकट प्रश्न तो सामने था ही। रेडियो स्टेशन खोलना एक बात है और स्वतन्त्र सैनिक संगठित करना दूसरी बात है। कोई भी देश एकदम से एक स्वतन्त्र वाहिनी संगठित करने देगा ही क्यों ? फिर भी—पूछने में हर्ज क्या है।

'Once an idea caught his fancy, he was not the man to leave

it on account of ordinary difficulties.' [Ganpuley : P—53]

युद्ध विभाग से सम्बन्ध स्थापित किया गया। पहले वैदेशिक दफ्तर के ज़रिए। उसके बाद स्वयं....—'he tried to establish contacts with the military authorities in Berlin, first through the special India Division of the German Foreign Office and afterwards directly.' [Dr. Werth : P—31]

काफी विचार-विमर्श के बाद जर्मनी मान गया। ठीक है, संगठित करो अपनी सेना।

शर्तें! सुभाष ने माँग की—'यह सेना सम्पूर्णरूप से हमारी निजी सेना होगी। इसे अपनी सेना के साथ मिलाने का अधिकार नहीं होगा जर्मनी को। हमारे एक ही शत्रु हैं—ब्रिटिश। भारत में उन्हीं के विरुद्ध यह सेना लड़ेगी और कहीं नहीं। परन्तु अगर आत्मरक्षा करनी पड़ी तो वे ज़रूर उपयुक्त व्यवस्था करेंगे।

वेतन, छुट्टी, खाना-पीना और पोशाक के मामले में वह सारी सुविधायें देनी पड़ेंगी जो अपनी सेना को देता है जर्मनी।'

सुभाष की हर शर्त मान ली गई। न केवल मौखिक रूप से, कार्यकारी रूप से भी। जर्मनी ने यह उत्तरदायित्व शुरू से अन्त तक निभाया था।

'After many discussions and deliberations with the German Army Head Quarters on this subject, it was ultimately decided that Netaji should be given every help to choose his men out of the POW (Prisoner of War) camps and the German Wehrmacht should give him all the help necessary on the times suggested.

...All the arrangements agreed to were meticulously carried out, from the day they were approved till the very end of the war.' [Ganpuley : P--39]

सब से पहले आर्थिक सहायता की व्यवस्था हुई।

सुभाष के लिए व्यक्तिगत वेतन या भत्ता तय हुआ मासिक ८०० पाउन्ड और आजाद हिन्द संस्था के लिए १२,०० पाउन्ड। १९४४ में वही सहायता बढ़ कर हुई थी ३२,०० पाउण्ड। इसके अलावा सेना का खर्च अलग से था।

हाँ, यह सब ऋण के रूप में था। इस ऋण को चुकाने का जिम्मा सुभाष का था जिसे जर्मनी ने मान लिया था। वे सुभाष की सच्चाई पर विश्वास और श्रद्धाभाव रखते थे।'It was a gentleman's agreement made in good faith. It was a personal debt of honour to Bose and the Indian Nation was not made responsible for its re-imbursement.' [Ibid P—38]

अब काम सैनिक इकट्ठा करने का था।

पहले सहयोगी एन० जी० स्वामी और आबिद हसन को बन्दीशाला भेजा,

इस काम के लिए, फिर स्वयं गए।

लेकिन यह काम इतना आसान नहीं था।

पहले कैदियों ने ही मना कर दिया। वे बोले, हमने अंग्रेजों का नमक खाया है। हम उनके विरुद्ध अस्त्र धारण नहीं करेंगे।

इसका मुख्य कारण था अंग्रेजों की कूटनीतिक चाल। उन्होंने सेना में अनपढ़ और अंधविश्वासियों को भर रखा था। क्योंकि अगर शिक्षित व्यक्ति सेना में होगा तो वह कभी भी पलट कर उन्हीं पर वार कर सकता है। अनपढ़ों को चाहिए बस भरपेट खाना, हर महीने वेतन और जीवन के अन्तिम दिनों में पेंशन। इससे ज्यादा वे कुछ पाना भी नहीं चाहते थे। इसीलिए अनपढ़ ही ठीक थे।

इसी सिलसिले में डाक्टर गिरिजा मुखर्जी ने अपने निबन्ध Netaji the great resistance leader में लिखा था—

'The recruitment policy of the British was designed to make the simple Indian peasants when brought into the army, completely immune from any national feeling and inspite of the fact that they had their family roots in our Indian village, yet the British suceeded in indoctrinating them in such a manner as to make them completely indifferent to the upheavals which were going on around them.'

सुभाष सैनिकों के इस विरोधी हाव-भाव से निराश नहीं हुए। बल्कि उन्होंने उनके साथ उठना-बैठना, बोलना-चालना बढ़ा दिया।

इसमें उनकी क्या गलती है? वे गरीब और अशिक्षित हैं। अपने देश को पहचानते तक नहीं है। स्वाधीनता किस चिड़िया का नाम है वह क्या जानें? उन्हें किसी ने जानने भी तो नहीं दिया था।

अब इन्हें नए सिरे से भारत के, भारत की स्वाधीनता के किस्से सुनाने होंगे। नया मन्त्र फूंकना है उनमें। उन्हें बताना होगा—क्या है उनका जन्मसिद्ध अधिकार।

सब से पहले उन्होंने ब्रिटिश एन० सी० ओ० हटवा दिए। ये लोग ही इन सैनिकों को पथभ्रष्ट कर रहे हैं।

इसका परिणाम अच्छा हुआ। पहले दो-चार, उसके बाद झुण्ड के झुण्ड। सुभाष की पुकार सुन कर बढ़ आए—'नेता जी! हमारे नेता जी—बताओ, हमें क्या करना है? तुम आदेश दो।'

डाक्टर गिरिजा मुखर्जी की This Europe पुस्तक की कुछ लाइनें पढ़ो, मल्लिका—

'I saw how the whole audience was coming under his spell and how they were listening....when he had finished they had acquired new life, new animation, new excitement...

उन्होंने एक जगह लिखा है—

'मैंने लगातार हर रोज सुभाष को कैदियों के साथ बातें करते देखा है। उनकी जोशीली आवाज सुनी है।

'एक दिन की बात मुझे आज भी स्पष्ट याद है। उस दिन ड्रेसडेन के धूप से तपते रास्ते पर खड़े वे भारतीय नाविकों से बातें कर रहे थे। अधिकतर श्रोता भारत के विभिन्न भागों के, विभिन्न धर्मों के थे।

'सुभाष का वह कण्ठ स्वर, अनुभूतिपूर्ण स्वर, उनके सुख-दु:ख की कहानी आज भी मेरे कानों में संगीत सी बज रही है। उनके उस दिन के भाषण ने मेरी शिरा-उपशिराओं में जोश भर दिया था। अपने भारतीय नागरिक होने का मुझे गर्व हुआ था।

'सुभाष ने कितनी देर तक भाषण दिया था, नहीं जानता हूँ। शायद घन्टा-डेढ़ घन्टा। भाषण समाप्त हो गया। श्रोता स्तब्ध—उन्हें देख कर लगा कि अचानक उन्हें अपना खोया हुआ नेता मिल गया है—मुक्ति का रास्ता दिखाई पड़ गया है।

एक-एक करके आगे आए और सुभाष से बोले—'आज से तुम हमारे नेता हो। हमारे पथ-प्रदर्शक। हम तुम्हारे आज़ाद हिन्द संस्था के सदस्य हैं आज से। और आज़ाद हिन्द फौज के सैनिक भी।'

आज तक क्या कोई इस तरह से अंग्रेजों की सेना में दरार पैदा कर सका था? क्या गांधी जी या जवाहरलाल उन हिन्दू सैनिकों को राजी करवा सके थे जो अंग्रेजों की सेना में थे कि तुम हमारा साथ दो; हम तुम्हें स्वाधीनता देंगे? ऐसा कर सके थे केवल सुभाष। वे ही सफलतापूर्वक इन राजभक्तों को अपनी ज़रूरत और अपने देश और राष्ट्र की जरूरत के लिए खींच लाये थे।

डा० मुखर्जी के शब्दों में—'inspite of the nationwide struggle for independence which we carried out from 1920 up to 1939, our Indian soldiers seemed completely unaffected. Neither Mahatma Gandhi nor Jawaharlal Nehru was able to pierce through this indoctrination which the British had so carefully fostered in them.

........no one amongst our national leaders, except Subhas Bose, had been able to win over the loyalty and respect of the Indian soldiers and convert them to the national cause. It was Subhas Bose's great contribution that he succeeded where the other national leaders had failed.'

इस बीच देश-विदेश में आज़ाद हिन्द रेडियो काफी लोकप्रिय हो गया था। हर कर्मचारी काम के नाम पर दीवाना हो रहा था। काम, काम और काम।

[illegible] नई बात नया काम, नया [illegible]।

भारतीय स्वाधीनता संग्राम के लिए नया-नया प्रचार। इसी प्रचार के ज़रिए ही तो देशवासियों में चेतना जगानी है। उन्हें उनके कर्त्तव्य का ज्ञान कराना है। हर एक को अंग्रेजों के बारे में बताना है।

७ दिसम्बर १९४१ साल।

उस दिन भी उनका जोश-भरा स्वर गूँज उठा आकाशवाणी द्वारा—

'मैं सुभाष बोल रहा हूँ।

'इतने दिनों से मैं आप लोगों को अपनी बात नहीं बता सका था। मौका भी नहीं था। शत्रुपक्ष मेरे लिए कुछ भी क्यों न रटाएँ, मैं जानता हूँ, आप लोग उन बातों पर विश्वास नहीं करेंगे। मैं अपना कर्त्तव्य करता चलूँगा। कौन क्या कहता है, नहीं कहता है, इससे मेरा कुछ बनता बिगड़ता नहीं।

'अपने साम्राज्य की रक्षा के लिए अगर ब्रिटेन, रूस या अमेरिका का दरवाज़ा खटखटाने में शर्म महसूस नहीं करता है तो भारत अपनी स्वाधीनता प्राप्त करने के लिए अगर किसी की मदद लेता है तो उसमें कोई दोष नहीं।

'आपलोग अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियों को देखते हुए तैयार रहिए। जिस तरह से मैं अंग्रेजों को भौंचक्का बना कर चला आया हूँ, उसी तरह किसी दिन आपके सामने भी पहुँच सकता हूँ!

'जो मौक़े मिल रहे हैं उनका फ़ायदा उठाना चाहिए। जाति या धर्म को भूल कर अविलम्ब एक हो जाइए। एकता और एकाग्रता चाहिए। जयहिन्द।'

सुभाष का भाषण समाप्त होते ही एक भयंकर खबर सुनाई पड़ी।

जापान ने ब्रिटेन और अमेरिका के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी है।

पर्ल हारबर ध्वस्त हो चुका है।

घटना जैसी आकस्मिक थी वैसी ही अप्रत्याशित भी। यह तो किसी ने सोचा तक नहीं था। चर्चिल या रूज़वेल्ट—किसी ने नहीं। प्रधान सेनापति जनरल वावेल ने भी नहीं।

इसका कारण था। चीन के युद्ध में जापान की लाखों सेना फँसी हुई थी। उस पर युद्ध का झमेला वहन कर सके इतनी ताकत कहाँ है? उस पर भी इंगलैंड और अमेरिका के खिलाफ।

उधर रूस इन दिनों अंग्रेजों का मित्र है। कोई बात होगी तो रूस उनकी मदद करेगा ही। रूस का व्लडीवोस्टक बन्दरगाह, जापान की राजधानी टोकियो से ७०० मील की दूरी पर था। आधुनिक ढंग के बमवर्षक हवाई जहाजों के लिए यह दूरी कुछ भी नहीं थी। ऐसी हालत में जापान अपने अन्दरूनी हालातों से कैसे निपटेगा?

दूसरी तरफ था सिंगापुर का अभेद नौ-सेना का अड्डा। उसी से थोड़ी दूरी पर

था हांगकांग का जहाजी अड्डा। इन दोनों अड्डों से हमला करके अंग्रेज दो ही दिन में जापान की नौ-सेना को बेकार कर देंगे—यह कहना ही व्यर्थ है। उस पर है आस्ट्रेलिया, न्यूजीलैण्ड, उलन्दाज द्वीप-समूह, भारत तथा बर्मा का सामरिक सहयोग। इनकी सामूहिक शक्ति के आगे इतना सा जापान कैसे ठहरेगा ?

प्रश्न और भी उठ रहे थे। अमेरिका, रूस या ब्रिटिश साम्राज्य जैसे कच्चे माल पर आत्मनिर्भर हैं, जापान वैसा नहीं है। इस हालत में युद्ध चलेगा कब तक ?

इसके अलावा जापान चारो तरफ से समुद्र से घिरा है। एकमात्र भरोसा किया जा सकता है जल-मार्ग पर। सारी पृथ्वी के साथ जो भी व्यापार-वाणिज्य है वह इसी रास्ते से। युद्ध शुरू होने पर यह रास्ते तो बन्द हो ही जाएँगे।

यद्यपि साल भर पहले (२७ दिसम्बर १९४०) बर्लिन में एक त्रिपक्षीय सन्धि के फलस्वरूप जर्मनी, इटली और जापान परस्पर मित्र बने हैं। परन्तु इससे जापान को फायदा कितना हुआ है ? ये दोनों तो दूर रहते है, तुरन्त मदद भी नहीं कर सकते। इसलिए जापान को अकेले ही युद्ध करना पड़ेगा।

हाँलाँकि असन्तोष का धुँआ बहुत दिनों से उठ रहा था। कारण था—चीन।

बीसवीं शताब्दी के शुरू की बात थी। साम्राज्यवादी ब्रिटिश के लिए चीन उस समय केवल लूट का केन्द्र-मात्र था।

ब्रिटेन से अधिकतर सामान आता था चीन में। रेल, बैंक वगैरह सब उन्हीं के हाथों में था। सिर्फ ५वाँ हिस्सा जापान से आता। अमेरिका से इससे भी कम। सोलह का एक हिस्सा।

धीरे-धीरे रूस, फ्रांस, जापान भी आगे आए। अमेरिका ने कहा कि चीन में 'ओपेनडोर' नीति लागू हो। हर कोई यहाँ व्यापार कर सकता है।

अब इसके परिणामस्वरूप चीन के समुद्री बन्दरगाहों को लीज पर लेने के लिए खींचा-तानी शुरू हो गई। सब यही कहने लगे—हमें चीन पर कब्जा थोड़े ही करना है—हम तो बस शहर और बन्दरगाहों को लीज पर ले रहे है।....

यह सब देख कर जापान का माथा ठनका। बात कुछ ठीक लगी नहीं।

अब वाणिज्य की प्रतियोगिता शुरू हुई। पहले ही मार खायी ब्रिटेन ने। उसका बाजार-भाव धड़-धड़ाता नीचे उतर आया। फायदा हुआ अमेरिका का। ऐसी दशा में अमेरिका के साथ विरोध आरम्भ हुआ। क्योंकि अब वे ६ प्रतिशत की जगह १५ प्रतिशत का लाभ उठाने लगे व्यापार में।

यही विरोध १९२४ साल में और बढ़ गया, जब अमेरिका ने एक घोषणा की।

अमेरिका के कैलिफोर्निया जिले में अनेक जापानी श्रमिक और मजदूरों का निवास था। अमेरिका ही उन्हें जापान से ले आया था क्योंकि जापानी लोग परिश्रमी, कार्यकुशल और कष्टसहिष्णु होते थे। ये अमेरिकन मजदूरों की तुलना में मजदूरी भी कम लेते थे।

१६२४ के कानून में पर दूसरी बात कही गई।

नहीं, अब तुम लोग अमेरिका नहीं आ सकोगे—निषिद्ध है। यहाँ की जमीन-जायदाद का हक भी खत्म हो जाएगा। इन जगहों पर अब अमेरिकनों का हक होगा। अब वापस चले जाओ तुम लोग।

सुनते ही जापान क्षोभ से फट पड़ा।

सारे जापान में, पहली जुलाई को राष्ट्रीय प्रतिवाद दिवस मनाया गया। इसी के साथ हर स्त्री-पुरुष ने प्रण किया कि इस अपमान का बदला लेना ही होगा। ऐसी शिक्षा अमेरिका को देंगे कि वह जिन्दगी भर याद रखेगा।

ठीक दस साल बाद, १६३४ में जापान ने अचानक आवाज उठाई—'हैण्डस् ऑफ चायना।'

तुम लोग चीन से हट जाओ। अपना व्यापार समेटो। समुद्र पार आकर तुम लोग यहाँ अफसरों की तरह रोबदाब दिखाओ यह नहीं होने का। एशिया, एशिया-वासियों के लिए है। तुम लोग अभी निकल जाओ।

१६३७ में चीन-जापान का युद्ध शुरू हुआ। जापान ने अभियोग लगाया था—राष्ट्रपति चांग काई शेक के षड़यन्त्र के कारण चीन धीरे-धीरे एंग्लो-अमेरिकन शक्ति का एक शक्तिशाली केन्द्र बनता जा रहा है। जापान किसी विदेशी शक्ति को इस तरह से, इतने करीब, शक्ति बढ़ाने नहीं देगा।

ब्रिटेन ने, मौका देख कर नवनिर्मित बर्मा रोड के जरिये चीन की मदद करनी शुरू की। दूसरी ओर जापान भी पीछे नहीं रहा। वह भी व्यापार के नाम पर वहाँ अस्त्र-शस्त्र पहुँचाने लगा। इसका कारण था अमेरिका। क्योंकि अमेरिका ने जिस तरह से एशियाई भूखण्ड के मामलों में सिर खपाना शुरू किया है वह खतरनाक है। इस हालत में अमेरिका पर रोक लगाने के लिए जापान को शक्तिलाली बनना होगा।

चीन को हॉलांकि जल्दी ही मौका खोना पड़ा। अंग्रेजों ने जापान के हुंकार से डर कर बर्मा रोड बन्द करके हार मान लिया।

१६३६ साल। युद्ध शुरू हुआ। मन ही मन इंगलैण्ड और अमेरिका डरे। देखा जाए तो लगभग पूरा यूरोप हिटलर की मुट्ठी में था। इधर जापान के लक्षण भी अच्छे नहीं। सबसे बड़ी बात थी—जर्मनी और इटली के साथ वह मैत्री-सूत्र में बँधा था। इस हालत में कब क्या हो जाये, कहना कठिन था।

कूटनीति में, हमेशा ही ब्रिटेन का स्थान ऊपर रहा है। उसका उस समय एक ही लक्ष्य था—अमेरिका। रूस तो पहले ही मुट्ठी में आ चुका है अब अमेरिका चाहिए। ऐसी चाल चलनी है कि अमेरिका युद्ध में फँस जाए। अमेरिका के पास धन बहुत है।

यह बात सच भी थी मल्लिका। प्रथम विश्वयुद्ध में अमेरिका ने किस राष्ट्र को कितना धन दिया था, उधार के रूप में, उसकी एक सूची नीचे दे रहा हूँ—

इंगलैंड	....१३३५९००००००	रुपया
फ्रांस	....१२०७५००००००	,,
इटली	.... ६०६६००००००	,,
बेलजियम	....१२२४५४०००००	,,
रूस	.... ८८१९९८८९९	,,
पोलैण्ड	.... ६२३३१८५७८	,,
चेकोस्लोवाकिया	.... ५१९२१७०६९	,,
रूमानिया	... १९५४८१६८०	,,
यूगोस्लोविया	... १८६७५००००	,,
ग्रीस	.... ९७२९६०००	,,
आस्ट्रिया	.... ७३८४४६५५	,,
हंगेरी	.... ५७९४६८०	,,
कुल योग	४६३२९१४७४६१	रुपया

ऐसा एक पूंजीपति राष्ट्र अपने दल में रहे, कौन नहीं चाहेगा ? इस काम के लिए इंगलैंड ने सोच-समझ कर मोहरे डाले। १९४१ के २५ जुलाई को पहली चाल चली। अचानक ही आदेश जारी किए कि ब्रिटिश साम्राज्य में जहाँ कहीं भी जापानियों की धन सम्पत्ति हो उसे जब्त किया जाए।

दूसरे ही दिन अमेरिका ने भी यही किया। उस समय वहाँ के राष्ट्रपति रूजवेल्ट थे।

जापान कब चुप रहने वाला था ? उसने भी तुरन्त अंग्रेजों और अमेरिकनों की सारी धन-सम्पत्ति जब्त कर ली।

इतना करना भर था कि दोनों राष्ट्र घबड़ा गए। उन्होंने जापान से कहा कि हम झगड़ा नहीं चाहते। आओ, बातचीत द्वारा मामला सुलझा लिया जाए।

बातचीत शुरू हुई अमेरिका के वाशिंगटन में। टोकियो से विशेष दूत मिस्टर कूरूसो और राजदूत एडमिरल नोमूरू गए। दूसरी तरफ थे प्रेसीडेन्ट रूजवेल्ड, परराष्ट्र मंत्री कर्डेल हॉल और अन्य सदस्यगण।

महीना बीत गया परन्तु बातचीत खत्म नहीं हुई।

होती भी कैसे ? जापान बाहर से चाहे जो हाव-भाव प्रदर्शित कर रहा हो, भीतर ही भीतर वह तैयारी करने में लगा था।

१९४१ साल की २ दिसम्बर को सुबह ठीक आठ बजे जापान ने इंगलैंड और अमेरिका को अपने अपमान का जवाब दिया।

सौन्दर्य भूमि हवाई द्वीप में अमेरिका का सबसे बड़ा नौ-सेना का अड्डा पर्ल

हारबर स्थित था। जैसा सिंगापुर अंग्रेजों की नौ-सेना का ठिकाना था उसी तरह अमेरिका का पर्ल हारबर।

उस दिन पर्ल हारबर में, प्रशान्त महासागरीय नौ-सेना के कुल छियासी जहाज लंगर डाले खड़े थे।

आठ बड़े बैटल-शिप थे—नेवादा, वेस्ट वर्जिनिया आरिजोना, ओक्लाहोमा, कैलिफोर्निया, मेरीलैंड, टेनेसी और पेन्सिलवेनिया।

सात क्रूजर, अट्ठाइस डेस्ट्रायर। सबमेरीन पाँच। इसके अलावा माईन बिछे जहाज और दूसरे तरह के अनेकों जहाज थे।

६ दिसम्बर। बहुत रात थी, फिर भी उत्साह और हो-हल्ले की कोई कमी नहीं। अधिकतर नाविक तथा अफसर, जहाज से नीचे उतर गए थे। कोई सिनेमा हॉल में, कोई मधुशाला में, कोई नाइट-क्लब में।

ब्लेक-आउट का कोई सवाल नहीं। लड़ाई यूरोप में छिड़ी है, यहाँ क्या परेशानी है? इसलिए हर कोई निश्चिन्त था। जहाँ चाहे घूमो, जो चाहे खाओ, जिधर चाहो उधर जाओ।

रात खत्म होने वाली थी। केवल एक डेस्ट्रायर पहरे पर था। अब वह भी लौटने वाला था।

सबसे पहले खबर दी एक माईन सुइपर ने। कुछ ही देर पहले उसने एक अज्ञात सबमेरीन देखी है।

कुछ देर तक ढूंढ़ाई हुई, इधर-उधर तलाशा गया, लेकिन कहीं कोई सबमेरीन नहीं। जरूर देखने में गलती की थी माईन सुइपर ने।

इसी के कुछ देर बाद खबर आई 'एन्टोआर्प' से। कुछ क्षण पहले उसने एक सबमेरीन देखा है। और सबमेरीन को रोकने के लिए पानी में नीचे जो जाल बिछाया था वह छिन्न-भिन्न हालत में है।

सुबह के सात बजे थे। इस बार पहरे पर नियुक्ति जहाज 'बार्ड' ने स्वयं देखा। हाँ, सबमेरीन ही है। पानी के ऊपर उसका पेरिस्कोप दिखाई पड़ रहा है।

ठीक है, तैयार हो जाओ। रेडी। डेप्थ-चार्ज। इसी के साथ कान के पर्दों को भेदती आवाज—धाँय!

पेरिस्कोप फिर दिखाई नहीं पड़ा। सबमेरीन घायल हुआ या नहीं, यह भी पता नहीं चल पाया।

कुछ समय और बीता। अचानक कुछ देख कर हवाई अड्डे पर नियुक्त कर्मचारी भयंकर रूप से चौंक पड़ा। रॉडार के पर्दे पर बिन्दु-बिन्दु से अस्पष्ट कुछ चिन्ह उभर रहे हैं। क्या हैं ये चिन्ह?

'हैलो, हैलो! हैलो इनफ़ार्मेशन सेन्टर! मैं रॉडार स्टेशन से बोल रहा हूँ। रॉडार के पर्दे पर न जाने कैसे कुछ धुंधले चिन्ह दिखाई पड़ रहे हैं। अभी भी लगभग पौने दो सौ मील दूर है यह चिन्ह। लग रहा है अनगिनत हवाई जहाज हैं।'

'तुम्हारा सिर।' ब्रेकफास्ट खाते-खाते इनफॉर्मेशन सेंटर के अफसरों ने अवहेलनापूर्वक कहा—'लगता है रात का नशा उतरा नहीं है।'

'विश्वास मानिए, मैं नशे में नहीं हूँ। सचमुच हवाई जहाज ही इधर बढ़ रहे है।'

'तो फिर आने दो।'

'प्लीज, मेरी बात पर यक़ीन कीजिए। सचमुच बहुत सारे हवाई जहाज हैं। एक-आध नहीं, ढेर सारे हैं। इधर ही आ रहे हैं।'

'आने दो। अवश्य ही वह हमारे ही हवाई जहाज हैं। किसी विमानवाही जहाज से, ट्रायल के लिए उड़ान भर रहे होंगे।'

'देख कर तो ऐसा नहीं लग रहा है। माई गॉड ! ये तो जापानी प्लेन हैं।'

'व्हॉट—? जापानी प्लेन ?'

खा-पीकर कमर में बेल्ट बाँध भी न पाए थे कि भयानक गोलाबारी शुरू हो गई।

पहला बम गिरा २९,००० टन के विशाल बैटल-शिप 'नेवादा' के ऊपर। उस समय राष्ट्रीय झण्डा फहराया जा रहा था, राष्ट्रीय धुन पर। लेकिन इससे पहले ही युद्धपोत भयंकर वेग से थरथरा उठा....और उसके बाद ही विस्फोट हुआ।

ध्वंस, ध्वंस और ध्वंस। एक बार नहीं रह-रह कर बार-बार। झुण्ड के झुण्ड हवाई जहाजों द्वारा लगातार पौने दो घंटे तक। सिर्फ मृत्यु और नाश।

शुरू हुआ था आठ बजे। काम समाप्त करके जहाज अपने अड्डे पर जब वापस पहुँचे, नौ बज कर पैंतालीस मिनट हुए थे।

उस ध्वंस स्तूप में से अमेरिका का पर्ल हॉरबर ढूँढ़ निकालना कठिन हो गया। नुकसान भी बहुत हुआ था। कुल आठ बैटल-शिपों में से पाँच प्रशान्त महासागर में डूब गए—वेस्ट वर्जिनिया (३२,००० टन) कैलीफोर्निया (३२,००० टन) एरिज़ोना (३२,००० टन) ओक्लाहोमा (२९,००० टन) और नेवादा (२९,००० टन)। बाकी बचे तीनों को इतनी मार पड़ी थी कि वे किसी काम के नहीं रह गए।

तीन डेस्ट्रायर और तीन क्रूजर नष्ट हो गए। दो बरबाद हो गए। दो माईन बिछे जहाज भी। एक पानी पर तैरते रहने वाला ड्राईडेक भी गया।

नौ-सेना के २३२ हवाई जहाजों में से ८० खत्म हो गए और ७० टूट-फूट कर काम के लायक नहीं रहे। सेना के २७३ हवाई जहाजों में से ९७ बिल्कुल ही नष्ट हो गए।

इसी प्रकार निहतों की संख्या भी कम न थी। नौ-सेना के हताहतों की संख्या ही थी २, ११७ और जिनका पता नहीं चल रहा था उनकी संख्या थी ९६०। घायल हुए थे ९७६। सेना के मृतकों की संख्या थी २२६ और घायल ३९६।

जापान की क्षति और मृतकों की संख्या बहुत कम थी। इस पर्ल हारबर पर हमला करने के लिए ३९३ हवाई जहाजों का प्रयोग किया गया था, जिनमें से केवल

२६ नष्ट हुए थे।

उधर अमेरिका में दो-पक्षीय बातचीत का दौर पूर्ववत् जारी था। वही खाना-पीना, वैसी ही खातिरदारी।

अचानक संसार भर के आकाशवाणी केन्द्र एक स्वर में चीख उठे—

'वॉर! वॉर! उवाँहू बॉम्ड बाई जापानी प्लेन। जापान ने युद्ध की घोषणा कर दी है। पर्ल हारबर नष्ट हो गया है।'

दूसरे ही दिन अमेरिका ने जापान या यूँ कहा जाए तीनों मित्र राष्ट्रों के विरुद्ध युद्ध की घोषणा की। जर्मनी ने पलट कर अमेरिका के खिलाफ युद्ध घोषित कर दिया। फलस्वरूप न सिर्फ यूरोप में, अब एशिया में भी युद्ध की आग भभक उठी।

इस समाचार से ब्रिटेन खुशी से नाच उठा। अब जाकर चाल सफल हुई। बिछाए हुए जाल में शिकार स्वयं आ फँसा है।

अब अमेरिका सामने आ गया है। हम आराम से छिप कर बैठ सकते हैं। हिस्सेदारी के वक्त देखा जाएगा।

'Timing is the first act of war.' रणनीति का यह मूलमन्त्र था। जर्मनी ने यह प्रमाणित कर ही दिया था, अब जापान ने भी सिद्ध कर दिखाया।

ब्रिटेन अपने घरेलू मामलों में बुरी तरह उलझा था। उसकी सारी सैनिक शक्ति देशरक्षा के काम में लगी थी।

अमेरिका का भी वही हाल था। प्रत्यक्ष रूप से न सही, अप्रत्यक्ष रूप से उसकी अधिकांश नौ-सेना व्यस्त थी ब्रिटेन को नाना प्रकार के युद्ध के सामान, खाद्यपदार्थ पहुँचाने में। इसीलिए यही है शुभ-मुहूर्त।

योजनानुसार पहला आक्रमण किया उसने प्रशान्त महासागर में, अमेरिका के श्रेष्ठ जहाजी अड्डे पर्ल हारबर पर। उसी के साथ आक्रांत हुआ हाँगकाँग, गुयाम, वेक और फिलिपाइन्स की राजधानी मैनीला। इसी तारीख को जापान ने चीन की विशाल नगरी शंहाई पर अधिकार कर लिया।

उस बार तो आश्चर्य से दुनिया देखती रह गई। जर्मनी की पैनजर सेना ने भी शायद इतनी फुर्ती नहीं दिखाई थी।

पर्ल हारबर ७ दिसम्बर १९४१ में नष्ट हुआ और उसके दूसरे ही दिन अमेरिका ने युद्ध की घोषणा की। उसी दिन कनाडा, बेलॅन्दाज उपनिवेश, दक्षिणी अफ्रीका, आस्ट्रेलिया और न्यूजीलैण्ड ने इन त्रिशक्ति के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी। शुरू हुआ विश्वयुद्ध।

इधर जापान तब तक इन्डोचीन से होते हुए थाइलैण्ड के भीतर पहुँच चुका था। एक दूसरा जत्था जा पहुँचा था मलय देश के सिंगोरा और पाटानी बन्दरगाह पर।

९ तारीख को जीत लिया गिलवर्ट द्वीप।

और १० तारीख को ?

उस शर्मनाक पराजय की बात शायद ही अंग्रेज कभी भूल सकें।

ब्रिटिश नौ-सेना का सबसे शक्तिशाली बेटल-शिप 'प्रिंस ऑफ वेल्स' और 'रिपल्स' उस समय सिंगापुर में थे। केवल दो सप्ताह पूर्व राजनैतिक गतिविधियों को देखते हुए इन जहाजों ने आकर सिंगापुर में लंगर डाला था। 'प्रिंस ऑफ वेल्स' दो साल पहले ही करोड़ों रुपए की लागत से बनाया गया ३५ हजार टन का विशाल बेटल-शिप था। उसकी गति भी कम न थी। ३० नॅट से भी अधिक थी। अस्त्र-सज्जा देखने लायक थी। चौदह इंच वृत्त वाले विशाल तोप थे दस। अन्य विभिन्न आकारों के १६ तोप और थे। यूं कहना गलत न होगा कि एक बहता हुआ किला था।

आत्मरक्षा का भी पूरा प्रबन्ध था। १६ इंच की ठोस लोहे की चादर से जहाज का सारा भाग ऐसे ढंका था कि कितने भी बम क्यों न बरसें एक दरार तक नहीं पड़ेगी।

३२ हजार टन का विराट् बेटल-शिप रिपल्स भी कम न था। उसमें ६ बड़े-बड़े तोप लगे थे, जिनका घेरा १५ इंच था। और १२ दूसरे तोप थे।

एडमिरल सर टॉम फिलिप्स उस समय ब्रिटिश नौ-सेना के सेनापति थे।

जापानियों के मलय हमले की खबर सुन कर सेनापति इन दोनों बेटल-शिपों के साथ उस तरफ चल दिए।

उस दिन मंगलवार था। सुबह से ही पानी बरस रहा था। जैसे तो बादल थे, वैसा ही कोहरा छाया था। शत्रु की नज़र को धोखे में डालने का यही अच्छा मौका था।

शाम को बादल छँट गए। सूर्यास्त—चारों ओर लाली छा गई। आकाश और समुद्र लाल हो उठा। ठीक उसी समय, प्रशान्त महासागर के पानी में, धीरे-धीरे एक सबमेरीन का पेरिस्कोप बाहर निकल आया।

बस, क्षण भर के लिए। उसके बाद ही फिर पेरिस्कोप पानी में अदृश्य हो गया। इस घटना की खबर न तो 'प्रिंस ऑफ वेल्स' को लगी, न रिपल्स को।

और कुछ समय बीता। दोनों जहाजी बेड़े उसी रफ्तार से बढ़ते चले जा रहे थे।

सहसा जहाजों के सारे साइरन बज उठे....खतरा-खतरा....जल्दी तैयार हो जाओ। होशियार, जहाज के रॉडार में एक सफेद निशान दिखाई पड़ा है। जापानी हवाई जहाज इधर आ रहा है।

'जापानी हवाई जहाज ? वह भी एक ?' अवहेलनापूर्वक हँसे एडमिरल सर टॉम फिलिप्स—'आने दो, आने दो। एक क्यों हजार आएँगे तो भी 'प्रिंस ऑफ वेल्स' का कुछ नहीं बिगाड़ सकेंगे। हमारी विध्वंसकारी तोपें तैयार है।'

लेकिन वह हवाई जहाज दायरे के भीतर आया ही नहीं। दो-एक चक्कर लगा कर फिर लौट गया।

निश्चिन्त होकर दोनों जहाज बढ़ते रहे। कुछ समय बीता होगा कि रिपल्स से कैप्टन विलियम टेनैन्ट की आवाज सुनाई पड़ी लाउडस्पीकर से—'मुझे लग रहा है कोई छिप कर हमारी हर गतिविधि पर नजर रख रहा है।'

'ऐसा लगने का कारण?' सर टॉम फिलिप्स ने पूछा—'तुमने क्या कुछ देखा है?'

'नहीं, लेकिन शक हो रहा है।'

'तुम ठीक कह रहे हो। शक मुझे भी हो रहा है। ऐसा करते हैं, मलय नहीं जाएँगे। चलो, सिंगापुर लौट चला जाए। और हाँ, जहाज के तोप तैयार रखना।'

दोनों जहाज, रात के अंधेरे में अपना रुख बदल कर फिर सिंगापुर की तरफ लौट चले। परन्तु सभी बड़े उद्विग्न थे।....पलक तक झपकाना भूल गए सब।

उस समय 'प्रिंस ऑफ वेल्स' और 'रिपल्स' चले जा रहे थे दक्षिण चीन सागर के ऊपर से।

अचानक फिर साइरन बज उठा....जहाज के राडार पर फिर रुपहले चिह्न उभर आए हैं, लेकिन इस बार एक-दो नहीं—पूरे साठ।

आगे-आगे था निरीक्षणकारी जहाज और ठीक उसी के पीछे जापान का सबसे शक्तिशाली 'मित्सुविसी ९६' डाइव-बॉम्बर।

'होशियार।' लाउडस्पीकर पर सतर्क रहने के लिए कहा गया—'तैयार हो जाओ। ध्वंसात्मक तोप तैयार रखो। आ गए हैं। और पास। चार्ज....'

धाँय! धाँय! धाँय! न....जरा भी सुविधा नहीं हुई। लगभग सत्रह हजार फुट ऊपर हैं ये हवाई जहाज....

'बु....म....म्....म्....म्।' सहसा ही प्रिंस ऑफ वेल्स भयंकर रूप से काँप उठा एक विस्फोट की आवाज से। केवल धुंआ ही धुंआ। सभी कुछ ढँक गया था काले धुंए के पीछे।

धुंआ कम हुआ तो पता चला। नहीं, कोई विशेष क्षति नहीं हुई है। होना भी नहीं चाहिए। दोनों तरफ इतनी मोटी लोहे की चादर लगी है, साधारण-सा एक बम क्या नुकसान कर सकता है।

स्स्स्स्...सर-सर...सुन कर जहाज का हर प्राणी चौंक पड़ा।

समुद्र के पानी पर सरसराता हुआ विद्युतगति से यह क्या भागता आ रहा है? इधर ही?

सर्वनाश! यह तो टर्पेडो है। एक दो नहीं हजारों—दाहिने, बाएँ, इधर-उधर ....हर तरफ से। हजारों-हजारों टर्पेडो। बचो, जल्दी से टेढ़े-तिरछे हो कर बचने की कोशिश करो।

लेकिन ऐसा सम्भव कहाँ था? और फिर ये टर्पेडो आ कहाँ से रहे हैं? हवाई

जहाज से ? कैसे ? टर्पेडो तो केवल सबमेरीन ही फेंक सकते हैं।

प्रिंस ऑफ वेल्स ने सिग्नल द्वारा रिपल्स से पूछा—'क्या हाल है ? सुरक्षित हो न ?'

'हाँ, फिलहाल तो १६ टर्पेडो से बचा सका हूँ आगे भगवान् जाने। तुम्हारा क्या हाल है ?'

'ठीक है।'

'धाँय'—कहते ही कहते सहसा एक टर्पेडो तीर की तरह आ कर लोहे की चादर से बिंध गया। व्यर्थ....था....प्रिंस ऑफ वेल्स का बाल बाँका करना इतना आसान काम नहीं है।

तीन घंटे बीत गये। यद्यपि जापानी लोग कुछ बिगाड़ नहीं सके, परन्तु उन्होंने हिम्मत भी नहीं हारी थी। इस बीच उनके भी छह बमवर्षक हवाई जहाज नष्ट हो गए थे।

जापानी हवाई जहाजों ने तय कर लिया था कि जैसे भी हो अकेले में इन दोनों ब्रिटिश बेटल-शिपों का खात्मा करना ही होगा।

पर कैसे ? इतने मजबूत, अपराजेय जहाजों को नष्ट कैसे किया जाए ? एक ही उपाय है। अगर किसी तरह इनकी चिमनी में बम फेंका जाए या टर्पेडो घुसाया जा सके तो हो सकता है कि सीधे इंजन-कक्ष में जा कर विस्फोट करे। पर इतनी ऊँचाई से वह निशाना साधेगा कौन ?

अचानक एक झुण्ड 'मित्सुबिसी ९६' हवाई जहाज नीचे उतर आए—ठीक प्रिंस ऑफ वेल्स के ऊपर। उसके बाद ही शुरू हुई असली लड़ाई। बमवर्षकों का लक्ष्य—जहाज की दो विशाल चिमनियाँ थीं। विमान ध्वंसकारी तोपें उन्हें मौका देने को तैयार नहीं—क्योंकि पूरे जहाज में यही तो दो कमजोर स्थल थे।

जापानी ठहरे पैदाइशी योद्धा। जान की बाजी लगाना उनके लिए खेल-मात्र था। यह बात प्रमाणित भी हो गई।

जब कुछ नहीं कर सके तो अचानक कुछ जापानी हवाई जहाज गोता लगा कर नीचे आए और जोरों से टक्कर लगाई दोनों चिमनियों में। बस....इतना काफी था—प्रिंस ऑफ वेल्स भयंकर विस्फोट के कारण हिल उठा। उसके बाद तो विस्फोट पर विस्फोट ....धाँय-धाँय-धाँय-धाँय। जहाज एक तरफ ढल गया जिससे पानी भरने लगा। डूबने में अब देर नहीं....

'हेल्प, हेल्प ! प्लीज हेल्प', रिपल्स की दशा और भी अधिक शोचनीय थी। मार खाते-खाते अन्तिम समय आ गया था। वह भी मदद को रो रहा था, गिड़गिड़ा रहा था दुनिया के आगे।

रिपल्स के डेक पर उस समय असंख्य मृत सैनिक पड़े थे। यह जहाज भी एक ओर लुढ़क चुका था। इसी समय कैप्टन टेनेन्टे का अन्तिम आदेश सुनाई पड़ा—

'All hands on deck. Prepare to abandon ship. God be with you.'

निर्देशानुसार हर कोई आकर डेक के चारों ओर जमा हुए। उसके बाद भगवान् का नाम लेकर प्रशान्त महासागर के सीने पर बहते तेल की दरिया में बीस फुट ऊँचाई से कूद पड़े।

अचानक ही प्रिन्स ऑफ वेल्स समुद्र के सीने में समा गया—सदा-सदा के लिए।

दोनों जहाजों में कुल मिला कर २९२५ व्यक्ति थे, जिनमें से २३०० को बचाया जा सका। नौ-सेना के सेनापति एडमिरल सर टॉम फिलिप्स और प्रिंस ऑफ वेल्स के कैप्टन जे० सी० लीच को बचाया न जा सका। न जाने वे दोनों कहाँ डूब गए। बच गए रिपल्स के कैप्टन विलियम टेनैन्ट। उन्हें रक्षाकारी एक डेस्ट्रायर ने बचाया।

इन दोनों बैटल-शिपों को गँवा कर चर्चिल ने कहा था....their loss alters the whole balance of naval power in Malayan waters in favour of Japan.' बात तो ठीक ही थी। इन दोनों जहाजों के कारण नौ-शक्ति का सन्तुलन बिगड़ गया और जापान के हित में रही यह बात। पर्ल हॉरबर और इन दोनों ब्रिटिश बैटल-शिपों के नष्ट हो जाने से जापान के लिए जलमार्ग खुल गया। वह अपनी इच्छा से यत्र-तत्र विचरण करने लगा।

१० दिसम्बर को प्रिंस ऑफ वेल्स तथा रिपल्स ध्वस्त हुए और ११ दिसम्बर को गुयाम द्वीप जापान के अधिकार में चला गया। १४ तारीख को जापानी सेना फिलिपाइन के दक्षिणी इलाके लूजन तथा दक्षिणी बर्मा की सीमा के पास विक्टोरिया पॉयेन्ट पर जा कर उतरी। दूसरी तरफ हाँगकाँग पर व्यापक हमले होने लगे। १५ तारीख को हाँगकाँग चारो ओर से घिर गया। कोई रास्ता न रहा—न जलमार्ग, न स्थलमार्ग।

हाँगकाँग और चीन की जमीन छूती थी। बस, बीच में एक संकीर्ण जलमार्ग था। उसी के उत्तरी प्रान्त मे था कौलून। जपानियों ने पहले कौलून पर कब्जा कर लिया। अब हाँगकाँग।

दूसरी ओर नतमस्तक होना पड़ा बोर्नियो द्वीप के साराओया को। उद्देश्य था कि अमेरिका और ब्रिटेन की नौ-सेना मिलने न पाए।

इधर कौलून की पहाड़ी पर तोप चढ़ा कर जापानी लगातार हाँगकाँग पर गोले बरसा रहे थे। उन्हीं के साथ जहाज के तोप भी बम वर्षा कर रहे थे।

उधर विक्टोरिया पॉयेन्ट पर भयंकर युद्ध छिड़ा था। दक्षिणी बर्मा या उत्तरी मलय—कोई भी युद्ध के उपयुक्त जगह न थी। यह जगह जंगल और पहाड़ों से ढँकी थी। रास्ते भी संकीर्ण और बहुत कम ही थे।

जापानियों के लिए तो यह सुविधाजनक था, क्योंकि वे 'जंगल-युद्ध' में बड़े कुशल थे। मलय और बर्मा में घुसते चले जा रहे थे वे। इसी के साथ-साथ अंग्रेजों की सेना पीछे खिसकती जा रही थी। 'सफलतापूर्वक पीछे हट' रही थी। अंग्रेज कहते.... 'फलाँ जगह, शत्रु-पक्ष को भयंकर क्षति पहुँचाते हुए सफलतापूर्वक हम पीछे हटे हैं।'

२१ दिसम्बर को जापानी सेना फिलिपाइन के मिन्दानाओ द्वीप में उतरी। २२

को व्येक द्वीप में। उसके बाद ही इनके हवाई दस्ते ने रंगून पर हमला किया। २३ दिसम्बर का दिन था वह।

अचानक ही शहर के सारे साइरन बज उठे। 'हवाई जहाज! हवाई जहाज! जापानी हवाई जहाज झुण्ड के झुण्ड चले आ रहे हैं। जल्दी से जाकर सब कोई सुरक्षित स्थानों में छिप जाओ। बाहर मत निकलना। होशियार!'

उस समय तक रंगूनवासियों को पता नहीं था कि हवाई जहाज का हमला होता कैसा है। इसीलिए मजा लेने के लिए चेतावनी के बावजूद लोग घरों से बाहर निकल आये।

उस दिन करीब-करीब एक हजार लोगों ने बम और मेशीनगन की गोली के आगे प्राण दे दिए।

उधर सात दिन तक आत्मरक्षा करते-करते अन्त में २५ दिसम्बर को हांगकांग ने आत्मसमर्पण कर दिया।

उपाय भी नहीं था। पानी के लिये उन्हें निर्भर रहना पड़ता था पहाड़ी जल-धाराओं पर। उन पर जापानियों का अधिकार हो गया था। खाने-पीने की सामग्री पर भी। हार कर हांगकांग के गवर्नर सर मार्क यँग ने जापानियों के आगे आत्म-समर्पण कर दिया। यही नहीं, हिन्द महासागर में स्थित पेनांग का जहाजी अड्डा भी जापानियों के हाथ चला गया।

फिर भी पेनांग से ज्यादा हांगकांग का महत्व था। खास तौर से सिंगापुर का जहाजी अड्डा इससे बड़ा सुरक्षित था। अब तो जापान सिंगापुर भी ले लेगा।

लेकिन सिंगापुर अभी भी अभेद्य है, क्योंकि वहाँ इतने अधिक लड़ाकू जहाज मौजूद हैं।

२५ दिसम्बर को हांगकांग जीतने के बाद २ जनवरी को फिलिपाइन की राजधानी मैनीला, ११ को मलय का प्रमुख नगर कुयालाल्मपुर, १८ को टेवॉय।

२२ जनवरी को जापान और अमेरिका की नौ-सेना के बीच घनघोर युद्ध हुआ। अमेरिका के साथ रह कर बलन्दाज सबमेरीन और जहाजी बेड़े ने भी युद्ध में भाग लिया। यह लड़ाई चार दिन तक लगातार चलती रही। चार सैनिक ले जाने वाले जहाज नष्ट हुए जापान के। अमेरिका की क्षति अज्ञात रह गई।

२३ जनवरी को जापान ने न्यूगिनी रावाउल जीता। २४ तारीख को नया अभियान शुरू हुआ—दक्षिण बोर्नियो और सेलिविस द्वीप केन्डारी में।

३० तारीख को पतन हुआ वेलन्दाज जहाजी अड्डा ऑम्बयाना का।

मलय में एक सी स्थिति बनी हुई थी। सारी मुसीबतों, पहाड़, जंगल, नदी-नाले पार करती जापानी सेना बढ़ती जा रही थी। ब्रिटिश सेना का हर जगह एक ही हाल था। हर जगह पीछे हट रही थी। इसका कारण था। ब्रिटेन और अमेरिका की सम्मि-

लित शक्ति भी जापानी शक्ति के आगे नगण्य थी। खास कर हवाई-शक्ति तो अतुलनीय थी। जापान की इस बढ़ती हुई हवाई-शक्ति का ज्ञान इंगलैण्ड या अमेरिका, किसी को न था।

इसके अलावा, जापानी चतुर थे। वे जंगलों में युद्ध करने में इतने कुशल हो सकते हैं कोई सोच भी नहीं सकता था। तरह-तरह का रूप धर कर, कभी रबर के बाग का कुली, कभी मछुआरा, कभी साधारण ग्रामीण के रूप में सैनिक सिर पर जा पहुँचते। यही हाल इन्होंने बर्मा में कर रखा था।

विक्टोरिया पॉयेन्ट और टेवय जापानियों ने पहले ही जीत लिया था। रंगून और मौलमिन में बमबारी हो रही थी।

३१ तारीख तक पेनांग, केडा, सेलांगगढ़, सिंगोरा, कुरान्टान वगैरह जापानियों के कब्जे में चले गये। चला गया सम्पूर्ण मलय देश।

उस समय ब्रिटिश पूरी तरह से निर्भर था पाँच देशों की सेना पर—भारत, मलय, कनाडा, आस्ट्रेलिया और अपनी। धक्के खा कर यह सेना तितर-बितर होती सिंगापुर की ओर खिसकने लगी।

मलय का जहोर राज्य और सिंगापुर के बीच एक पुल। बस, उसी को पार करना था। पार करते ही चिन्ता मुक्त हो जाएँगे सब। वहाँ आत्मरक्षा के हजारों प्राकृतिक ठिकाने हैं।

इसके अलावा है बहने वाला डक, सूखा डक, हवाई जहाज उतरने की जगह, समुद्र के किनारे का रक्षा-दल, तोपें, गुप्त मशीनगन का अड्डा, पेट्रोल और कोयला रखने की जगह—सभी कुछ था।

इस जहाजी ठिकाने का निर्माण कार्य शुरू हुआ था १९२३ में। बन कर तैयार हुआ है १९३९ साल में। इस पर खर्च बैठा था एक करोड़ सत्तर लाख पाउन्ड।

समुद्र के किनारे फिट किया गया था पन्द्रह और अट्ठारह इंच की परिधि के दूर तक बम बरसाने वाले तोपों को। ये तोप दुनिया में सबसे बड़े तोप थे।

तेल की टंकियाँ सुरक्षित रखने की व्यवस्था जमीन के नीचे है। अस्त्रागार और रसद भी उसी तरह से सुरक्षित हैं। इसलिए अगर लम्बी अवधि तक बन्द रहना पड़े तब भी असुविधा न होगी।

लेकिन कोई कुछ न कर सका। जापानियों की चतुराई के आगे एक न चली।

सिंगापुर जहाजी अड्डा होने के कारण आत्मरक्षा और आक्रमण की जो भी व्यवस्था हुई थी वह समुद्र के किनारे ही थी। तोपें, मशीनगन—सभी का मुँह था समुद्र की ओर। क्योंकि अंग्रेजों की धारणा थी कि सिंगापुर पर जब भी हमला होगा, जलमार्ग ही से होगा।

जापान ब्रिटेन की इस अक्ल की बात को जानता था। इसीलिए जलमार्ग से न आ कर आया मलय हो कर—स्थलमार्ग से।

परन्तु अब तो जैसे भी हो सके जापानियों को रोकना ही होगा। सिंगापुर चला गया तो जहाजी सेना समाप्त हो जाएगी।

३० जनवरी १९४२ साल। काफी रात थी। फिर भी मलय से आए सैनिक, छोटे-छोटे झुण्डों में, जहोर प्रणाली वाले पुल से सिंगापुर की ओर बढ़ते जा रहे थे।

वह रहा सिंगापुर। वहाँ पहुँच भर जाएँ...फिर कोई डर नहीं। पाँव उठ नहीं रहे थे, शरीर साथ नहीं दे रहा था फिर भी चलना ही था।

अचानक सारा द्वीप थरथरा उठा। एक के बाद एक, दो भयंकर विस्फोट हुए। इसी के साथ वह पुल पलक झपकते, टूट कर छिन्न-भिन्न हो गया।

जापानी आ गए।

कल तक वे अट्ठारह मील दूर थे, लेकिन आज तो सिर पर आ पहुँचे हैं। इस पुल को डिनामाइट से उड़ा देने के अलावा चारा क्या था?

फिर भी कोई सुविधा नहीं हुई।

उधर जहोर इधर सिंगापुर। न सही पुल—दूरी है ही कितनी? जब हाथ में आ ही गए है तब छोड़ा क्यों जाए? तोप, मर्टार की मदद से लगातार बम वरसा होने लगी। द्वीप को ध्वंस किया जाने लगा। उस पर तीर से आते बमवर्षक हवाई जहाज, टिड्डियों की तरह बम गिरा कर भाग जाते।

इधर ब्रिटिश सेना के पास नहीं के बराबर हवाई जहाज रह गए थे। हेड क्वार्टर्स से माँग की गई—'तुरन्त, अभी हवाई जहाज भेजो।'

लेकिन कहाँ हवाई जहाज। खजाना तो खाली था।

आक्रमण का दूसरा दौर शुरू हुआ ६ फरवरी की रात ग्यारह बजे। सिंगापुर की सारी सर्चलाइटें उस समय जहोर प्रणाली को प्रकाशित कर रही थीं। ऊपर जापानी हैं, उनकी गतिविधि पर नजर रखना बहुत जरूरी है।

अचानक ही भयंकर गोलाबारी शुरू हुई। सर्चलाइट का तोड़ना शुरू हुआ। एक के बाद एक सारी सर्चलाइटें टूट गईं। एक बची थी, उसे भी तोड़ कर ही चैन की साँस ली।

लेकिन इससे पहले ही सिंगापुर के पीछे की रक्षात्मक सेनावाहिनी भयंकर रूप से चौंक पड़ी।

नाव ही नाव—जिधर देखो उधर ही नाव।

जहोर प्रणाली के ऊपर में करीब पचास रबर की नावें तीर की तरह दौड़ती चली आ रही हैं। हर-एक में तीस-तीस जापानी सैनिक थे और था मध्यम आकार का टैंक।

'जापानी आ गए है। बचो, होशियार! तैयार हो जाओ।'

लेकिन सब व्यर्थ था। भयंकर गोलाबारी की आड़ लेकर तब तक जापानी सेना

तट पर उतर चुकी थी। उसके बाद ही शुरू हुआ आक्रमण।

लगातार युद्ध करते-करते, मलय से लौटे भारतीय सैनिक थक कर चूर-चूर थे। कुछ लोग बीमार भी थे। दो महीने से एक मिनट के लिए भी सुस्ताने का समय नहीं मिला था। इस बार भी हमेशा की तरह उन्हें सबसे सामने की कतार में खड़ा कर दिया गया।

'आगे बढ़ो। तुम सब किराये के सैनिक हो।'

मन ही मन आहत हुए बेचारे, पर उपाय ही क्या था? इधर परिस्थिति हाथ से बाहर निकलते देख कुछ अंग्रेज अफसर आस्ट्रेलिया की तरफ फूट लिए थे। सबसे पहले भागे प्रधान सेनापति जनरल वॉवेल! जल्दी-जल्दी में पसली की एक हड्डी भी टूट गई, फिर भी जान तो बच गई।

भारतीय सैनिक जिस समय तोप के गोलों से भुन रहे थे उस समय आस्ट्रेलिया के श्वेतांग सैनिक लूट-मार और बलात्कार में जुट गए थे। वे शहर पहुँचे थे जाकर।

'Australian Comrades were abandoning their positions and runing away to take part in the indiscriminate looting and raping that their countrymen had started in the town.' [I. N. A & its Netaji : Maj-Gen. Shahnewaz Khan : P—10]

सबसे पहले करोड़ों रुपयों की लागत से बना, सुप्रसिद्ध बहता हुआ डॉक समुद्र में डुबो दिया गया। इंगलैण्ड के अलावा इतना बड़ा डॉक और किसी के पास नहीं था। पर इसे उड़ाने के अलावा वे कर ही क्या सकते थे? जापानियों के हाथ ऐसी चीज नहीं लगनी चाहिए जिससे उन्हें लाभ हो।

ब्रिटिश सेना परिखा के पीछे जा छुपी।

चारों ओर से जापानी हमला कर रहे थे। नीचे से तोपों द्वारा गोले बरस रहे थे, ऊपर से हवाई जहाज बम बरसा रहे थे और दोनों तरफ से पड़ रहा था दबाव। इस हालत में छिप कर लड़ना ही था।

परन्तु जापानी बड़े चतुर थे। बड़े कुशल। इस बार वे गोला बरसाने लगे मर्टार से। परिखा तोड़ने में मर्टार बेजोड़ होते हैं। अब क्या किया जाए?

मुसीबत पर मुसीबत। अब मुसीबत दूसरे रास्ते से आई।

इस बीच जापानियों ने जहोर प्रणाली वाले पुल का पुनः निर्माण कर लिया और उस पर से होकर सिंगापुर के अन्दर घुसने लगे। फलस्वरूप पीछे हटते-हटते दस लाख सैनिक और साधारण नागरिक जा कर इकट्ठा हुए केवल साढ़े तीन मील के घेरे के भीतर। हर तरह की कमी ने उन्हें असहाय बना दिया। खासकर पानी का अभाव। अब तो बिना पानी के एक दिन भी रहना मुश्किल था।

सचमुच मुश्किल था।

इसका प्रमाण मिल गया सात दिन बाद ही—१५ तारीख को। इतने प्रेम से सजाया-संवारा सिंगापुर—उसे अपने हाथों से सौंपना पड़ गया। फोर्ड मोटर के कारखाने में बैठ कर यह कार्य सम्पन्न हुआ। उसी के साथ-साथ हजारों की संख्या में भारतीय सैनिकों को भी जापानियों को सौंपा गया।

१६ फरवरी १६४२—सुबह के आठ बजे थे। विशाल टैंक वाहिनी को सामने रख कर, विजय गर्व से सिर उठाए जापानी सेनापति लेफ्टिनेन्ट जनरल इयामासिटा ने सिंगापुर में प्रवेश किया। चारों तरफ दिखाई पड़ रहा था....जापानी झण्डा। जापानी झण्डों से मानो पूरा शहर ढँक गया था। उसी के साथ मिलिट्री बैण्ड पर जापान का राष्ट्र धुन बज रहा था—

'Kimi ga yo wa
Chiyo ni yachiyo ni
Sazare ishi no
Iwao to nari te
Koke no musu made.'

अर्थात्....'हे महान् सम्राट्, तुम्हारा राज्य दस हजार वर्ष तक स्थायी हो। तुम दीर्घायु हो।'

अब सुनो, उस दिन जापानियों ने कितने सैनिकों को क़ैद किया था :—

ब्रिटिश	....	१५,००० हजार
आस्ट्रेलिया	....	१३,००० "
भारत	....	४५,००० "

इसके अलावा ८,००० थे घायल सैनिक।

युद्ध के अस्त्र-शस्त्र, मशीनों की संख्या भी कुछ कम न थी—

बड़े तोप	....	३००
मशीनगन	....	२,०००
राइफेल	....	५०,०००
टैंक	...	२००
मोटर लॉरी	....	१०,०००
मोटर साइकिल	....	२००

इसी के साथ एक दस हजार टन का जहाज भी। ५ हजार टन के तीन टैंकर थे। अनगिनत छोटे-छोटे जहाज थे, और उसी के साथ ढेरों गोला-बारूद और माइन वगैरह।

दूसरे ही दिन (१७ फरवरी को) समस्त भारतीय सैनिकों को फर्रेर पार्क में

इकट्ठा करके कैप्टन मोहन सिंह को सौंप दिया गया।

कौन थे ये कैप्टन मोहन सिंह ? क्यों इन्हें भारतीयों का भार सौंपा गया ? यह मैं तुम्हें बाद में बताऊँगा, मल्लिका।

सिंगापुर के पतन की खबर ने चर्चिल का दिल तोड़ दिया। रूसियों की मार से यह मार कहीं ज्यादा कष्टप्रद थी। अब तो मान-मर्यादा तक गई।

उस दिन अपने रेडियो पर प्रसारित होने वाले भाषण में चर्चिल ने लोगों को बहुत कुछ समझाया—

'यह सच है कि हम सफलतापूर्वक पीछे हटे हैं, लेकिन हमने कर्तव्य की जरा भी अवहेलना नहीं की है। जापानी असाधारण योद्धा हैं। जल, स्थल, नभ—सर्वत्र ही वे समान रूप से शक्तिशाली हैं। परन्तु हैं बड़े निर्दयी, लापरवाह और विश्वासघाती।

'No one must underrate any more the gravity and efficiency of the Japanese war machine, whether in the air or upon the sea or man to man on land, they have already proved themselves to be the most formidable, deadly, and, I am sorry to say, barbarous antagonist.'

लेकिन एक अंग्रेज इतिहासकार ने इसे....the most humiliating and impressive disaster which the British empire had suffered for more than a century....'

इधर जापानियों की इस आश्चर्यजनक गतिशीलता ने न केवल समस्त विश्व को बल्कि दो गृहत्यागी महापुरुषों को भी भौचक्का कर दिया। अपने सामने मानचित्र खोल कर घन्टों बैठे-बैठे सपने देखने लगे।

एक थे रासबिहारी बोस, दूसरे थे सुभाष।

सारा विश्व आश्चर्य से सोच रहा था—अंग्रेजों का वह उछलना-कूदना, बढ़-चढ़ कर अपने जहाजी अड्डे की तारीफ करना—सब हुआ क्या ? थाईलैण्ड, हांगकांग, मलय, सिंगापुर जा चुका है। बर्मा भी दम तोड़ने वाला है। उसके बाद ? सब कुछ तो जापानी जीत चुके हैं।

सिंगापुर का पतन हुआ १५ फरवरी को। १९४२ में। उसी के ठीक ४ दिन बाद (१९ फरवरी को) फिर वह तेजोदीप्त स्वर गूंज उठा ईथर तरंगों द्वारा—

'मैं सुभाष बोल रहा हूँ....'

सुभाष ! चारो ओर दबी चंचलता फैल गई....यहाँ-वहाँ-सर्वत्र। चुप-चुप.... सुनो, सुभाष क्या कह रहे हैं- '....I have waited silently and patiently on the course of events; now that the hour has struck, I can come forward and speak....'

In this struggle, and in this subsequent period of reconstruction we will co-operate whole-heartedly with all those who help us

to destroy the common enemy...'

'इतने दिनों तक मैं चुपचाप धैर्यपूर्वक सब कुछ देखता जा रहा था। अब वह मुहूर्त आ गया है, अब मैं आगे आ कर बोल सकता हूँ।....जो हम सबका शत्रु है, उसे नष्ट करने में जो हमारी मदद करेगा, इस युद्ध में उसे हर तरह का सहयोग प्रदान करने के लिए मैं तैयार हूँ....'

वह अंग्रेजों के लिए बड़े बुरे दिन थे, मल्लिका। हाँगकांग, मलय, सिंगापुर ही नहीं, जापानियों ने बहुत कुछ छीन लिया।

हमारे देश में उस समय, खुशी के मारे नाना प्रकार की तुकबन्दियाँ हुई थीं। उनमें से एक याद है। किसी अज्ञात कवि की यह रचना बच्चे-बूढ़े हर किसी की जुबान पर था—

'सा रे ग म प ध नी
बम फेंका है जापानी,
बम पे बैठा अजगर साँप
ब्रिटिश बोले बाप रे बाप।'

इसमें सन्देह नहीं कि जापानियों ने अंग्रेजों को दिन में तारे दिखा दिए थे।

२० तारीख को जापानी बाली द्वीप पहुँचे, विशाल जहाजी बेड़े की सहायता से।

२७ तारीख को घनघोर युद्ध हुआ, जावा समुद्र तट पर। इसमें जापानियों को बड़ा नुकसान उठाना पड़ा। अंग्रेजों ने भी खूब बढ़ा-चढ़ा कर ब्यौरा प्रकाशित किया। 'जापानियों के ४१ जहाज खत्म, १५ बुरी तरह से नष्ट—कुल छप्पन जहाज। और मित्र पक्ष का एक भी नष्ट नहीं हुआ।'

परन्तु यह क्या? अगर इतना जबरदस्त नुकसान हुआ है जापान का तो वे बॉली द्वीप पर उतरे कैसे? और उतरते ही एरोड्रोम वगैरह पर अधिकार कैसे कर लिया? तब क्या यह सब युद्धकालीन प्रचार था?

असली बात खुली 'टेलीग्राफ' नामक समाचार पत्र में छपे एक प्रत्यक्षदर्शी के विवरण से।

वास्तव में मित्रपक्ष ही की सारी जहाजी शक्ति समाप्त हो गई है।

युद्ध छिड़ा था शाम के चार बजे।

ब्रिटिश, अमेरिका और उलन्दाज जहाजी बेड़ा तैयार था। जापानी जहाजी बेड़ा इधर आ रहा है—अब उन्हें समझा देना है कि युद्ध क्या चीज है।

सचमुच, इन लोगों ने दिखा दिया युद्ध क्या है। कैसे सफलतापूर्वक पीछे हटा जाता है, इससे बढ़िया उदाहरण और कोई क्या दिखाएगा!

लेकिन बच न सके। तब तक जापानी जहाजी बेड़े की दूर तक मार करने वाली तोपें गरजने लगी थी। उसी के साथ-साथ शुरू हुआ मित्सुबिसी ९६ की मार। विमान-

वाही जहाजों पर से इन डाइव बाम्बरों ने उड़-उड़ कर ऊपर से चोट करना शुरू कर दिया था।

पहला शिकार हुआ ब्रिटिश क्रूजर 'एक्सिटर'....घायल हो गया इसका बॉयलर-कक्ष। बस, फिर तो भगदड़ मच गई।

लेकिन अब भाग कर जाओगे कहाँ ? अब तो फँस ही गए हो ?

इसके बाद उलन्दाज का डेस्ट्रायर 'कोर्टेनर' और फिर ब्रिटिश डेस्ट्रायर 'इलेक्ट्रा' गया।

हालत बिगड़ते देख बाकी जहाज भाग निकलने लगे। अब लड़ाई की जरूरत नहीं है—जान बचा कर भागने में ही भलाई है।

चारो ओर अँधेरा। हर तरफ सन्नाटा। लगता था खतरा टल गया। अँधेरा इतना कि हाथ भर दूरी की चीज न सूझे....

तभी भयंकर विस्फोट हुआ। ब्रिटिश डेस्ट्रायर 'जूपिटर' विस्फोट की आवाज से ज़रा थरथराया और उसके बाद ही समुद्र के गर्भ में समा गया।

रात को ग्यारह बजे अगला विस्फोट हुआ। इस बार नम्बर था उलन्दाज के क्रूजर 'डी रूयेटर' का। उसके बाद एक और क्रूजर 'जावा'।

एक के बाद एक—'जावा' के बाद ही आस्ट्रेलियन क्रूजर 'पार्थ', उसी के साथ अमेरिकी क्रूजर 'हॉडस्टन।' फिर दो अमेरिकी डेस्ट्रायर-'पिल्सबरी और 'एडसल'।

इसी के साथ गया ब्रिटिश डेस्ट्रायर 'एन्काउन्टर' और अमेरिका का डेस्ट्रायर 'स्ट्रांग होल्ड', गनबोट 'एस्डिला' और अन्य छह जहाज।

इसके बाद तो रास्ता साफ़ ही हो गया। परम निश्चिन्त होकर वे द्वीप में उतरे और उस पर अधिकार जमा लिया। बाधा देने वाला तो कोई बचा ही नहीं था।

इसी तरह से एक बार, आगे चल कर जब मिडवे के समुद्री इलाके में नौ सेना का युद्ध हुआ तो अमेरिका ने कहा, 'हमने जापानियों के ५३ क्रूजर नष्ट कर दिए हैं।'

लेकिन जापान के पास ५३ क्रूजर तो कभी नहीं थे—तो फिर ? उनके पास तो कुल ३५ क्रूजर ही थे।

इधर ३ मार्च को जनरल वॉवेल पश्चिमी युद्ध से सेनापति का पद त्याग कर पुनः भारत लौट गए। उसी के ठीक दो दिन बाद ही ५ मार्च को जावा की राजधानी बटाविया जापान के हाथों में चला गया।

बर्मा में भी वही हाल था। वहाँ पीछे हटते रहना जारी था। मारगुई, टेवॉय, मौलमेन वगैरह हाथों से जा चुके थे।

मौलमेन न केवल श्रेष्ठ बन्दरगाह था बल्कि हवाई अड्डा भी था। अंग्रेजों के लिए इनका बहुत महत्त्व था। लेकिन लगातार बमबारी के कारण अन्त में नाव द्वारा ब्रिटिश सेना ने भाग कर पास के अड्डे, मर्तावान में आश्रय लिया।

२३ तारीख को सितांग नदी के मुहाने पर दोनों सेनाओं में भयंकर मुठभेड़ हुई।

जनरल हैटन उस समय १७ नम्बर डिवीजन के साथ तैयार थे। कैसे भी हो सीतांग नदी के पुल पर नहीं आने देना है।

लेकिन अपने उद्देश्य में जनरल हैटन सफल न हो सके। उन्हें पुल पर से हटना पड़ा। उसके बाद ही शक्तिशाली डिनामाइट चार्ज करके पुल उड़ा दिया गया।

अब कोई डर नहीं। जापानी उस पार रह गए हैं। उन्हीं के साथ रह गए भारतीय सैनिक जो अंग्रेजों की तरफ से लड़ रहे थे। पर अब कैसे कुछ किया जा सकता है? वे न बच सके न सही, अपनी जान तो बची!

यह कोई नयी बात थी भी नहीं—हर जगह यही हुआ है। भारतीय सैनिकों को तोप के आगे धकेल कर स्वयं पीछे रहने के अनेक प्रमाण मौजूद थे।

खैर—पीछे हटते-हटते जब भारतीय सैनिक पुल के पास पहुँचे तो आश्चर्यचकित रह गए।—कहाँ गया सीतांग नदी के ऊपर का पुल? अब कहाँ जाएँ? एक तरफ शत्रु तो दूसरी तरफ तेज धार नदी—किधर जाएँ?

क्षण भर सोचने के बाद सब कूद पड़े सीतांग नदी की प्रबल जलधारा में। बहुत मुश्किल से, उस दिन मुट्ठी भर सैनिक ही दूसरी तरफ पहुँच पाए थे। बाकी को बह जाना पड़ा था।

१७ नम्बर डिवीजन नष्ट हो गई। इसके अलावा जापानी लोग तो कँटीले जंगलों में से हो कर आ रहे थे, वहीं से हमले कर रहे थे। उन्हें रोक सकें, वह क्षमता ब्रिटिश सैनिकों में थी कहाँ?

बर्मा में हर तरफ 'भागो-भागो' का शोर मचा था। खासतौर से विदेश में बसे भारतीयों का और भी बुरा हाल था। उद्विग्न, दिशाहीन—क्या किया जाए? इस परिस्थिति में कहाँ जाया जाय? किसके पास जाएँ?

अन्त में सब अपने देश वापस जाने के लिए चल पड़े। जहाजों में जगह नहीं मिली तो हजारों की संख्या में लोग पैदल ही चल पड़े।

यह एक अद्भुत दृश्य था....दूर तक केवल सिर ही सिर....मनुष्य ही मनुष्य। गिरते-पड़ते चले जा रहे थे। मानो इस रास्ते का कहीं अन्त न होगा....तितर-बितर हो गए जुलूस की तरह भटकते बढ़ते जा रहे थे लोग। डर बना था....जापानी पीछे आ गए हैं। रंगून का पतन हुआ समझो। सभी भयभीत थे। आतंकित। भाग रहे थे लोग।

उस पर डाकुओं, लुटेरों का आतंक। इस हालत में शत्रु-मित्र पहचानना कठिन था।

इसी तरह से दिन कटता, रात बीतती। जिधर देखो, उधर ही वही एक ही

दृश्य। नागरिक शहर छोड़ कर भाग रहे थे। किसी के पास कुछ नहीं....खाली हाथ। जीवन भर की जमापूंजी, कमाई छोड़ कर प्राण बचा कर भाग रहे थे वे लोग।

हर जाति के, हर धर्म के लोग परन्तु सबके मन में एक ही भाव उठ रहे हैं—'अब पीछे मुड़ कर देखने का समय नहीं रह गया है....जीना है तो आगे बढ़ते चलो।'

रह-रह कर तोप के गोले दागे जाने की आवाज के साथ गोले इधर-उधर आकर गिर रहे थे। कुछ सिर के ऊपर से तीर की तरह निकल जाते थे।

गोलों की बौछार रुकती तो लोग फिर चलना शुरू करते।

चारो ओर का दृश्य देखा नहीं जा रहा है। विनाश की लीला विस्तृत थी। इमारतें गिरती जा रही थीं....सड़कें निःचिन्ह हो गई थीं....हरियाली का नामोनिशान तक नहीं था।

उस दृश्य को और भी भयावह बना दिया था सर्वत्र फैली मनुष्यों की लाशों ने। छिन्न-भिन्न, दुर्गन्ध से भरपूर शव ...वह दृश्य कितना भयंकर था, कहना मुश्किल है।

इसके अलादा हजारों सैनिक उद्देश्यहीन चले जा रहे थे। ये अपने दलों से अलग हो गए थे। न था इनके पास अस्त्र-शस्त्र, न थी पूरी वर्दी, किसी-किसी के पाँव तक नंगे थे....फिर भी वे बढ़ रहे थे। वे जा कहाँ रहे थे उन्हें खुद पता नहीं था।

कलकत्ते में भी इसी दृश्य की पुनरावृत्ति हो रही थी। हजारों की संख्या में लोग चले जा रहे थे गाँवों की ओर। रंगून से कलकत्ते की दूरी है ही कितनी? न जाने कब बमबारी शुरू हो जाए।

इधर अंग्रेज अभी भी गीदड़-धमकी देते जा रहे थे....'आएँ न जापानी... देख लेंगे।'

पर कार्यकारी रूप में देखा गया कि सफलतापूर्वक पीछे हट रहे थे ब्रिटिश जनरल एलैक्जेन्डर। हाँ, चलते-चलते उन्होंने तार, टेलीफोन, टेलीग्राफ आदि के जरिए जला कर नष्ट कर दिए।

पेगू और रंगून का पतन ८ मार्च को हुआ। और २५ मार्च को बंगाल की खाड़ी में स्थित सम्पूर्ण अन्डमान द्वीप। हाथों से निकल गये बेसिन, प्रोम, टाँगू, मेमिओ, आकियाब वगैरह।

५ अप्रैल को कोलम्बो पर हमला किया जापानी हवाई जत्थे ने।

और ८ अप्रैल को सबसे पहली बार भारतभूमि पर बम गिरा। बमबारी की गई विशाखापट्टम और कोकोनद पर, मद्रास-समुद्री तट पर।

विशाखापट्टम पर हमला सुबह—प्रातःकाल हुआ। उनका लक्ष्य था बन्दरगाह पर खड़े जहाज। हर बार दस हवाई जहाजों का जत्था इकट्ठा हमला कर रहा था। कुल २० बम गिराए गए। शहर में कहीं नहीं। केवल डॉक इलाके पर यह बमबारी हुई।

कोकोनद पर पहली बार एक ही हवाई जहाज ने बम फेंका था। प्रातःकाल। दूसरा हमला हुआ दोपहर को। एक बज कर पैंतालीस मिनट पर। उस

समय पाँच हवाई जहाजों का झुण्ड था, और उन्होंने तेल के गोदाम पर हमला किया। मिनटों में तेल-भण्डार धू-धू कर जल उठा।

६ अप्रैल को सिंहल द्वीप के श्रेष्ठतम जहाजी अड्डे त्रिकोमाली पर हमला हुआ और वह भी ध्वस्त हो गया।

इस बात को स्वयं चर्चिल तक ने स्वीकार किया था। उन्होंने बताया कि अधिकतर जहाज जख्मी हो गए हैं।

हाउस ऑफ कामन्स की गुप्त बैठक में उन्होंने यह बात बताई तो सदस्यों ने जानना चाहा कि हमारे हवाई जहाज उस समय थे कहाँ? उन्होंने इन हमलावरों को बाधा क्यों नहीं पहुँचाई?

बाधा पहुँचाई तो थी। बहुत क्षति पहुँचाई थी जहाजी हवाई जहाजों को, लेकिन बाद में स्वयं भी नष्ट हो गए। या तो क्षतिग्रस्त हुए या बेकार हो गए।

इस व्यर्थता का कारण क्या था? क्यों सरकारी सेना हर जगह मार खा रही है?

इसका कारण है। हमारी सरकारी सेना कम हो गई है। फिर समुद्री मार्ग द्वारा सेना भेजना अब सम्भव नहीं। सम्पूर्ण बंगाल की खाड़ी जापानियों के अधिकार में है। केवल आसाम के पहाड़ी रास्ते कुछ सेना और रसद भेज सकना ही सम्भव है।

'Our Imperial forces are, however, reduced to very small proportions. There is no means of bringing re-inforcements to them by sea. The Japanese hold complete command of the Bay of Bengal and only trickles of man and supplies can come over the mountain roads and tracks from Assam.'

'बर्मा का क्या हाल है?'

'बर्मा की ऐसी कोई खबर मैं नहीं दे सकता जिसे सुन कर सम्मानीय सदस्य गण उत्साहित होंगे। बल्कि हम तो यही करें कि हमारी सेना धीरे-धीरे पीछे हट आए। उसी में भलाई भी है।'

'I cannot encourage the House to expect good news from the Burma theatre. The best that can be hoped for is that the retreat will be as slow as possible and give time for other factors to make their weight tell.' [secret sessions speeches : Churchill, P—43—58]

नुकसान होना यहीं बन्द हो गया हो, ऐसा नहीं।

११ अप्रैल को पता है, क्या हुआ था?

वही हुआ जो अब तक होता आ रहा था। अंग्रेजों का ही दोबारा भाग्य फूटा।

यह घटना घटी उड़ीसा के तट से जरा सा आगे बढ़ कर।

उस दिन ब्रिटिश जहाजी बेड़े का एक विशाल कॉनवाय उड़ीसा का समुद्री

किनारा पकड़े आगे बढ़ रहा था। डेस्ट्रायर, क्रूजर, विमानवाही जहाज—उस कॉनवाय में सभी कुछ था।

सुबह के आठ बजे थे। बंगाल की खाड़ी पर परम निश्चिन्त हो ये जहाज लहरों को बेंधते बढ़ते जा रहे थे। युद्ध तो बहुत दूर पर छिड़ा है। यहाँ कोई डर तो है नहीं।

अचानक हर जहाज का विपत्तिसूचक साइरन बज उठा।

तुरन्त जहाज के भीतर हल्ला मच गया—'हवाई जहाज, हवाई जहाज। जापानी हवाई जहाज....होशियार हो जाओ। सारे विमान विध्वंसकारी तोपों को तैयार रखो।'

ज्यादा नहीं....केवल एक हवाई जहाज था....। वह भी बांबर नहीं....निरीक्षण-कारी साधारण हवाई जहाज। एक-आध चक्कर काटे और दूर आकाश में अदृश्य हो गया।

कुछ ही देर में तीन आक्रमणकारी जहाज आ पहुँचे। दो बड़े क्रूजर और एक डेस्ट्रायर।

तीनों ने त्रिभुज के आकार की एक व्यूह रचना की और गोले बरसाए—धाँय! धाँय! धाँय!

घटना जैसी तो आकस्मिक थी, वैसी ही अप्रत्याशित। ऐसी आकस्मिक कि कॉनवाय एक भी गोला छोड़ सकने में सक्षम न हो सका। उन्हें मौका ही नहीं मिला।

फलस्वरूप वही हुआ जो होना था। आधे ही घंटे में ब्रिटिश डेस्ट्रायर 'डॉरसेट-सायर' और 'कार्नवॉल', विमानवाही जहाज 'हारसिस्' और अन्य छह जहाजों को बंगाल की खाड़ी में जल-समाधि लेनी पड़ी।

३० अप्रैल को उत्तरी बर्मा का लासिओ गया और २ मई को मन्दालय। यूँ भी मन्दालय शहर पहले ही बमबारी के कारण जल कर राख हो चुका था। अखबारों के शब्दों में—'No one, not even a dog could be seen in the streets.'

११ मई को बर्मा के लाट साहब भारत भाग आए।

सामरिक विभाग के दोनों भाग्य विधाता, जनरल एलेक्जेन्डर और जनरल स्टिलवेल, किसी तरह से पहाड़-पर्वत लाँघते-फाँदते, जान बचा कर मनीपुर आ पहुँचे। सारा बर्मा देश जापानियों को सौंप आए।

लड़ाई शुरू हुई थी—७ दिसम्बर को १९४१ साल में और खत्म हुई १७ मई १९४२ को। पाँच महीने। इन पाँच महीनों में ब्रिटिश साम्राज्य—मलय, सिंगापुर, बर्मा जैसे उपनिवेशों से हाथ धो बैठा। अब बचा भारतवर्ष।

ब्रिटिश साम्राज्य का अन्तिम ठिकाना भारतवर्ष।

अब ज़रा पीछे भी दृष्टि डालना है, मल्लिका। जापान की गति के साथ

चल कर इस बीच मैं बहुत आगे बढ़ आया हूँ—पीछे की बात तो पीछे ही छूट गई। अब सुनो।

२५ दिसम्बर १९४१ को हाँगकाँग का पतन हुआ था।

सुभाष के लिए भी यह तारीख बड़ी उल्लेखनीय थी।

इस बीच उन्होंने अत्यन्त चेष्टा करके आज़ाद हिन्द फौज का संगठन कर डाला था जर्मनी में। उनका बहुत दिनों का सपना पूरा हुआ था।

अब काम था उन्हें प्रशिक्षित करने का। कूटनीतिज्ञ अंग्रेजों ने भारतीय सैनिकों को केवल राइफल चलाना सिखाया था और कुछ नहीं।

उन्हें डर था कि कहीं उलट कर भारतीय सैनिक उन्हीं पर न चढ़ बैठें।

लेकिन अब जो युद्ध करना था वह यांत्रिक युद्ध था। इसमें भाग लेने के लिए उपयुक्त प्रशिक्षण आवश्यक था।

सबसे पहले केवल पन्द्रह सैनिकों का एक दल भेजा जाएगा, यह तय हुआ। इन पन्द्रह लोगों को लीज़ियन हेड क्वॉटर फ्राकेन बुर्ग के कैम्प में प्रशिक्षण देना निश्चित हुआ।

यह तारीख थी २५ दिसम्बर।

वहाँ रहने वाले हर भारतीय ने इन पन्द्रह लोगों के छोटे से दल को विदा दिया।—'तुम्हारी यात्रा सफल हो। अपनी शिक्षा समाप्त कर तुम लोग हमारे बीच फिर लौट आओ।'

और सुभाष ने हमला करते हुए शेर का चित्र बना बैज और उसके साथ एक फूल—इन पन्द्रह लोगों को अपने हाथों से पहना दिया। इन सबने नेताजी को सेल्यूट किया और लेफ्ट-राइट करते हुए आगे बढ़ चले।

सुभाष अन्तिम समय तक उन्हें देखते खड़े रहे। आँखों में उनके खुशी के आँसू थे। 'जय हो! स्वाधीनता के अग्रदूत, तुम्हारी यह ऐतिहासिक यात्रा सफल हो, सार्थक हो....भारत स्वाधीन हो।'

'Netaji in his capacity as the leader and originator of this idea, spoke in very touching language. He blessed the Legion, the first of its kind in the history of the struggle for Indian Freedom,

One could never have dreamt of raising a trained military force of this type even in India under the British rule although many a national leader would have been glad to lead one.

With a heavy heart Netaji took leave of this first batch of volunteers of this Legion and christened this organisation as Azad Hind Fauz. Tears of joy stood in his eyes.' [Ganpuley : P—73]

याद है मल्लिका, १९२८ साल की वह कहानी जब कांग्रेस का अधिवेशन कलकत्ते में हुआ था?

लेफ्ट-राइट, लेफ्ट-राइट, लेफ्ट-राइट....हजारों युवक क़दम-से-क़दम मिलाते बढ़ते जा रहे थे। आगे बढ़ रही थी नारी-वाहिनी, अश्वारोही वाहिनी, मोटर साइकिल सेना, मेडिकल कोर....आगे बढ़ती चा रही थी स्वाधीनता संग्राम के इतिहास की वह अद्‌भुत सृष्टि जिसे सुभाष ने अपने मन-मस्तिष्क से रचा था, जिसे साकार किया था अपने परिश्रम से, जिसका नाम रखा था—'बेंगाल वॉलेन्टियर्स'।

हर कोई देख कर उल्लसित हो उठा था। क्या समाचार पत्र, क्या भारत के विभिन्न नेता, सभी प्रशंसा कर रहे थे। हाँ, यही तो होना चाहिए। आज ऐसा ही नियम, यही शृंखला चाहिए, प्रयोजन है अनुशासित जीवन का। सुभाष ने तो कमाल कर दिखाया है।

केवल प्रसन्न नहीं हुए थे एक आदमी—वे थे अहिंसा-मंत्र में दीक्षित ऋषि गांधी जी। उनके मतानुसार यह था 'पार्क सरकस का सरकस'!

१६२८ से १६४१—क्या कुछ ज्यादा समय निकल गया है? पार्क सरकस के उसी सरकस को वास्तविकता का जामा पहनने में क्या अधिक समय लगा?—नहीं न?

खैर—इस पहली सैनिक टुकड़ी को २५ दिसम्बर के दिन समारोह द्वारा भावभीनी विदाई दी गई। दूसरे दिन तड़के एक मार्मिक दृश्य देखने को मिला, ऐन्हलटार रेलवे स्टेशन पर।

उस दिन भयंकर रूप से मौसम बिगड़ा हुआ था। सम्पूर्ण जर्मनी में बर्फ की वर्षा हो रही थी रात से ही—ऐसी ठंडी हवा कि बाहर निकलना मुश्किल था। फिर भी ऐसे मौसम की अवहेलना कर एक-एक भारतवासी स्टेशन आया था। आया था अपनी सेना की छोटी सी टुकड़ी को विदा करने। स्टेशन की भीड़ देख कर कहना कठिन था कि यह भारत का नहीं, जर्मनी का रेलवे स्टेशन था। हर एक नारे लगा रहा था—'आजाद हिन्द जिन्दाबाद! इन्कलाब जिन्दाबाद! नेताजी जिन्दाबाद।'

On such a wintry cold morning of 26th December all the Indian residents of Berlin gathered on the Auhalter station to see the first batch...For a time Auhalter station was a scene of an Indian platform.

There was a lot of hand shaking and embracing in Indian fashion. It was full of cheerful enthusiasm, the yonngmen leaving for their military camp, were already feeling like great heroes.

The train moved out of the station in the midst of loud cheers of 'Azad Hind Zindabad,' 'Inquilab Zindabad,' 'Netaji Zindabad.' [Ganpuley : P—76]

इसी समय दो और स्वेच्छा सैनिक गए Messeritz कैम्प में....

परन्तु सुभाष इतने में सन्तुष्ट नहीं थे। ठीक से सेना संगठित करने के लिए

और लोग चाहिए। उन्होंने जर्मनी के विदेश विभाग को फिर से कहा।

लॉम्सडर्फ कैम्प और अफ्रीका के साईरेनाइका कैदखाने में जितने भी भारतीय हैं, उन सबकी मुझे ज़रूरत है। उन्हें ड्रेसडेन आनाबुर्ग कैम्प के कैदीगृह में लाया जाए....तुरन्त।

फील्ड मार्शल रोमेल मिश्र के दरवाजे तक पहुँच चुके हैं।

वहाँ से आज़ाद हिन्द फौज के पैराशूटधारी सैनिकों को भारत के उत्तरी पश्चिमी सीमा प्रान्त के इलाकों में उतार देने का यही तो मौका है।

अवश्य ही इनकी पुकार सुन कर ब्रिटिश राज्य की ओर से लड़ रहे भारतीय सैनिक तैयार हो जायेंगे।

ज़रूर वे हमारा साथ देंगे। न देने का कोई कारण भी तो नहीं है। आखिर वे भी तो भारतीय हैं। स्वाधीनता की कामना तो वे भी करते हैं। वे क्या नहीं चाहते कि भारत शत्रुओं के हाथों से मुक्त हो जाए?

इसके लिए करना होगा प्रचार। अच्छी तरह से समझाया जाए तो वे अवश्य ही तैयार हो जायेंगे।

कुछ सप्ताह और बीत गए। सुभाष आज़ाद हिन्द संस्था, तार, टेलीफोन और सेना में व्यस्त।....रात दिन काम ही काम में लगे रहते।

कभी-कभी बाहर भी जाना पड़ता। कभी हॉमबुर्ग के संग्रहालय में। वहाँ जाकर ढूंढ़ते भारतीय आर्थिक नीति और कृषि सम्बन्धी पुस्तकों को....इन विषयों पर रिसर्च का काम हुआ होगा। बाद में ये सारी चीजें काम आयेंगी।

जाते चेकोस्लोवाकिया के विख्यात अस्त्र बनाने वाले कारखाने में। स्वाधीन भारत को अस्त्र-शस्त्र से भी शक्तिशाली बनना होगा।

मौका पाते ही पहुँच जाते आज़ाद हिन्द फौज के प्रशिक्षण शिविर में। यह तो अपने हाथों से बनी चीज है....कितना भी काम क्यों न हो, अपने जवानों का हालचाल तो जानना ही है। उन्हें देख कर सैनिक भी खुशी से उछलने लगते—'नेताजी! नेता जी! नेताजी आए हैं। हमारे नेताजी।'

आज़ाद हिन्द फौज के जर्मन ट्रेनर वॉल्टर हारबिच के शब्दों में—

'Whenever his busy routine permitted it, His Excellency Bose, with several gentlemen from the Free India Centre came to the fellowship evenings which were held at regular but long intervals and was happy to find the Indian soldiers in a relaxed mood and happy spirits. The performances (theatre, music, songs, sketches etc.)

during these fellowship evening were of a pleasing character.' [Netaji in Germany : Walter Harbich : P—54]

अचानक सुभाष चौंक पड़े—'यह किसकी आवाज आ रही है रेडियो से—तोजो ! तोजो । तोजो । जापान के प्रधानमंत्री जनरल तोजो हैं ?

तोजो घोषणा कर रहे हैं—सिंगापुर का पतन हो गया है ।

भारतवर्ष, भारतवासियों के लिए है । उनके सामने आज स्वर्ण अवसर उपस्थित है । जापान आशा करता है कि भारतवासी अब अपनी मर्यादा के सम्बन्ध में सजग होंगे—भारत को उपयुक्त मर्यादा प्रदान करेंगे ।

'It is a golden opportunity for India having, as it does, several thousand years of history and splendid cultural tradition, to rid herself of the ruthless despotism of Britain and participate in the construction of the Greater East Asia Co-prosperity sphere.

Japan expects that India will attain her proper status as India for the Indians and will not stint herself in extending assistance to the patriotic efforts of the Indians.

Should India fail to awaken to her mission for getting her history and tradition and continue as before to be beguiled by the British cajolery and manipulation and act at their back and call, I cannot but fear that an opportunity for renaissance of the Indian people would be for ever lost.' [Chalo Delhi : S. A. Das and K. B. Subbaiah : P—11—12]

दिवाल पर टँगे मानचित्र को बहुत देर तक देखते रहे सुभाष । कानों में गूंजता रहा—

India for the Indians ! India for the Indians ! India for the Indians !

'India for the Indians,' इसे सुन कर दुनिया के श्रेष्ठ विप्लवी, जापान में रह रहे महान् नेता रासबिहारी बोस भी चंचल हो उठे ।

चंचल हो उठे राजा महेन्द्र प्रताप, स्वामी सत्यानन्द पुरी (प्रफुल्ल सेन), देवनाथ दास, आनन्द मोहन सहाय, एन० राघवन और देशपाण्डे जैसे कुछ प्रमुख नेतागण । इनकी रगों में देशप्रेम की गंगा बह रही थी ।

चंचल हुए ज्ञानी प्रीतमसिंह और कैप्टन मोहन सिंह । हर जगह जापानियों की

ही जय-जयकार हो रही थी। गिलवर्ट, गुयाम, फिलिपाइन, बोर्निओ, न्यूगिनी, पेनांग, सुमात्रा, बालीद्वीप, जावा, बाटाविया, हर जगह जापानियों की ही विजय गाथा।

हर क्षेत्र में पिट रही थी मित्रशक्ति। जापानी शक्ति के आगे सिर उठाने का साहस तक नहीं रह गया था।

समुद्री शक्ति का महाधनी ब्रिटेन आज रिक्त, असहाय और निस्तेज हो रहा था।

यही अवसर है। भारत को स्वाधीनता अर्जित करनी है तो अभी इस मौके को काम में लाना चाहिए।

दक्षिण पूर्वी एशिया के लाखों भारतवासी, जो विदेशों में बसे हैं, उन्हें समूहबद्ध करके एक करना होगा। समझा कर बताना होगा—'तुम सब निडर होकर, सिर ऊँचा करके खड़े हो जाओ। आओ, हाथ पकड़ो हमारा।'

लोगों में उत्साह बढ़ गया था जापानी प्रधानमन्त्री जनरल तोजो की घोषणा से। अपनी नई नीति की घोषणा की थी उन्होंने १६ फरवरी को—'It is a golden opportunity for India....Japan expects that India will restore its proper status as India for the Indians.'

१२ मार्च को उन्होंने दोबारा अपनी बात दोहराई—'मेरा दृढ़ विश्वास है कि 'भारत भारतवासियों का है'—इस नीति को कार्यकारी रूप देने का यही उचित अवसर है। चालिस करोड़ भारतवासी बहुत काल से यह आशा संजोये बैठे हैं।' 'It is my firm belief that now is the time to establish India for the Indians, which has for many years been the aspiration of the 400 million Indian people.'

'ग्रेट ब्रिटेन एक ज़माने से भारत को ठगता आ रहा है और उस पर अपना स्वेच्छाचारी शासन कर रहा है। पिछले युद्ध में ब्रिटेन ने भारत से जो वादा किया है, भारत को क्या मिला है बदले में? मैं समझता हूँ कि भारतीयों की स्मृति में वह बात आज भी ताजी है....'

Great Britain has for long deceived and continued her arbitrary rule over India. What was the reality of the British promise made to India in the last Great War must be still fresh, I believe, in the memory of the Indian people.'

९ और १० मार्च को मलय सेन्ट्रल इण्डियन एसोसिएशन के सभापति एन० राघवन के आह्वान पर विभिन्न स्थानों से प्रतिनिधि आ कर सिंगापुर में इकट्ठा हुए। सभी की जुबान पर एक ही प्रश्न था—'बताओ, हमें अब क्या करना चाहिए? ब्रिटिश ने तो रत्ती भर हमारी बात नहीं सोची और स्वयं भाग कर जान बचाई। क्या अब भी हमें उनके प्रति वफादार बना रहना पड़ेगा?'

इस प्रश्न का उत्तर दिया कैप्टन मोहन सिंह ने—'अंग्रेजों ने अपने उत्तरदायित्व

को नहीं निभाया है। जिस दिन इस तरह से हमें छोड़ कर वे भाग गए, उस दिन, उसी क्षण से हमारी उनके प्रति वफादारी भी खत्म हो गई।

'अभी तक वे हमें समझाते आए हैं कि युद्ध ही स्वाधीनता है। गणतन्त्र और ऐसी ही बहुत तरह की बातें उन्होंने कीं। अगर ऐसी ही बात है तो जिस स्वाधीनता के लिए वे भारतवासियों को खून बहाने के लिए कह रहे हैं, उसी भारत की स्वाधीनता के प्रश्न पर विचार करने को क्यों तैयार नहीं हैं? स्वाधीनता की कामना करने वाले हजारों भारतीयों को क़ैद में भर कर क्यों रखा?'

बुला भेजा रासबिहारी बोस ने—'तुम सब टोकियो आ जाओ। यहाँ बैठ कर हम लोग तय करेंगे कि हमें किस रास्ते पर बढ़ना है।'

कौन हैं ये महान् नेता रासबिहारी बोस?

कैप्टन मोहन सिंह कौन हैं? क्यों उस दिन मेजर फूजियारा ने सिंगापुर के समस्त भारतीय सैनिकों को कैप्टन मोहन सिंह के हवाले कर दिया था? उनका परिचय क्या है?

तो फिर पहले मोहन सिंह के बारे में ही सुनो।

१९४१ साल, दिसम्बर का महीना।

हर जगह मलय में मार खा कर उन दिनों ब्रिटिश सेना पीछे हट रही थी।

इसी तरह १/१४ नम्बर पंजाब रेजिमेन्ट सेना भी मलय से पीछे हट रही थी। छिन्न-भिन्न। तितर-बितर....दिशाहीन। जापानी अब दूर नहीं रह गए है....आ गए समझो।

इस सैनिक जत्थे में थे कमान्डिग ऑफिसर लेफ्टिनेन्ट कर्नल फिज पैट्रिक, कैप्टन मोहन सिंह, कैप्टन मोहम्मद अकरम खाँ जैसे लोग।

भूख-प्यास से हर कोई व्याकुल थे। उस पर कमान्डिग ऑफिसर फिज पैट्रिक घायल हो गए थे। उनके लिए एक कदम चलना भी मुश्किल था।

जो भाग्य में लिखा था वही हुआ—सभी जापानियों के हाथों में क़ैद हुए।

एक वृद्ध सिक्ख आगे आए—'तुम लोग डरो मत। साहस से काम लो। एक दिन अच्छे दिन आएँगे।'

मोहन सिंह अवाक् रह गए? कौन हैं ये वृद्ध सज्जन? देख कर ही लगता है कोई साधु-सन्त आदमी हैं? क्या नाम है?

'मेरा नाम है प्रीतम सिंह। ज्ञानी प्रीतम सिंह। तुम हमारे साथ आओ, डरो मत। झिझको मत। निडर होकर आओ।'

'कहाँ?' मोहन सिंह ने पूछा।

'मेजर फूजियारा के पास। उनसे मेरी सारी बात हो चुकी है। चलोगे तो सब मालूम हो जाएगा।'

चलते-चलते मोहन सिंह को सारी बातें मालूम हो गईं। स्वाधीनता-प्रेमी वृद्ध की एक ही इच्छा है कि बन्दी सैनिकों की मदद से एक मुक्ति-वाहिनी का गठन किया जाए, जो भारतवर्ष को अंग्रेजों के चंगुल से छुड़ा सके। इस मामले में मेजर फुजियारा हर तरह की मदद करने को तैयार हैं।

भीतर ही भीतर काम शुरू हो गया। इस बीच एक 'इन्डीपेन्डेन्स लीग', दोनों की कोशिशों से बन कर तैयार हो गया था। एक ही लक्ष्य था—भारत से अंग्रेजों की हुकूमत खत्म होनी चाहिए।

'तुम पर हम विश्वास क्यों करें?' मोहन सिंह ने मेजर फुजियारा से साफ-साफ पूछ ही लिया—'अंग्रेजों की तरह तुम लोग भी वही नाटक खेलना शुरू नहीं करोगे, इस बात की कोई गैरन्टी है क्या?'

'यह तो साधारण समझ की बात हुई।' मेजर फुजियारा बोले—'वैसा कोई उद्देश्य होता तो तुम्हारे सहयोग की क्या जरूरत थी? जापान की अपनी शक्ति ही इसके लिए काफ़ी है।'

'मानता हूँ, परन्तु क्या इसके पीछे तुम्हारे फायदे का प्रश्न नहीं है?'

'है क्यों नहीं? हमारा एकमात्र लक्ष्य है, एशिया की भूमि पर से अंग्रेज और अमेरिकन की प्रभुता हमेशा के लिए मिटा कर 'वृहत् एशिया' की योजना को सफल बनाया जाए। इससे न सिर्फ हमारा ही फायदा होगा, एशिया के एक-एक राष्ट्र को फायदा होगा।'

आवश्यक आलोचना के बाद मोहन सिंह मान गये—'ठीक है। भारत की स्वाधीनता के लिये मैं सब कुछ करने को तैयार हूँ।'

शुरू हुआ नया जीवन। नया अध्याय। हर एक को संघ का सदस्य बनना है। संगठित करना है सारी बिखरी हुई भारतीय सेना को। बैठे रहने से कुछ नहीं होगा.... वक्त बीतता जा रहा है।

उधर जापानी सेना बाढ़ के पानी की तरह सिंगापुर की ओर बढ़ती जा रही थी। सभी के होठों पर एक ही बोल थे—'सिंगापुर ए कोसिन'। चलो सिंगापुर! चलो सिंगापुर! चलो सिंगापुर!

पीछे-पीछे चल रहे हैं मोहन सिंह, रासबिहारी बोस के विश्वासी सहयोगी देवनाथ दास और अन्य लोग। इनका इरादा था कैदी भारतीय सैनिकों को संघबद्ध करना और अधिकार में आई भूमि पर स्थित भारतीय धन-सम्पत्ति की सुरक्षा करना। युद्ध में मरना-जीना तो लगा ही रहता है, फिर भी इन्हें बचा कर रखना होगा।

सिंगापुर का पतन हुआ १५ फरवरी १९४२ साल में। कुल मिला कर उस दिन एक लाख लोग कैद हुए जापानियों के हाथों में। उनमें से ४० हजार तो भारतीय थे।

दूसरे ही दिन इन ४० हजार सैनिकों को मोहन सिंह के हाथों में सौंप दिया गया। मेजर फुजियारा ने आदेश दिया—'आज से तुम्हारे नेता हैं मोहन सिंह। तुम्हें उन्हीं के आदेश का पालन करना होगा।'

मल्लिका—यही हैं मोहन सिंह।

और रासबिहारी बोस ? वे कौन थे ? यह कहानी सुननी हो तो और भी पीछे जाना होगा। लौट कर पहुँचना होगा अग्नियुग के उन दिनों में...जो दिन इतिहास के पृष्ठों में अजर-अमर हैं।

I was a fighter,
One fight more,
The last and
The best.

Rash Behari Bose
25/1/42

२३ दिसम्बर १६१२ साल।

उत्सव का स्वागत करने को तैयार दिल्ली महानगरी पहचानी नहीं जा रही थी। जिधर देखो उधर ही प्रकाश, और पताका समूह। चारों ओर केवल लोगों के सिर ही सिर।

सम्राट् जार्ज पंचम के अभिषेक के उपलक्ष्य में दिल्ली दरबार होने जा रहा था। उसकी ही शोभा-यात्रा निकली थी दिल्ली के राजपथ से।

पहले थे हाथी की पीठ पर सवार बड़े लाट साहब। सपत्नीक—लार्ड हार्डिञ्ज। उनके पीछे-पीछे मुख्य-मुख्य कर्मचारीगण—देशी राजा-महाराजा और मुसाहिब लोग।

अभी तक कलकत्ता थी भारत की राजधानी। अब दिल्ली। शोभा-यात्रा के बाद बड़े लाट साहब पूरे नियम-कानून के साथ यहाँ का दायित्व ग्रहण करेंगे।

कलकत्ते के युवाओं के लक्षण कुछ ठीक नहीं। वहाँ खुदीराम, कन्हाई, सत्येन जैसे लड़कों ने बार-बार प्रमाणित कर दिया था इस बात को। इसलिए कुछ दूर रहने में ही भलाई है।

रास्ते के दोनो ओर स्थित घरों में असम्भव रूप से भीड़ इकट्ठा थी। छतों पर, बरामदों पर और यहाँ-वहाँ—सिर्फ लोग ही लोग नजर आ रहे थे।

वही हाल पंजाब नेशनल बैंक की तिमंजली इमारत का था।

पुरुषों के खड़े होने की जगह थी निचली मंजिल और तिमंजिला। स्त्रियाँ दुमंजिले पर इकट्ठा थीं।

क्वीन्स गार्डन होते हुए शोभायात्रा चाँदनी चौक पहुँच गई। वह, दूर दिखाई पड़ रहे हैं विशाल हाथी के पीठ पर सपत्नीक बड़े लाट साहब। उनके सिर के ऊपर छत्र पकड़े खड़े हैं महावीर सिंह—ये जंगी जवान एक 'कर' देने वाले राज्य से आए हैं।

अचानक एक आधुनिक साजो-सज्जा में सजी युवती आकर दुमंजिले में खड़ी हो गई। अत्यन्त सुन्दरी। जैसा तो सुन्दर रूप था वैसा ही था स्वास्थ्य।—'बहन, तुम्हारा नाम क्या है ?' एक गुजराती महिला पूछे बगैर न रह सकी।

'नाम ?' युवती हँसी—'मेरा नाम है लीलावती।'

शोभायात्रा बिल्कुल करीब। दुमंजिले के ठीक नीचे, हाथी के हौदे पर बैठे बड़े लाट, उनकी पत्नी।

सचमुच यह चमक-दमक, ऐसी धूमधाम, ऐसी वर्णनातीत यात्रा, इससे पहले दिल्ली में शायद ही निकली हो।

सहसा सारे राजपथ को कँपाता हुआ एक विस्फोट हुआ ...'बुम्‌म्‌म्‌म्...'

क्या हुआ, कुछ दिखाई ही नहीं दिया। धुंआ ही धुंआ....काले धुंए के बीच सब कुछ ढँक गया।

हाँ...यह जरूर निश्चित हो गया कि कलकत्ते की तरह दिल्ली भी खतरे से

खाली नहीं है।

शुरू हुआ हो-हल्ला। भगदड़...भागो-भागो। बचना है तो फौरन भागो। क्षण भर के लिए मत रुको।

नीचे भी चारों ओर धुंआ ही धुंआ। आस-पास कुछ दिखाई नहीं पड़ रहा था। उसी में लोग एक दूसरे को धकेलते, पीसते, गिराते हुए भाग रहे थे। इस मामले में राजा-महाराजा सबसे आगे थे। उन्हें सबसे ज्यादा अपनी जान की चिन्ता थी।

सबसे ज्यादा हलचल मची, बिगड़े हाथियों के कारण। इन सुसज्जित हाथियों ने बिगड़ कर इधर-उधर भागना शुरू कर दिया। फलस्वरूप उनके पैरों के नीचे कुचल कर कितने लोग जख्मी हो गए।

धुंआ पतला पड़ा तो दूसरा एक भयंकर दृश्य देखने को मिला। हाथी का महावत तो मर चुका था और बड़े लाट साहब की हालत भी अत्यन्त चिन्ताजनक हो रही थी।

बम का एक टुकड़ा उनकी पीठ में कंधे पर घुस कर गहरा घाव बन गया था। बहुत अधिक खून उस घाव से निकल चुका था। इसके अलावा गर्दन तथा शरीर के अन्य भागों में भी बहुत से घाव थे। उन्हें क्या होगा, यह कहना कठिन था।

भीड़ में से एक खास व्यक्ति कर्नल मैक्सरेल आगे आए। तुरन्त बड़े लाट साहब को अस्पताल ले जाया गया।

नियमपूर्वक वे शपथ-ग्रहण न कर सके। उनके स्थान पर यह काम सम्पन्न किया एक दूसरे राजपुरुष ने।

आश्चर्य ! इस हो-हल्ले में सजी-धजी लीलावती न जाने कहाँ गायब हो गई। किसी को उसका ध्यान भी नहीं रहा।

क्या उसी ने दुमंजिले से यह बम फेंका था ? या और किसी ने ?

बहुत सोच-विचार किया गया, बड़ी छानबीन हुई, लेकिन किसी निश्चित तथ्य पर पहुँचा न जा सका।

शासक सम्प्रदाय के गुस्से का अन्त न रहा....यह हिम्मत ? बड़े लाट साहब पर हाथ उठाने का साहस ? ठहरो, इसका मजा चखना ही पड़ेगा।

'ठीक ही तो कह रहे हैं।' देशी राजा-महाराजा जो जी-हुजूरी कर रहे थे अंग्रेजों की, कहने लगे—'यह तो बड़ी गलत बात है। बड़े लाट साहब के बगैर देश की शोभा क्या ? इस ऐतिहासिक दरबार को मटियामेट करना ठीक नहीं हुआ। उपाधियाँ बँटने जा रही थीं....हमारे अरमानों को इन भारतीयों ने कुचल डाला...छिः छिः....'

इन सब की आवाज के ऊपर स्वर गूँज उठा अत्यन्त राजभक्त, देहरादून वन विभाग के एक विशेष कर्मचारी रासबिहारी बोस का।

राज कर्मचारियों की उपस्थिति में, देहरादून में अनुष्ठित एक प्रतिवाद सभा में

भाषण देने के लिए खड़े हुए तो बहुत गरजे, बेहद बरसे ।

'धिक्कार है उस पाखण्डी अपराधी को...जिसने इस घृणित ढंग से बड़े लाट साहब पर आक्रमण किया । मैं एक राजभक्त प्रजा की हैसियत से यही अनुरोध करता हूँ कि अविलम्ब आततायी को गिरफ्तार किया जाये और उसे कड़ी से कड़ी सजा दी जाये ।' कहते-कहते वे फूट-फूट कर रो दिए । रासबिहारी बोस उसके बाद ही मंच पर से आँसू पोंछते हुए उतर आए ।

यह देख कर अंग्रेज बड़े प्रभावित हुए । रासबिहारी की राजभक्ति देख कर प्रशंसा करते-करते उनका गला भर आया । 'बेचारे के हृदय को भयंकर ठेस लगी है । वास्तव में हमारा भक्त है ये भारतीय रासबिहारी बोस ।'

ठेस तो लगेगी ही....ऐसे राजभक्त देश में हैं ही कितने ?

प्रमुख राजकर्मचारियों के साथ उनका रोज का उठना-बैठना था । बड़ी मित्रता थी सबके साथ । उनका नाम लेते हुए सभी के चेहरे पर चमक आ जाती थी । यहाँ तक कि श्वेतांग सम्प्रदाय के सितारे स्वयं भारत सरकार के मिलिट्री सेक्रेटरी तक के रास-बिहारी चहेते थे । सेक्रेटरी साहब उनसे बँगला भाषा सीखते थे ।

किस तरह से बंगाल के विप्लवियों का दमन किया जा सकता है, इसके लिये समिति का गठन हुआ । विशेष परामर्शदाता हुए रासबिहारी बोस । मिलिट्री सेक्रेटरी अक्सर ही उनसे सलाह-परामर्श करते । कितनी बातें होतीं ।

हाँ, पर वह हमलावर था कौन ?

उसका नाम क्या था ?

सुसज्जिता लीलावती गई कहाँ ?

इस महान् यज्ञ के प्रेरणास्रोत कौन हैं ?

बहुत प्रयास करने पर भी कोई सूत्र हाथ न लग पाया । रहस्य, रहस्य ही बना रह गया ।

१९१३, २४ जनवरी को बड़ी भारी रकम की घोषणा हुई सरकार की ओर से । 'जो कोई अपराधी को पकड़वा देगा उसे हम एक लाख रुपए देंगे ।'

परन्तु कहाँ अपराधी ? पुलिस हर तरह से कोशिश करके हार गई, अपराधी का पता नहीं चला ।

१७ मई को, लाहौर के लारेन्स गार्डन के क्लब में फिर बम फेंका गया । लक्ष्य थे पहले श्रीहट्ट में नियुक्त एस० डी० ओ० जो इस समय पंजाब के सहकारी कमिश्नर थे—मिस्टर गार्डन । परन्तु लक्ष्य-भ्रष्ट हो जाने के कारण प्राण गए एक चपरासी के ।

पुलिस विभाग का तो हाल बिगड़ गया । अभी उस दिन दिल्ली में इतनी बड़ी बात हो गई, अब लाहौर में । इसका रहस्य भेद तो करना ही पड़ेगा ।

रहस्य पर से पर्दा हटा । लेकिन एक साल बाद—कलकत्ते के राना बाजार में ।

१९१३ साल की २१ नवम्बर । अनुशीलन समिति के भागे हुए विप्लवी अमृत हाजरा को ढूँढ़ते हुए अचानक १९६/१ नम्बर अपर सर्कूलर रोड के एक गुप्त अड्डे पर

पुलिस ने छापा मारा।

इसका परिणाम भयंकर सिद्ध हुआ। छापा मारने पर पता चला कि यह तो असल में खतरनाक बमों के निर्माण करने का एक कारखाना है।

लेकिन...लेकिन यह क्या ? बमों की शक्ल-सूरत दिल्ली में फेंके गए बम की शक्ल-सूरत से बहुत मिलती है। है न ? इसका और उसका ढाँचा तो एक सा ही था।

खूंखार विप्लवी अमृत हाजरा पकड़े गए। पकड़े गए दिनेश दासगुप्ता, चन्द्रशेखर दे, शारदाचरण गुहा जैसे और भी प्रमुख सदस्यगण। उसी के साथ कमरे की तलाशी लेते वक्त एक कागज का टुकड़ा मिला। उस कागज पर तरह-तरह की उल्टी-सीधी लकीरें बनी थीं।

इन लकीरों का क्या मतलब हुआ ? ये कैसे चिह्न हैं ?

भयंकर परिश्रम किया पुलिस डी० आई० जी० मिस्टर डेनहॉम ने। बड़ी मेहनत के बाद वे इन टेढ़ी-तिरछी लकीरों का मर्मोद्धार करने में सफल हुए। एक नाम बना—अमीरचन्द्र। दिल्ली के अमीरचन्द्र। सेन्ट जोसेफ स्कूल के मास्टर अमीरचन्द्र।

पकड़ लिया गया अमीरचन्द्र को। वहाँ एक और नाम मिला उनसे—दीनानाथ तलवार।

तुरन्त दीनानाथ तलवार को पकड़ा गया। अब काम बना। दीनानाथ ने अपराध स्वीकार कर लिया। ऐसा करते ही बड़े लाट साहब पर बम फेंकने के मामले में जितने जुड़े थे, एक-एक करके पकड़ लिए गए। पकड़े गए बाल मुकुन्द, अबोध बिहारी, बसन्त विश्वास जैसे कई लोग।

अमीरचन्द्र और उनका भतीजा पकड़ा गया १९ फरवरी १९१४ को। बसन्त विश्वास को २६ फरवरी को कृष्णनगर में पकड़ा गया।

अब रहस्य खुल कर सामने आया। पता चला, उस दिन की सुसज्जिता युवती लीलावती कोई महिला न थी। यह बंगाल के किशोर बसन्त विश्वास थे। लारेन्स गार्डेन के पुलिस क्लब में भी उन्हीं ने बम फेंका था। उस समय उन्होंने नाम बदल कर रख लिया था 'बिशनदास'।

और इस महान् यज्ञ के प्रधान पंडा कौन थे। वे भी एक बंगाली थे। नाम था उनका रासबिहारी। चन्दन नगर के रासबिहारी। महामाननीय सरकार बहादुर के अत्यन्त भक्त-प्रजा रासबिहारी।

भारत तथा पृथ्वी भर के अन्यतम तथा श्रेष्ठ विप्लवी नेता रासबिहारी बोस।

'रासबिहारी ?' जानने-पहचानने वाला हर आदमी स्तब्ध रह गया।

'क्या कहते हो ? रासबिहारी तो पुलिस वालों के गुप्तचर है। वरना इतने बड़े-बड़े राजकर्मचारियों के साथ इनकी इतनी मित्रता कैसे होती ?

सचमुच, उस समय रासबिहारी के लिए लोगों की यही धारणा थी। पुलिस

की रिपोर्ट में भी यही लिखा था—'It is the general belief there amongst the Bengali community that Rash Behari was a police spy and used to supply information to the C. I. D. officers.' [The weekly Report of the Intelligence Branch, Bengal dated July 20, 1914, Two great Indian Revolutionaries—Uma Mukerji]

बड़े लाट साहब लॉर्ड हार्डिंग भी कम आश्चर्यचकित नहीं हुए थे। इस घटना का उल्लेख करते हुए, बाद में उन्होंने अपनी 'My Indian years, 1910-1916' नामक पुस्तक में लिखा था, जिसे सुन कर हँसी आती है।

दिल्ली से देहरादून पहुँचने पर उन्होंने रासबिहारी को जिस रूप में देखा था, वह पढ़ो उन्हीं की लेखनी से—

"....When driving in a car from the station to my banglow. I passed an Indian standing in front of the gate of his house with several others, all of whom were very demonstrative in their salaams.

On my inquiring who these people might be I was told that principal Indian there had presided two days before at a public meeting at Dehra Dun and had proposed and carried a vote of condolence with me on account of the attack on my life.

It was proved later that it was this identical Indian who threw the bomb at me.' अर्थात्—'स्टेशन से कार पर अपने बंगले की तरफ जाते समय, मैं एक मकान के सामने से गुजरा जिसके फाटक पर एक भारतीय व्यक्ति अपने कुछ साथियों के साथ खड़ा था, जो मुझे सलाम कर रहे थे।

'मेरे पूछने पर कि ये लोग कौन है, मुझे बताया गया कि इन्हीं लोगों ने दो दिन पहले ही मुझ पर बम फेंके जाने का विरोध करते हुए एक आम सभा में खेद प्रकट किया था।

बाद में पता चला कि यही वह विशेष व्यक्ति है जिसने मुझ पर बम फेंका था।'

शायद सबसे ज्यादा आश्चर्यचकित हुए श्वेतांग शासक-वर्ग। श्रेष्ठ राजभक्त प्रजा—रासबिहारी—वह निकला श्रेष्ठ राजद्रोही। यह बात तो अविश्वसनीय है।

ठीक है—पकड़ो रासबिहारी को।

पर कहाँ रासबिहारी ? देहरादून से तब तक वे गायब हो चुके थे। भारतवर्ष का चप्पा-चप्पा छान मारने पर भी कहीं उनका पता न चला।

शासक सम्प्रदाय गरज उठा—'कैसे भी हो, रासबिहारी का सिर चाहिए। ५ हज़ार रुपया इनाम देंगे। नहीं—चलो साढ़े सात हज़ार ही सही। बस, एक ही बात है कि उसकी जरूरत है हमें।'

कहावत है, जितना तो साहब न बोले उसका चौगुना बोले मुसाहिब ।

वही यहाँ भी हुआ । भारतीय राजा-महाराजाओं ने एक लाख रुपए का पुरस्कार घोषित किया । 'उसकी यह हिम्मत कि बड़े लाट साहब की तरफ अँगुली उठाता है ? देख लेंगे, यह मिजाज़ कब तक रहता है । पकड़ो उसे ।'

'अच्छा ?' रासबिहारी मन ही मन हँसे । 'पकड़ो मुझे तब फिर ?'

शुरू हुआ खेल । कभी पुलिस रास्ते के इधर तो वह उधर । कभी रेल के एक ही डिब्बे में पुलिस के सबसे बड़े अफसर भी चल रहे हैं और ये भी, जिनके सिर के लिए एक लाख रुपयों का इनाम घोषित है ।

जितनी बार व्यर्थ जाता वार उतनी बार खफा हो जाता शासकों का झुण्ड । सरकार ने साढ़े सात हजार को बढ़ा कर साढ़े बारह हजार कर दिया । इसी के साथ भारत के हर अखबार में तस्वीर छपवा दी । घोषणा हुई—'यही वह आदमी है—इसे पकड़ो । रुपयों के साथ-साथ उपाधि भी दी जाएगी ।'

परन्तु सब व्यर्थ । उन्हे पकड़ना कोई आसान काम नहीं था, मल्लिका ।

भारत की लगभग हर भाषा वे बोल सकते थे । इसके अलावा मिनटों में हुलिया बदलने में पक्के थे । ऐसे आदमी को पकड़ना बहुत मुश्किल होता है ।

इसीलिए इतनी चौकसी के बावजूद वे आज लाहौर, कल अमृतसर, परसों कलकत्ता, चन्दननगर करते फिर रहे थे—बड़े आराम से, सबकी नाक के सामने ।

नाम कितने ? कभी फैट बाबू । कभी सत्तेन्द्रचन्द्र । कभी चूनेन्द्रनाथ दत्त, सतीशचन्द्र या कुछ और ।

कितनी बार सामना हो गया—बातचीत भी हुई, पर कोई शक तक न कर सका—पकड़ना तो दूर की बात है ।

पूरे भारत में रासबिहारी को हीरो सा सम्मान दिया जा रहा था । उनके नाम से कितने किस्से प्रचलित हुए । बात बढ़ा-चढ़ा कर कही जा रही थी ।

कुछ ऐसे ही किस्से तुम भी सुनो—

यह घटना बनारस की है । कुछ देख कर उस दिन रासबिहारी चौंक पड़े ।

बाहर पुलिस । सारा मकान घेर लिया था पुलिस ने । अब क्या किया जाए ?

'कौन है अन्दर ? दरवाजा खोलो ।' बाहर से हुंकारा किसी ने ।

बाहर निकल आया एक महाराज—रसोइया । पुलिस के डर से काँपता हुआ ।

'रासबिहारी अन्दर है ?' पुलिस अफ़सर ने पूछा ।

गर्दन हिलाया रसोइए ने—'हाँ हैं । सो रहे है ।'

सुनते ही भड़भड़ा कर सारे लोग अन्दर घुस गए । हाथ में रिवाल्वर ताने ।

लेकिन कहाँ रासबिहारी ? कोई कहीं नहीं । वह रसोइया भी गायब । मौका इस बीच खिसक गया था वह ।

एक बार कलकत्ते में । सियालदह से धर्मतल्ला तक पुलिस ही पुलिस छा गई ।

रासबिहारी आए हैं। पक्की खबर है कि यहीं कहीं ठहरे हैं।

फिर एक-एक घर ढूंढ़ा गया पर कहीं न मिले रासबिहारी।

बात वास्तव में थी पक्की ही। क्योंकि सियालदह के पोस्ट ऑफिस के दुमंजिले में बैठ कर जो एंग्लो इण्डियन भद्रपुरुष वायलिन बजा रहे थे वे ही थे स्वयं रास-बिहारी।

एक बार जन्मभूमि चन्दन नगर में। चारो तरफ पुलिस का कड़ा पहरा था। मच्छर तक निकल नहीं सकता था। रासबिहारी इसी मकान में हैं, पकड़ो।

पर कहाँ ? चिड़िया तो उड़ चुकी थी। पर उड़ी कैसे ? इस बीच एक भुनगा तक तो घर के अन्दर से निकला नहीं। तो फिर ?

तो, अभी जो जमादार मैले की बाल्टी लेकर गया है—वह ? वही तो कहीं रासबिहारी नहीं थे ?

और एक जगह देखो। उसी वक्त मकान खाली करना जरूरी था वरना बड़ी मुसीबत आएगी। पर जायें कैसे ? चारो तरफ तो पुलिस है।

तुरन्त हल मिल गया। थोड़ी देर में कुछ लोग एक खाट पर मुर्दा लेकर श्मशान जाते दिखाई पड़े। वही स्वर गूंज रहा था—'राम नाम सत्य है। राम नाम सत्य है।'

विचित्र मनुष्य। विचित्र है उसका मन। उसकी कर्मधारा। पहचानना मुश्किल था।

कभी विद्रोही, कभी पक्का अभिनेता या फिर कभी एक दक्ष शिल्पकार। उस समय वे वायलिन पर करुण स्वर जगाते। ऐसा लगता, इस भोले-भाले आदमी के लिए सुर के अलावा और कुछ नहीं है।

इस बीच दो-दो बार भयंकर दुर्घटना का सामना करना पड़ा था उन्हें।

एक बार कलकत्ते के बादुड़बागान के मेस में।

ढाका से आए एक विप्लवी तरुण वीरेन चटर्जी के लाए रिवाल्वर को अन्यमनस्क से हिला-डुला कर देख रहे थे। कब ट्रिगर पर हाथ लगने से वह दब गया, पता ही नहीं चला। जब पता चला तब तक बायें हाथ की तीसरी अँगुली छिन्न-भिन्न होकर खून खराबा हो गया था।

तुरन्त विख्यात विप्लवी नेता प्रतुल गांगुली ने उन्हें दूसरी जगह हटाने की व्यवस्था की। एक तो गोली चलने की आवाज, उस पर घायल—उसके बाद तो एक क्षण भी यहाँ ठहरना ठीक नहीं।

बादुड़बागान से आए २९६/१ नम्बर अपर सर्क्यूलर रोड वाले डेरे पर।

परिस्थिति देख कर फौरन नलिनीकिशोर गुहा जैसे लोग परेशान हुए। फौरन इलाज होना चाहिए। तुरन्त।

आश्चर्य की बात थी कि पुलिस को इस घटना का पता चल गया। इसका प्रमाण है—गुप्तचर विभाग की रिपोर्ट। यहाँ उनके बायें हाथ की अँगुली का उल्लेख

था । और भी बहुत सी बातो का उल्लेख था, जिससे उनके चरित्र की कुछ विशेषताओं का पता चल जाता है—

'Fairly tall; stoutish; Large eyes; Moustache recently shaved. third finger of one hand stiff and scarred as result of accident; Aged about 30. Dresses sometimes as Punjabi and sometimes as Bengali. May probably be wandering about in the guise of a sannyasi. Frequents Rawalpindi, Multan, Ambala, Simla, Amritsar, Gurudaspur, Ferozepur, Jhelam and Lahore. Bengali Kalibaries and colonies and Hindu Shiwalas, etc., Should be carefully scrutinised as well as Sarais and Railway stations.' [Vide File No. 430/14 of the I. B. Records of the Government of West Bengal, Two Great Indian Revolutionaries : Uma Mukerji : P - 138]

और एक दुर्घटना घटित हुई थी काशी के डाक्टर काली प्रसन्न सान्याल के घर पर । अचानक ही भयंकर विस्फोट हुआ । उस दिन रासबिहारी अकेले न थे, उनके साथ शचिन सान्याल भी घायल हुए थे । तुरन्त रासबिहारी को दूसरी जगह भेज दिया गया था । बम की आवाज़ सुनते ही पुलिस दौड़ी आएगी ही ।

१९१४ साल की २१ मई को दिल्ली में जज मिस्टर हैरिसन के कोर्ट में मुकदमा शुरू हुआ । अपराधी थे अमीरचन्द्र, अबोधबिहारी, बालमुकुन्द, बसन्त विश्वास तथा और सात लोग ।

पकड़ नहीं सके थे एक जने को । वे थे मनीन्द्र नायक । चन्दननगर के मनीन्द्र नायक । असल में उस दिन का वह घातक बम उन्हीं का बनाया हुआ था । परन्तु यह बात पुलिस कभी जान नहीं सकी थी ।

५ अक्टूबर को फैसला सुनाया गया ।

अमीरचन्द्र, अबोधबिहारी और बालमुकुन्द को मृत्युदण्ड दिया गया । बसन्त विश्वास को आजीवन कारावास क्योंकि उसकी उम्र कम थी । इतनी कम उम्र में मृत्युदण्ड नहीं दिया जा सकता था ।

परन्तु अंग्रेज समाज इस नियम के खिलाफ़ था...'बेकार की बातें हैं । यह नियम-कानून व्यर्थ हैं । ऐसे खतरनाक लड़कों को छोड़ देना कहाँ की अक्लमन्दी है ? इसे भी फाँसी दी जाए ।'

फ़लस्वरूप २२ अक्टूबर को फैसले के विरुद्ध अपील हुई पंजाब चीफ कोर्ट में ।

'हम लोग आजीवन क़ैद की बात नहीं समझते हैं । इस लड़के को भी फाँसी होनी चाहिए ।'

काम बना । १० फरवरी १९१५ को फैसला सुनाया गया—'हाँ ! इस शरारती

बसन्त विश्वास को भी फांसी की सजा दी जाती है।'

इस बार अपील की गई विलायत की प्रिवी काउंसिल के आगे। तुरन्त रद्द हो गई अपील—'नहीं कोई दया नहीं—वसन्त विश्वास को फांसी होगी ही।'

१९१५ को ११ मई को चारों को फांसी के फन्दे से लटकना पड़ा। फांसी दी गई अम्बाला जेल के भीतर।

जाने से पहले रासबिहारी के प्रधान सहयोगी अबोधबिहारी अपनी स्मरणीय उक्ति छोड़ गए—

'Death is for all and we shall die death of a hero.'

इधर रासबिहारी बैठे नहीं थे चुपचाप। उनके मस्तिष्क में दूसरी ही योजना थी। उस योजना के अनुसार उन्होंने काम भी शुरू कर दिया था।

यूरोप में पहला विश्वयुद्ध शुरू हो गया था। अंग्रेज अपने घर की परिस्थिति संभालने में व्यस्त थे। यही तो मौका है—इस अपूर्व अवसर का फायदा उठाना चाहिए।

लेकिन इस काम के लिए केवल विप्लवी युवकों से काम नहीं बनेगा। उनमें साहस है, त्याग करने की क्षमता है। वास्तविक सैनिक में जो गुण रहने चाहिए वह सब उनमें थे। परन्तु नहीं था अस्त्र उनके पास। यह अस्त्र है सैनिकों के पास। इसीलिए कोशिश करके इन्हें दल भुक्त करना है।

हालांकि काम इतना आसान नहीं। युगों से विदेशियों की दासता करते-करते, यह आदत रग-रग में समा गई है....ये लोग स्वाधीनता की बात तक सोचना भूल गए हैं। धैर्य और निष्ठा के साथ उसी असम्भव को आज सम्भव करना है। उन्हें समझाना पड़ेगा। देशप्रेम के उदाहरण देने होंगे, तब शायद वे इस काम में सहयोग दें।

क्यों नहीं सहयोग देंगे ? यह देश क्या उनका नहीं है ? वे क्या स्वाधीनता नहीं चाहते ?

तब फिर इस महान् व्रत को वे क्यों ग्रहण न करेंगे ? जरूर करेंगे। उन्हें वैसा ही बना लिया जाएगा।

उन्हें ठोंक-पीट कर फिर से बनाने की जिम्मेदारी होगी विप्लवी तरुणों पर। हर एक को महान् कार्य में लगना होगा।

विदेशों में रहने वाले तरुणों को भी इस काम में जुटना होगा। उनके दूर रहने से काम नहीं बनेगा। उन्हें तुरन्त लौटना होगा और अपने उपयुक्त कार्य का भार ग्रहण करना होगा।

पुकार सुनते ही इधर-उधर बिखरे सभी तरुण विप्लवी दौड़-दौड़ कर आने लगे।

आए सचिन सान्याल, नगेन दत्त, विशन सिंह, जगत सिंह, सूरन सिंह, हरनाम सिंह, दामोदर स्वरूप, विनायक राव कापले, विभूति हालदार, प्रियनाथ, विश्वनाथ पाण्डे

जैसे दु:साहसी तरुणों का दल ।

आए दिल्ला सिंह, मंगल पाण्डे, नरेन बनर्जी, नलिनी मुखर्जी, अवधबिहारी, भाई परमानन्द, अनुकूल चक्रवर्ती, हृदयराम जैसे और भी अनेक प्रमुख नेता ।

विदेशों में रहने वाले विप्लवीगण भी पीछे न रहे । अमेरिका से भागे-भागे आए गदर पार्टी के प्राण—सिख युवक करतार सिंह । अपने साथ गदर पार्टी के चार हजार सिख युवकों को भी ले आए । बीस हजार और आने वाले हैं—यह व्यवस्था भी कर आए हैं ।

और आए पिंगले । दुर्दमनीय, दु:साहसी मराठी युवक—पिंगले ।

देख कर आशा और आनन्द से रासबिहारी का हृदय नाच उठा ।

अद्भुत लड़के थे पिंगले और करतार सिंह । उन्हें पहचानने में समय नहीं लगा : तीक्ष्ण, उज्ज्वल दृष्टि ही शीशे की तरह साफ थी जिससे भीतरी चेहरा स्पष्ट दिखाई देता था ।

अपना-अपना उत्तरदायित्व समझ कर कार्यकर्तागण अपने इलाकों में चले गए ।

अब सम्पर्क स्थापित करना है सेना वाहिनी के साथ । उनके बीच घुल-मिल जाना है, फिर धीरे-धीरे मंजिल की ओर बढ़ना है ।

इलाहाबाद की सेना का जिम्मा लिया दामोदर स्वरूप ने । विभूति हालदार और प्रियनाथ ने संभाला बनारस कन्टूनमेन्ट का । रामनगर सिक्रोल का भार लिया तीन लोगों ने—विश्वनाथ पाण्डे, मंगल पाण्डे और दिल्ला सिंह । जबलपुर के लिए नलिनी मुखर्जी ही काफी थे ।

जलन्धर में सैनिक छावनी को संभाला हृदयराम ने । वहाँ के डोगरा रेजीमेन्ट को वश में करना ही होगा ।

हरिचरण हरार और प्यारा सिंह गए कोटा और सन्त गुलाब सिंह और हरनाम सिंह गए बान्नू । वहाँ की ३५ नम्बर की रेजीमेन्ट का सहयोग आवश्यक था ।

मूला सिंह गाँव की तरफ गए । इशारा पाते ही वे गाँव के किसानों के साथ कूद पड़ेंगे लाहौर और अमृतसर के ऊपर ।

दिल्ली की सेना की जिम्मेदारी संभाली सन्त बसाखा सिंह ने ।

बंगाल की चिन्ता तो करनी हो नहीं है । वहाँ के लिए बाघा जतिन ही काफी था । वह अकेले ही सौ के बराबर है ।

सबसे बड़ी जिम्मेदारी संभाली पिंगले और करतार सिंह ने । वे एक ही साथ अम्बाला, फिरोजपुर, रावलपिन्डी, मेरठ कैन्टून्मेन्ट की सैनिक छावनियों में चक्कर लगायेंगे ।

हेडक्वार्टर होगा लाहौर । वहाँ का भार संभालेंगे स्वयं रासबिहारी । सम्पर्क

बनाए रखने का दायित्व संभाला विनायक राव कापले ने। वे हर केन्द्र की एक-एक खबर पहुँचायेंगे महान् नेता रासबिहारी को।

कहाँ हेड क्वार्टर ?

पुलिस का कड़ा पहरा था। किसी अनजाने, अविवाहित व्यक्ति को लाहौर में मकान किराए पर नहीं दिया जाएगा।

रासबिहारी चिन्ता में पड़ गए। अब क्या किया जाए ? इस समस्या को हल किया दल के सहयोगी रामसरन दास की पत्नी ने। बोलीं—'तुम लोग मकान देखो। मैं बोस बाबू की पत्नी का परिचय देकर वहाँ रहूँगी।'

वह वहाँ दो महीने तक इसी परिचय से बनी रहीं। रासबिहारी ने भी कुछ आपत्ति नहीं की। आपत्ति करते भी क्यों ? वह तो साक्षात् माँ थीं। माँ तो बेटे के पास रह ही सकती है।

आश्चर्य की बात तो यह थी कि हर सैनिक-छावनी से एक ही स्वर सुनाई दिया—'हम तैयार है। भारत के इस मुक्ति-संग्राम में हम पीछे नहीं रहेंगे। अस्त्रों की चिन्ता नहीं है। अस्त्र हमारे पास है।'

आदिवासी भी तैयार—'यह हमारा देश है। हम यहाँ के निवासी हैं। हम विदेशी शासन को स्वीकार नहीं करेंगे।'

इधर तैयार बैठे थे बंगाल के विप्लवी तरुण समुदाय। हर कोने-कोने में तैयारी चल रही थी। दूर-दूर तक खबर फैल चुकी थी, तैयार हो जाओ, अब देर नहीं है।

हर जिले में व्यस्तता दिखाई पड़ रही थी। किस जिले में कितनी बन्दूकें हैं, इसका हिसाब चाहिए। किस थाने में कितनी राइफिलें हैं इसकी सही-सही रिपोर्ट आनी चाहिए। सिर्फ रिपोर्ट ही नहीं, उन्हें हथियाना भी होगा।

हर शाम मयमनसिंह और राजसाही के सुरूल के जंगलों में युवकों की ट्रेनिंग शुरू हो गई विधिवत्। इन्हें युद्ध कौशल सिखाया जाने लगा। इनके लिए चाहिए और बन्दूकें, राइफलें।

त्रिपुरा के विलोनिया और उदयपुर सेन्टर के लिए और अस्त्र-शस्त्र चाहिए। इसलिए हथियार और चाहिए।

काम ही काम—समय जरा भी नहीं था। इसी बीच बहुत सारे काम निपटाने है।

एक विशेष संदेश लेकर अनुकूल चक्रवर्ती ढाका की सशस्त्र सिक्ख वाहिनी के पास पहुँचे।

'ये देखो, लाहौर कैन्टूनमेन्ट से सेनापति ने स्वयं तुमसे अनुरोध किया है। तुम क्या हमारा साथ नहीं दोगे ?'

'अवश्य'—हुँकार उठे हजारों व्यक्ति। जय गुरुजी की ध्वनि से चारों दिशायें गूँज उठीं।

पर इधर ही से हमला करना काफी नहीं है। हमला तो बाहर से भी होना चाहिए। क्या किया जाए इसके लिए ?

'हम तैयार हैं'—बर्मा, मलय और सिंगापुर में नियुक्त सैनिकों ने हाँ में हाँ मिलाते हुए कहा—'इतने दिनों से दूसरे के लिए लड़ रहे है, अब अपने देश के लिए लड़ेंगे। उन्हीं के अस्त्रों से उन्हीं को घायल कर देंगे।'

बर्लिन में रह रहे राजा महेन्द्र प्रताप, अजीत सिंह, सूफी अम्बा प्रसाद जैसे विप्लवियों को भी फुरसत न थी।

'आदमी और अस्त्र-शस्त्र के साथ, तुर्क तथा काबुल होते हुए अब वापस चलना है अपने देश। स्वाधीनता संग्राम के इस महायज्ञ में अपने को न्योछावर करना है।'

विद्रोह की घोषणा करने की तारीख निश्चित हुई २१ फरवरी। १९१५ साल—२१ फरवरी।

इसी दिन सब कोई कूद पड़ेंगे ब्रिटिश सेना पर। मुट्ठी भर सैनिकों को स... में बहा कर अपना झंडा फहराएँगे....ऊपर बहुत ऊँचाई पर।

विशाल संगठन। पेशावर से लेकर सिंगापुर तक तैयारी हो गई थी। विशाल युद्ध का संगठन हो चुका था। कहीं कोई त्रुटि नहीं रह गई थी।

हर सैनिक के लिए निजी यूनिफार्म था—थी अपनी भारतीय झण्डावाहिनी। युद्ध-घोषणा का लेखा-जोखा तैयार।

बर्लिन से राजा महेन्द्र प्रताप, अजीत सिंह, सूफी अम्बा प्रसाद काबुल में तैयार बैठे थे। यहाँ तक कि स्वाधीन भारत की अस्थायी सरकार तक बन चुकी थी। बस—अब सिर्फ कूद पड़ना बाकी था।

खाना-पीना भूल गए रासबिहारी—अब देर नहीं, वक्त हो चुका है।

यही हाल था पिंग्ले और करतार सिंह का। योद्धाओं की पोशाक पहन कर बेफिक्री से वे सैनिक-निवासों का चक्कर लगा रहे थे। 'अब देर मत करो, तैयार हो जाओ।' यह मंत्र फूंक रहे थे हर एक के कानों में।

हर सैनिक निवास में उत्तेजना। तहलका मचा था—'हम कब आजाद हो रहे हैं भाई ?'

सहसा दो व्यक्तियों ने घृणित विश्वास-घातकता का रूप दिखाया—पकड़ा सके तो हजारों रुपए पुरस्कार में मिलेंगे—यह मौका छोड़ना ठीक नहीं। ये थे कृपाल सिंह और नवाब खान।

सेनावाहिनी चकित—अफसरों में यह कैसी चंचलता ? कैसा यह डरा-डरा हाव-भाव ! इतने चौकन्ने क्यों ? लग रहा है छिप-छिपकर कुछ करने की तैयारी कर रहे हैं। किसी ने विश्वास-घातकता तो नहीं की है ? कुछ कह तो नहीं दिया है किसी ने ?

मिनटों में रासबिहारी के पास खबर हो गई। 'परिस्थिति सन्देहजनक है। निर्देश चाहिए।'

उन्होंने नए आदेश दिए—'इतनी तैयारी व्यर्थ नहीं जाने देनी चाहिए। २१ की जगह १६ फरवरी को ही धावा बोल दो।'

परन्तु कुछ न हो सका। इससे पहले ही एकाएक अंग्रेज सेना ने भारतीय सेना दल पर हमला बोल दिया। बाधा देने का अवसर ही नहीं मिला। फलस्वरूप सभी क़ैद कर लिए गये।

अस्त्रागार के सामने तोप खड़ी कर दी अंग्रेजों ने। अगर कोई इधर बढ़ेगा तो गोलों से भून डाला जाएगा।

हॉलांकि हर जगह आसानी से कब्जे में कर लिया हो ऐसा नहीं था। कुछ जगहों पर तो खूब मार-धाड़ हुई।

जैसा कि फिरोजपुर में हुआ। किसी हालत में भी वहाँ की सेना आत्मसमर्पण करने को तैयार नहीं थी। उस दिन कम से कम पचास लोगों को मेशीनगन के आगे जान देनी पड़ गयी।

विप्लवी तरुणदल को भी कुछ करने का मौका नहीं मिला। एक ही दिन, एक साथ लाहौर का एक-एक घर घेर लिया गया। पुलिस ने यह तत्परता दिखाई माइकेल ओ' डायर के नेतृत्व में।

मनिराम और विनायक राव कापले जितना भी अस्त्र-शस्त्र कलकत्ते से लाए थे, वह भी पुलिस ने अपने कब्जे में कर लिया। और कितने गिरफ्तार हुए उनकी गिनती नहीं की जा सकती थी। करतार सिंह तथा अन्य नेतागण भी एक के बाद एक पकड़े जाने लगे।

केवल चार घरों से गिरफ्तार हुए तेरह निडर विप्लवी युवक। उसी के साथ अस्त्र-शस्त्र-बम बनाने का माल-मसाला, विप्लव सम्बन्धी पुस्तकें और चार विप्लवी झण्डे।

बच गये पिंग्ले और रासबिहारी। विपत्ति की आगामी झलक देखते ही दोनों काशी की ओर चल पड़े थे।

इसी सिलसिले में जालियांवाला बाग के लिए बदनाम अंग्रेज अफसर माइकेल ओ' डायर ने बाद में अपनी पुस्तक 'India as I know it' में लिखा था—

'On the morning of the 19th February, we had information from our spies that Rash Behari and Pingle had moved their head-quarters to Lahore, that suspecting the leakage of their plans they had decided toantidate the rising to night of the 19th and had sent messages and emissaries to various selected centres, including several

cantonments, to act accordingly. We had then to act.

Thirteen of the most dengerous revolutionaries were captured with their paraphernalia of conspiracy—arms, bombs, bomb making materials, revolutionary letters, literature and four rebel flags.'

परन्तु रासबिहारी और पिंगले को न पकड़ पाने का बड़ा दुःख हुआ माइकेल ओ' डायर को—

'Unfortunately Rash Behari and Pingle were not among those who were captured.'

इधर कलकत्ते की सेना उत्कण्ठा से प्रतीक्षारत बैठी थी। पंजाब मेल अगर न आई तो समझना होगा विप्लव शुरू हो गया है। तुरन्त स्थानीय विप्लवी वीरों को हमला करना होगा फोर्ट विलियम दुर्ग पर। उन्हें यह निर्देश मिल चुका था।

परन्तु यह क्या ? पंजाब मेल तो यथासमय आ गई।

क्या किसी कारणवश विद्रोह शुरू नहीं हो सका है ? या तारीख पिछड़ गई है ?

यही सवाल मलय और बर्मा के सैनिकों के दिमाग में उठ रहा था। क्या हुआ ? किसी तरह का कोई आदेश तो आया नहीं ? क्या पिछड़ गई है तारीख ? या कुछ और बात हो गई है ?

सपनों को वास्तविकता का जामा पहनने का मौका मिला सिंगापुर में। हॉलाँकि थोड़े समय के लिए।

वे केवल इतना ही जानते थे कि २१ फरवरी को देशव्यापी विद्रोह होगा। अगला कोई निर्देश उन्हें मिला नहीं था। उसी के अनुसार २१ फरवरी को, जिस समय आकाश पर लाली फैल रही थी, तभी उन्होंने ब्रिटिश सेना पर भयंकर हमला किया।

अंग्रेज भागे—सिंगापुर स्वाधीन हो गया। यूनियन जैक के स्थान पर वहाँ फहराने लगा स्वाधीन भारत की सेना का निजी झण्डा। उसी बीच जर्मन क़ैदियों को मुक्त कर दिया गया।

सात दिन बीत गए। भारतीय सैनिक चिन्तित थे। मामला क्या है ? अभी तक कोई आदेश नहीं आया ?

तब ? तब क्या कोई दुर्घटना घटित हुई है ? वरना ऐसा तो नहीं होता।

अन्त में उन्होंने अंग्रेज सैनिकों के आगे आत्मसमर्पण कर दिया। सिंगापुर पुनः पराधीन हुआ।

इस बारे में Lt. General Sir George Macmunn ने अपनी पुस्तक 'Turmoil & Tragedy in India' में लिखा था—

"The mutineers at first at sixes and sevens, now broke up into three parties, one to overpower the men guarding the German intern-

ment Camp and release the prisoners, another to attack the Colonel's house, and a third to prevent any assistance arriving down the road from Singapore. Further, several small parties made off, appaıently to murder stray Europeans.

[Turmoil and Tragedy in India : Lt. General sir George Macmunn : P—105—113] Two great Indian Revolutionaries : Uma Mukerji.

इधर काशी पहुँच कर भी पिंग्ले के मन में शान्ति न थी।

इस तरह से हार मानना ठीक नहीं। फिर से प्रयास करना पड़ेगा। फिर चक्कर लगाना होगा हर सैनिक छावनी का। फिर अपनी संस्था का संगठन करना है—देर करना ठीक नहीं।

रासबिहारी का कहना कुछ और था। उनका कहना था कि कुछ दिनों तक परिस्थिति का चुपचाप अध्ययन कर लेना ही ठीक होगा।

लेकिन पिंग्ले न माने—वे अकेले ही चल पड़े मेरठ की १२वीं संख्या रेजीमेन्ट के उद्देश्य से। उन्होंने अपने साथ १० भयंकर घातक बम लिए जिससे पूरी की पूरी रेजीमेन्ट उठाई जा सकती थी।

जाल तो पहले ही से बिछा था। बमों के साथ पिंग्ले मेरठ के अंग्रेज सैनिकों द्वारा पकड़े गए।

२७ अप्रेल को शुरू हुआ लाहौर षड्यंत्र का मुकदमा।

अपराधियों की संख्या शुरू में बासठ थी। बाद में अस्सी हो गई। इनमें से १६ अभी तक पकड़े न जा सके थे।

कहना व्यर्थ है, अंग्रेजों ने डट कर बदला लिया। २४ लोगों को प्राणदण्ड, २६ को आजीवन कारावास क़ैद की सजा हुई।

अपील करने पर थोड़ा बहुत हेर-फेर हुआ। केवल सात जनों को प्राणदण्ड हुआ। ये सात थे—करतार सिंह, पिंग्ले, सुराइन सिंह (१), सुराइन सिंह (२), हरनाम सिंह, जगत सिंह, और बखशीष सिंह।

मृत्युदण्डाज्ञा प्राप्त कैदियों ने प्राणों की भिक्षा माँगने से इन्कार कर दिया। विप्लवी कहीं शत्रु से प्राण भिक्षा माँग सकते हैं? इससे असम्मान होता है।

करतार सिंह ने तन कर कहा—'हम प्राणों की भिक्षा क्यों माँगें? मेरे पास अगर एक से अधिक प्राण रहते, मैं सब को देश पर उत्सर्ग कर देता।'

मल्लिका, इन्हीं करतार सिंह के शिष्य थे शहीद सरदार भगतसिंह—बाद में जिन्होंने सुखदेव और राजगुरु के साथ फांसी पाई थी। करतार सिंह का ज्वलन्त देश-प्रेम उनके विप्लवी जीवन की प्रेरणा था।

अब शुरू हुआ दूसरा लाहौर षड्यन्त्र का मुकदमा। अपराधियों की संख्या थी कुल १२—उसमें से उत्तम सिंह, इसार सिंह, वीर सिंह, रंग सिंह और रूर सिंह को

मृत्युदण्ड दिया गया ।

फिर तीसरा लाहौर षड्यन्त्र का मुकदमा शुरू हुआ । इस बार भी पाँच जनों को मृत्युदण्ड मिला । ये थे बलवन्त सिंह, मौलवी हाफिज अब्दुल्ला, अरूर सिंह, हरनाम सिंह और बाबूराम । उल्लेखनीय बात यही थी कि अन्य प्राणाज्ञा प्राप्त कैदियों की तरह ये लोग भी ग़दर पार्टी के सदस्य थे ।

भारतीय सैनिकों को देशप्रेम प्रदर्शन करने की सजा भोगनी पड़ी । उन्हें सैनिक अदालत से कठोर दण्ड दिया गया । उसमें से अश्वारोही सैनिकों के बारह लोगों को प्राणदण्ड मिला ।

रासबिहारी इधर बड़े ही दुःखी थे । टूटा मन लिए हुए वे कलकत्ता आ गए । एक-एक करके सारे सहयोगी पकड़े जा चुके थे । अब वहाँ रहने से फायदा क्या होगा ?

कलकत्ता आए । उसके बाद चन्दन नगर पहुँचे । अन्त में नवद्वीप चले गये ।

शुभाकांक्षी लोगों का कहना था कि पुलिस उन्हें ढूँढ़ती फिर रही है । आज नहीं तो कल पकड़ जाएँगे । क्या फायदा है, बेमतलब पकड़े जाने से ? इससे तो अच्छा है बाहर चले जाएँ । इस अभागे देश के लिए अभी भी उन्हें बहुत कुछ करना है । दूर से ही कोशिश करना चाहिए ।

बहुत सोच-विचार के बाद रासबिहारी मान गए—'ठीक है । मैं दूर चला जाऊँगा । लेकिन एक बात है । संसार में कोई भी चीज चिरस्थायी नहीं । कभी न कभी तुम लोग मुझे भूल जाओगे । अगर कोई पूछेगा कि रासबिहारी कौन था तो क्या उत्तर दोगे ?'

'हम कहेंगे—वे हमारे नेता थे ।'

'नहीं, नहीं । ऐसा कभी मत कहना । नेतृत्व करने का अभिमान मुझमें न था, न है । हम सब का एक ही तो परिचय है, हम विप्लवी हैं। जन्म से हम बलिदान के लिए समर्पित हैं । इसलिए अगर कोई पूछे तो कहना—'रासबिहारी एक योद्धा थे । I was a fighter.'

अब प्रश्न उठा—पासपोर्ट कैसे मिले ? इच्छा होते ही बाहर जाना तो सम्भव नहीं—चाहिए पासपोर्ट ।

यहाँ भी रासबिहारी ने कमाल कर दिखाया । जिस व्यक्ति के सिर की क़ीमत एक लाख लगी हो, वह निर्भय, निःसंकोच, दिन के उजाले में सीधे रायटर्स बिल्डिंग में घुस सकता है ? हाँ—रासबिहारी ने यही किया ।

वे सीधे पासपोर्ट ऑफिस पहुँचे । उन्होंने पूछा—'May I see the Passport officer ?'

'Yes, I am the Passport officer, please take your seat.' शिष्टाचार दिखाते हुए अंग्रेज ऑफिसर ने अपने सामने की कुर्सी पर बैठने का इशारा किया ।

'Thank you, I am Raja P. N. Tagore, poet Tagore's relative.'

'I am glad to meet you. What can I do for you ?'

'I want a passport for Japan. You must have seen in the newspapers that poet Tagore is shortly going to visit Japan. I am going there as his emissary to make the necessary arrangements for his stay there.' अर्थात्—'मुझे जापान के लिए पासपोर्ट चाहिए। आपने अखबारों में पढ़ा ही होगा कि जल्द ही कवि टैगोर जापान जाएँगे। मैं वहाँ उनके सेक्रेटरी के रूप में जाऊँगा ताकि उनके ठहरने की आवश्यक व्यवस्था कर सकूँ।'

भला इसमें पासपोर्ट ऑफिसर को क्या आपत्ति हो सकती थी ? उन्होंने ज़रा भी हीला-हवाला नहीं किया।

कवि टैगोर जापान जा रहे है यह कौन नहीं जानता था ? अखबारों में इसका विवरण विस्तारपूर्वक प्रकाशित हुआ है। इसलिए आपत्ति का कोई प्रश्न ही नहीं उठता था।

कुछ ही देर में पासपोर्ट लेकर रासबिहारी बाहर निकल आये। उसके बाद सीधे पहुँचे फकीरचन्द्र मित्र स्ट्रीट के गुप्त अड्डे पर। ईश्वर को धन्यवाद—पासपोर्ट इतनी जल्दी मिल गया। हॉलाँकि देर होने का कोई कारण न था। एक तो राजा बहादुर, उस पर कवि रवीन्द्रनाथ के सेक्रेटरी। यह कोई मामूली बात तो थी नहीं।

१२ मई १९१५ साल।

रवीन्द्रनाथ के रिश्तेदार और निजी सचिव पी० एन० ठाकुर के वेश में जापानी जहाज 'सानू की मारू' के डेक पर खड़े थे रासबिहारी। वहीं से अपने देश, अपनी जन्म-भूमि के अन्तिम दर्शन किए।

दोनों आँखों से धार बह रही थी। यह देश, यह मिट्टी कितनी प्रिय है। इस सुजला, सुफला बंगलादेश के लिए कितने सपने देखे थे ? आज उसी प्रिय जन्मभूमि को छोड़ कर जाना पड़ रहा था। बहुत दूर।

मन नहीं मानता है, देह साथ नहीं दे रही है। फिर भी जाना है। जाना पड़ेगा।

इसी तरह छलछलाई आँखों से अन्त तक देखते रहे घनिष्ठ मित्र सचिन सान्याल और गिरिजा बाबू। खिदीरपुर डाक के बारह नम्बर जेटी पर खड़े तृषित नेत्रों से देखते रहे वे रासबिहारी को जाते हुए।

दोनों का हृदय फटा जा रहा था—आश्चर्य ! अद्भुत व्यक्ति है। कभी किसी से कुछ लिया नहीं—हमेशा देते ही रहे। यहाँ तक कि अपना रिवाल्वर तक उन्हें दे गये है।

वह 'सानू की मारू' जहाज धीरे-धीरे क्षितिज में अदृश्य हुआ जा रहा है। अपने आगोश में रासबिहारी को लेकर जहाज आगे चला जा रहा है। सिर्फ आकाश पर एक धुंए का समूह और कुछ नहीं। अग्नियुग के महान् नेता, अपनी प्रिय जन्मभूमि त्याग कर सदा के लिए दूर चले गये।

इसके बाद क्या हुआ, अब मैं तुम्हें यह बताऊँगा, मल्लिका।

'सानू की मारू' जहाज से वे २२ मई को सिंगापुर पहुँचे। २६ मई को हाँगकाँग और ५ जून को जापान के बन्दरगाह कोवे में।

वहीं इनका परिचय हुआ चीन के महान् नेता सुन-यात-सेन से। दोनों एक ही रास्ते के पथिक थे—मित्रता फौरन हो गई।

कुछ दिनों तक शंहाई में रहे। उद्देश्य था, अपने सहयोगियों के लिए भारत में कुछ अस्त्र-शस्त्र भेजने की व्यवस्था करना। जर्मन दूतावास की मदद से, चीन के एजेन्ट के माध्यम से कुछ अस्त्र-शस्त्र भेजे भी, पर अन्त तक वे काम न आ सके। बीच रास्ते में ही अंग्रेजों के कब्जे में चले गये।

शंहाई से जापान आए। परन्तु अंग्रेजों को जल्दी ही इस बात का पता चल गया। तुरन्त नोटिस आ गई—फौरन रासबिहारी और अमेरिका से आए विप्लवी हेरम्ब गुप्त को जापान से बहिष्कृत कर दिया जाए।

जापान मान गया। कहाँ का कौन रासबिहारी! उसके पीछे जापान अंग्रेजों के साथ झगड़ा मोल लेने को तैयार न था।

तुरन्त रासबिहारी और हेरम्ब गुप्त के लिए नोटिस जारी हुई—'आप लोग फौरन जापान छोड़ कर चले जाएँ।'

याद रखो—२ दिसम्बर अंतिम तिथि है।

रासबिहारी सोच में पड़ गए। बड़ी कठिन समस्या थी। इस हालत में क्या किया जाए?

उन्हें सुन-यात-सेन ने समझाया—'तुम अभी मित्सु तोआमा के पास चले जाओ। तोआमा न केवल जापान के शक्तिशाली वामपंथी दल ब्लैक ड्रेगन का अवश्यम्भावी नेता ही है बल्कि इंसान भी अतुलनीय है।'

सुन-यात-सेन ने गलत नहीं कहा था।

खबर सुन कर उन्होंने आदरपूर्वक दोनों को ही अपने घर में रखा।

१ ली दिसम्बर। बस एक दिन और बचा था। उसके बाद ही दोनों को जापान छोड़ना होगा। उसी दिन तोआमा के घर पर एक संवाददाता सम्मेलन बुला कर रासबिहारी ने सारी बातें खुल कर बताईं। वे बोले—'मैं तुम्हारे देश में आश्रय की प्रार्थना करता हूँ, परन्तु जापान सरकार, ब्रिटिश-दबाव में पड़ कर मुझे इस देश से निकाल रही है। सचमुच, बड़े दुःख की बात है, क्योंकि एशिया के एकमात्र स्वाधीन राष्ट्र से मुझे ऐसी आशा नहीं थी।'

दूसरे ही दिन यह समाचार जापान के हर अखबार में प्रकाशित हुआ। खूब आलोचना हुई थी। रासबिहारी हमारे आश्रय-प्रार्थी हैं और जापान उन्हें परम-शत्रु अंग्रेजों के हाथों में दिए दे रहा है।

'कभी नहीं'—ब्लैक ड्रेगन पार्टी ने विरोध किया—'आश्रय-प्रार्थी को शत्रु के हाथों में देने की बात पार्टी कभी भी नहीं मानेगी।'

२ दिसम्बर। आज रासबिहारी को शाम तक जापान छोड़ कर चले जाना है।

पुलिस भी तैयार। बस, कुछ घंटे बचे हैं। इस बीच चले जाएँ तो अच्छा है, वरना गिरफ्तार कर लिए जाएँगे।

निश्चित समय पार होते ही पुलिस आ पहुँची तोआमा के यहाँ। 'कहाँ हैं वे लोग ?'

'वे लोग यहाँ नहीं है।' तोआमा का यही संक्षिप्त उत्तर था—'वे बहुत पहले यहाँ से जा चुके हैं।'

बात सच थी। चप्पा-चप्पा छान डाला पुलिस ने—न रासबिहारी का कहीं पता था, न हेरम्ब गुप्ता का।

पुलिस सेना अवाक् रह गई—कहाँ गए दोनों ? हवा में दोनों उड़ गए क्या ?

वे लोग उस समय एक रोटी बनाने वाली फैक्टरी के मालिक मिस्टर सोमा के यहाँ थे। सोमा स्वयं, अखबार में सारा समाचार पढ़ने के बाद उन दोनों को आकर आदर सहित ले गए थे। उनके अनुसार इस तरह से ब्रिटेन के दबाव में आ कर दो आश्रय-प्रार्थियों को निकाल देने से राष्ट्र की बदनामी होती है।

शुरू हुई लड़ाई—शीत-युद्ध। एक तरफ जापान की सरकार, दूसरी ओर ब्लैक ड्रेगन पार्टी। कोई अपना दावा छोड़ने को तैयार नहीं। दोनों पक्ष समान वजन के थे।

परिस्थिति देख कर ब्लैक ड्रेगन पार्टी चिन्तातुर हुई। इस बीच हेरम्ब गुप्त अमेरिका चले गए थे। सिर्फ रासबिहारी रह गए थे। पर सरकार से लड़ कर इस तरह कितने दिन छिप कर रहा जा सकता है ? यही बात मिस्टर तोआमा भी सोच रहे थे। कैसे रासबिहारी को बचाया जाए ?

डर जापान सरकार का उतना न था जितना था ब्रिटिश दूतावास का। वे लोग रासबिहारी को पकड़ने के लिए कमर कसे तैयार बैठे थे।

ढूँढ़ते-ढूँढ़ते परेशान हो गए थे। उनके निजी गुप्तचर और स्काटलैण्ट यार्ड से आए दक्ष ब्रिटिश गुप्तचर रात-दिन इसी काम में लगे थे। उन्होंने तो तय कर लिया था, मौका मिलते ही गोली मार देंगे।

इस दशा में ऐसा एक आदमी होना चाहिए जो रासबिहारी पर दिन-रात चौकसी रखे। कौन है वह आदमी जिस पर पूरा भरोसा किया जा सके ?

कहानी का अलग हिस्सा श्रीमती सोमा के शब्दों में—

'कुछ दिनों तक हमारे यहाँ रहने के बाद रासबिहारी के लिए दूसरा इन्तजाम किया गया।

एक दिन मिस्टर तोआमा ने हमारी बड़ी बेटी तोसीको के साथ रासबिहारी के विवाह का प्रस्ताव पेश किया। इस प्रस्ताव को सुन कर हम बहुत ही विचलित हुए।

रासबिहारी को हम लड़के की तरह प्यार करते है, श्रद्धा भी करते हैं। वे भी

हमें माताजी-पिताजी कह कर बुलाया करते हैं। लेकिन इसके मतलब यह तो नहीं कि उनसे तोसीको की शादी की बात सोचें। फिर तोसीको से कैसे बताएंगे हम ? वह तो अभी किशोरी बालिका है— स्कूल में पढ़ रही है।

फिर भी रासबिहारी की मुसीबत का ध्यान कर, मन ही मन भगवान् से प्रार्थना की कि तोसीको इस संकटपूर्ण दायित्व को ग्रहण कर ले। भारत के ४० करोड़ मनुष्यों की मुसीबत अगर इससे टल जाए तो एक कुर्बानी दी जा सकती है।

अन्त में मैंने ही एक दिन पूछा—'तोसीको, तुम क्या मिस्टर बोस की रक्षा करने का उत्तरदायित्व ग्रहण कर सकोगी ?' तोसीको ने शान्त भाव से कहा—'माँ, मुझे थोड़ा सा सोचने का समय दो।'

एक महीने बाद तोसीको ने कुण्ठित भाव से आकर कहा—'माँ, यही व्यवस्था करो। मैंने मन पक्का कर लिया है।'

डबडबाई आँखों से देखते हुए मैंने कहा—'अभी भी सोच कर देख लो तोसीको। यह विवाह आनन्ददायक नहीं होगा।'

उस समय तोसीको दृढ़ संकल्प थी।'

'I explained the situation again and again. She was determined.' ['Rash Bihari Bose—his struggle for India's Independence.'] नामक पुस्तक से।

१९१८ साल की जुलाई में यह विवाहोत्सव सम्पन्न हुआ। सब की नज़र बचा कर। पुरोहित हुए स्वयं मिस्टर तोआमा।

नया जीवन, नया वातावरण। परन्तु शान्ति कहाँ ? स्थिरता कहाँ ?

भगोड़ा जीवन...जिस जीवन के पग-पग पर डर था। संशय था। न जाने कब, किधर से मृत्यु हमला कर बैठे।

परन्तु प्रसन्नचित्त होकर हर मुसीबत का सामना करने को तैयार थी प्रियतमा पत्नी तोसीको। इस बीच १७ बार उन्हें पुलिस के डर से घर बदलना पड़ा था। फिर भी इस बात के लिए उन्हें किसी से कोई गिला न थी। कोई खेद नहीं। ऐसा होगा यह तो जानी बात थी।

विप्लव का रास्ता कब काँटा-रहित होता है ? कहाँ फूल बिछे रहते हैं ? इस रास्ते पर जो भी चला वही लहूलुहान हुआ। तब फिर दुःख की क्या बात है ?

इस बीच रासबिहारी ने जापानी भाषा सीख ली। चार ही महीने में ऐसी कठिन भाषा सीख ली और फर्राटे से बोलने-लिखने लग गए। इस काम के लिए उन्हें शिक्षक की जरूरत नहीं हुई थी कभी।

बाद में, उन्होंने इस भाषा में कई पुस्तकें भी लिखी थीं। दोस्त लोग उनके इस प्रयास पर चकित रह गए थे।

इस लम्बे कष्टमय जीवन का आठ साल बाद अन्त हुआ। १९२३ साल के जुलाई महीने में—उस दिन उन्हें जापान की नागरिकता प्राप्त हुई।

रासबिहारी की जान में जान आई। मुक्ति ! मुक्ति ! मुक्ति ! दुःखों का अन्त हुआ। अब कोई डर नहीं रहा। कानूनी रोक-टोक नहीं।—निश्चिन्त निर्विकार रहो।

लेकिन कहाँ शान्ति ? शान्ति कभी मिलती है आसानी से ? सुख के दिन शुरू होते ही प्रियतमा पत्नी तोसीको सदा-सदा के लिए छोड़ गई। ४ मार्च १९२५ को उन्होंने प्राण त्यागे। एक पुत्र और एक कन्या छोड़ गईं।

मल्लिका, तुम तो इस जमाने की लड़की हो। कभी तोसीको की भूमिका में अपने को रख कर कल्पना कर सकती हो ?

उस दिन तोसीको को कमी किस चीज की थी ? क्या नहीं था उसके पास ? जानबूझ कर असहाय-बेसहारा, एक भागे हुए विप्लवी को मृत्यु के हाथों से बचाने के लिए उस दिन उस विदेशी लड़की तोसीको ने जो त्याग और निष्ठा का परिचय दिया था वह अतुलनीय था।

बिलकुल ही अज्ञात, अपरिचित एक मुसीबत के मारे व्यक्ति को बचाने के लिए, ब्लैक ड्रैगन पार्टी के नेता तोआमा और सोमा परिवार ने जो निःस्वार्थ कर्त्तव्य पालन किया था वैसा कोई और उदाहरण नहीं मिलेगा।

और रासबिहारी ? उनकी तुलना कहीं हो सकती है ?

बाद में, एक समय तोसीको की माँ श्रीमती सोमा ने रासबिहारी को शादी करने के लिए कहा था। जानती हो उन्होंने क्या उत्तर दिया था ? 'असम्भव। जो तोसीको आठ साल तक सुख-दुःख में मेरे साथ हर समय रही वह आज भी मेरे पास ही है। उसकी जगह पर किसी और को बैठाना सम्भव नहीं है।'

उस दिन की घटना का वर्णन करते हुए श्रीमती सोमा लिखती हैं—

'Ten years later, I spoke to Mr. Bose, you should now enter into a new life.'

But he laughed at the idea of another marriage.

'Mother, it is impossible to find Tosiko's love again...it is painful for me even to think of such a thing. I have my dear mother and father. That is more than enough. I am happy. Tosiko is always with me as she was during my lovely eight years in concealment. Moreover my life is not mine, it is offered to my native country. I was and am satisfied to have had eight years with Tosiko. That is more than enough.'

Hearing this, I said to my daughter living in my memory : 'Tosiko, what a happy girl you are. Mr. Bose is truly a big man. He is a little too big for you. Is it not so ? You are quite happy, are not you ?' [Rash Behari Bose—his struggle for India's Independence : p--36—37]

निःसंग नायक। अब तक तोसीको थीं। अब तो हर समय की संगिनी तोसीको भी नहीं रही। बिल्कुल अकेले।

फिर भी भाग्य के सामने नहीं झुके। बल्कि जैसे ही कानूनी बन्धनों से छुटकारा मिला वैसे फिर कूद पड़े काम में।

बस, हर समय यही चिन्ता बनी रहती—कैसे भारतवर्ष स्वाधीन हो? कब मैं अपनी जन्मभूमि को देखूँगा जी भर कर? कब आएगी वह शुभ घड़ी? कब?

उन्होंने भारतीय स्वाधीनता संघ (Indian Independence League) की स्थापना की। दक्षिण-पूर्वी एशिया के सारे भारतवासी एक हों। यह मौका कभी न कभी तो आएगा ही।

१९३७ साल में मौका मिला। चीन और जापान के बीच लड़ाई छिड़ गई।

टोकियो के रेनबो में एक भारतीय सभा में रासबिहारी ने नई घोषणा की—'Asia for the Asians. Go home white.'

देखते ही देखते रासबिहारी का यह संदेश दक्षिण-पूर्वी एशिया में प्रचलित हो गया। छोटे-बड़े, हर किसी की जुबान पर यह एक वाक्य था....'Asia is for Asians. Go home white,'

यही बात जापानियों ने भी कहना शुरू किया—'आजिया ओया आजिया, जिन नो तामे नो आजि ा। हाकूजिन ईम्पो किकोकूसेओ....'

अर्थात् एशिया एशियावासियों के लिए है, श्वेतांग विदा हो जाएँ।

आया १९३९ साल। लड़ाई शुरू हुई। जापान भी इस युद्ध में अनिवार्य रूप से फँस गया।

उस समय के युवक रासबिहारी आज वृद्ध और अस्वस्थ थे। फिर, भी वे तन कर खड़े हो गये। परिस्थिति देख कर सोचने लगे—पहले विश्वयुद्ध में असफलता ही हाथ लगी थी। इस बार जबरदस्त बदला लेना होगा। एशिया के भू-खण्ड से ब्रिटिश साम्राज्यवाद को मिटा देना है।

इस बीच ब्रिटिश जापान के हाथों मार खा रहा था। पर एक मजबूत चोट पड़नी जरूरी है। सबको एकत्रित करके अगर एक भयंकर चोट पहुँचाई जा सके तो पराधीनता के अभिशाप से भारत को मुक्त कराना ऐसा कोई मुश्किल काम न होगा।

यह सब देखते-देखते रासबिहारी सुभाष की ही तरह थक गये थे।

शरीर दुर्बल हो चुका था। चलना-फिरना भी मुश्किल हो गया था, फिर भी हर कष्ट को तुच्छ मान कर वे भागते फिर रहे थे। बार-बार यही कहते—

'I was a fighter, one fight more—the last and the best.' 'उठो! र खड़े हो जाओ। स्वाधीनता प्राप्त करने का अवसर आ गया है। भाइयो, आगे आओ। हाथ मिलाओ—जीत हमारी ही होगी।'

रासबिहारी इतने पर ही रुक गए हों, यह नहीं। दुर्दिन के मित्र तोआमा के प्रबन्ध करने पर जा कर भेंट की जापान के इम्पीरियल जनरल स्टॉफ के प्रमुख सेनापति मार्शल सुगीयामा से। वहाँ उन्होंने कहा—'मैं अधिकृत क्षेत्रों में रहने वाले भारतीयों की सुरक्षा और नारियों की मर्यादा के सम्बन्ध में वचन चाहता हूँ।'

राजी हो गए मार्शल सुगीयामा—'ठीक है। मैं वचन देता हूँ।'

उन्होंने दूसरी शर्त रखी। 'हम ब्रिटिश के साथ आखिरी बार समझौता करने के लिए तैयार है। इस मामले में हर तरह से हमें सहयोग प्रदान करना होगा। इस बात को प्रमाणित करना होगा कि तुम दिल से मानते हो कि India for the Indians.'

यह बात भी मान ली गई हूबहू। सहयोग के निदर्शन स्वरूप मेजर फूजियारा को दक्षिण पूर्वी एशिया भेज दिया गया, जापान-भारत रक्षाकारी अफसर बना कर। उनका प्रधान काम था अधिकृत इलाकों के भारतीयों को संगठित करने के काम में मदद पहुँचाना।

मल्लिका, अब शायद तुम समझ गई होगी कि उस दिन ४० हजार भारतीय सैनिकों को क्यों मेजर फूजियारा ने मोहन सिंह को सौंप दिया था। असल में हर बात की जड़ में रासबिहारी ही थे, जिनके त्याग की गाथा सदा स्वाधीनता संग्राम के इतिहास के पृष्ठों पर स्वर्णाक्षरों में लिखी रहेगी।

युद्ध में क्षति तो होती ही है। खासकर जो सेना रणोन्मत्त होकर विजयगर्व से आगे बढ़ती रहती है।

लेकिन दक्षिण-पूर्वी एशिया में एक भी नारी की मर्यादा की हानि या भारतीय धन-सम्पत्ति को नुकसान नहीं पहुँचा।

इसके पीछे रासबिहारी का हाथ था। शुरू में ही उन्होंने सैनिकों के बीच भारत-जापान मैत्री का संदेश छोटी-छोटी पुस्तिका के रूप में बाँट दी थी। भारतीयों से कैसे बोलना चाहिए, नारियों को कैसे किस भाषा में सम्बोधित करना चाहिए, इन बातों का पूरा-पूरा स्पष्ट उल्लेख था।

इसका बड़ा व्यापक प्रभाव पड़ा था। इस बात की चर्चा करते हुए मेजर जनरल शाहनवाज खाँ ने अपनी पुस्तक 'I, N A. & its Netaji' में कहा है—

'भारतीयों के प्रति जापानियों का व्यवहार बिल्कुल अलग था।...वे भारतीय सैनिकों से कहते—'तुम हमारे शत्रु नहीं हो भाई।'....युद्धक्षेत्र में जितने भी भारतीय सैनिक कैद हुए थे उन्हें जापानियों से अच्छा व्यवहार मिला था।

... फिलिपाइन, थाईलैंड, डच ईस्ट इण्डिया, फ्रांसीसी इन्डोचीन, शंघाई, बर्मा, कोरिया, मांचूरिया जैसी जगहों में जितनी भी भारतीय संस्थाएँ थीं उनका संचालन कर रहे थे रासबिहारी।

पूर्वी एशिया में इन शाखाओं को स्थापित करके रासबिहारी ने बड़ी सूझ-बूझ और बुद्धिमानी का परिचय दिया था।....कहीं भी भारतीय नारी का अपमान नहीं हुआ। I will say this much for them that they never molested any

Indian woman.' बल्कि बहुत सी चीनी और इन्डोनेशियन स्त्रियाँ उस दिन साड़ी पहन कर या दुपट्टा ओढ़ कर बच गई थीं।

जापानियों में लाख बुराई हो वे सैनिक अच्छे थे। अपने ऊपर वाले का आदेश आँख-कान बन्द करके मान लेते थे। अक्सर देखने में आता वे भारतवासियों के घर जाते और दोस्ती करने की कोशिश करते। पूछते—'गांधी क्या?' अर्थात् 'तुम क्या गांधी के दल के आदमी हो?' उत्तर में 'हाँ' कहने पर वे खुश होकर नमस्कार करते, हाथ मिलाते और चले जाते।' [I. N. A. & its Netaji : P—11-15]

निःसन्देह यह रासबिहारी के ही प्रयासों का फल था कि दक्षिण-पूर्वी एशिया के तीस लाख भारतीय नर-नारियों की सम्पत्ति, मर्यादा सुरक्षित थी।

इधर रासबिहारी कुछ दूसरी ही योजना बना रहे थे।

न सिर्फ़ बाहर से, बल्कि भीतर-बाहर दोनों तरफ से हमला होना चाहिए। दोनों तरफ से हमला हुआ तो भारत में ब्रिटिश साम्राज्य का पतन अवश्य होगा। पर इसके लिए अच्छी तरह से प्रचार करना होगा। भारत में लोगों को कहलाना होगा। कि 'हम लोग तैयार हैं। तुम सब भी तैयार हो जाओ। अब देर नहीं है।'

उन्होंने फिर जापान सरकार के साथ सम्पर्क स्थापित किया। जापान और भारत सहयोग के निदर्शन स्वरूप हर तरह के प्रचार का मौका चाहिए। तुरन्त।

जापान मान गया—'ठीक है।'

९ मार्च १९४२—प्रचार कार्य आरम्भ हुआ। सत्ताइस साल के लम्बे अन्तराल के बाद, टोकियो रेडियो से रासबिहारी का स्वर गूंज उठा भारतवासियों के लिए—

I, Rash Behari Bose, representing the Indians living in East Asia, pay my homage to you.

......I must pay homage to all those Indians, some of them known and honoured by their countrymen but most of them 'unwept, unhonoured and unsung,' who since India lost her freedom to the British have individually and collectively, made an offer of their lives to regain it....[Rash Behari Bose—his struggle for India's Independence : P—160—161]

९ मार्च को ही विप्लव-गुरु ऋषि अरविन्दो के उद्देश्य में श्रद्धा अर्पित करते हुए बोले—'This a salute to him to whose inspiring call owes the birth of positive Indian nationalism···and due to whose burning speech and thundering pen, patriotism came to have a fresh and profound meaning for modern Indians.

This salute is offered to him in the time honoured Indian custom of asking for the blessings of the elders and pioneers before undertaking a great and noble task.' [ibid—P—162—163].

१३ मार्च को गांधी जी के उद्देश्य में बेतार द्वारा सन्देश भेजा—'I, Rash Behari Bose, representative of Indians now living in East Asia, regard you as the sole leader of the Indian nation and have no hesitation in saying that the fate of the Indian nation is secure in your hands.

........I shall be greatly pleased to receive your blessings in my present undertaking. May God show you the proper way to lead India to complete freedom...." [ibid : P—163-165]

उसके बाद उन्होंने जवाहरलाल, वीर सावरकर, मौलाना अबुल कलाम आजाद, राज गोपालाचारी, सरदार वल्लभभाई पटेल, मुस्लिम लीग के प्रधान जिन्ना, सीमान्त-गांधी अब्दुल गफ्फार खाँ जैसे लोगों को अलग-अलग सम्बोधित करके यही कहा कि अब लड़ कर कुछ पा सकने का समय आ गया है।

इसी बीच उन्होंने मलय और थाईलैण्ड में कार्यरत कैप्टन मोहन सिंह और सत्यानन्द पुरी, ज्ञानी प्रीतम सिंह, एन० राघवन को भी कहलाया।

....'तुम सब टोकियो चले आओ, भाई। आगामी टोकियो सम्मेलन में बैठ कर हम यह तय कर लेंगे कि हमें किस रास्ते पर चलना होगा। सम्मेलन २८ मार्च से है। याद रखो हमारा सबका लक्ष्य एक ही है—One nation—India, One enemy—England, One goal—independence. नहीं—मुझे नेतृत्व करने का कोई शौक नहीं है। पहले भी नहीं था, अब भी नहीं है। सिर्फ एक ही इच्छा है। वह है कि मैं अपनी उस जन्मभूमि को अन्तिम बार के लिए एक बार देख सकूं जिसे छोड़ कर चला आया था। एक बार उसके पाँव छू कर कह सकूं—जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी।

नहीं, मैं अब दुनिया से कुछ नहीं मांगूंगा, सिवाय इसके। उसके बाद मेरी छुट्टी। हमेशा के लिए छुट्टी।

उधर सुभाष दृढ़ कदमों से बढ़ते जा रहे थे।

केवल काम। काम और काम। एक के बाद एक....असंख्य—अगणित काम।

आजाद हिन्द संघ का अपना चिन्ह होना चाहिए। अपना डाक टिकट। आफि-सरों और सैनिकों को चाहिए निजी यूनिफार्म, बैज और मेडल। जितनी जल्दी हो सके उतनी ही जल्दी व्यवस्था होनी चाहिए।

उसके बाद रेडियो पर भाषण। नियमपूर्वक सारी बातें देशवासियों को बतानी होंगी। साम्राज्यवादी ब्रिटिश का असली चेहरा सबको दिखा देना है। सब को बुला कर बता देना है कि अब समय नहीं रह गया। अब युद्ध के लिए तैयार हो जाओ।

क्या तुम जानती हो, मल्लिका, सुभाष ने उस दिन किन-किन केन्द्रों से अपना भाषण प्रसारित किया था?—

पडिब्रेड और ह्वीजेन से। रिकार्ड किया वह भाषण २०.३४ मीटर पर प्रसारित

किया जाता पडिब्रेड से। वहाँ उस समय घड़ी में ५ बज कर पन्द्रह मिनट रहता था। यह भाषण ५ बज कर पैंतालीस मिनट तक प्रसारित होता था।

और १९.७१ मीटर, शार्टवेव लेंग्थ पर प्रसारित होता ह्वीजेन से।

वही एक ही खबर फिर दूसरे दिन सुबह तीन बज कर तीस मिनट से पाँच बज कर तीस मिनट तक प्रसारित होता पडिब्रेड से—२०.३४ वेव लेंग्थ पर। निश्चित समय पर रेडियो खोलने पर वही एक आवाज गूँज उठती—'मैं सुभाष बोल रहा हूँ—'

यह काम कुछ आसान नहीं था मल्लिका।

बर्लिन से प्रसारित होने वाले किसी भी समाचार को सुनना या किसी अखबार में उसका विवरण प्रकाशित करना—दोनों ही बातें कानूनन मना थीं। इसलिए यह समाचार या भाषण सुनने के लिए ठीक से दरवाजे-खिड़कियाँ बन्द करनी पड़ती थीं।

वह भी ठीक से हर समय सुनाई नहीं पड़ता था, क्योंकि शत्रु-पक्ष नाना प्रकार की भयंकर आवाजों द्वारा सुभाष का भाषण दबा देने की कोशिश करते। ताकि कोई सुन न सके।

इसके अलावा विभिन्न प्रकार के उल्टे-सीधे प्रचार करते थे। आज जो पहचान में नहीं आते हैं वे ही स्वनामधन्य महापुरुष, उन दिनों, जेबों में पारिश्रमिक भर कर रेडियो द्वारा, सुभाष विरोधी बातों का प्रचार करते थे।

उधर आजाद सेनावाहिनी का प्रशिक्षण कार्य द्रुतगति से आगे बढ़ रहा था। ट्रेनिंग का कार्य सौंपा गया था वॉल्टर हरविच् को।

इससे पहले सिवा राइफेल के उन्होंने एक भी अस्त्र का प्रयोग नहीं किया था। अब वे पर्वतारोहण, पैराशूट व्यवहार, टैंक युद्ध कला जैसी आधुनिक युद्धविद्या में कुशल हो चले थे।

एन० जी० स्वामी और अन्य कुछ लोग रेडियो, तार, टेलीफोन, नाना प्रकार की सांकेतिक लिपि, अदृश्य स्याही के प्रयोग जैसे मामलों में सिद्धहस्त हो गए थे। शत्रु कैम्प में घुस कर युद्ध की गुप्त खबरें प्राप्त करने के लिए इन चीजों की जानकारी जरूरी थी।

न सिर्फ युद्धविद्या में बल्कि मानसिक रूप से भी सैनिकों में परिवर्तन आ गया था।

किराए के सैनिक कहलाने के कारण सम्मान नामक कोई चीज ही नहीं थी। हर कोई उनकी अवहेलना करता, उन पर हँसता था।

आज वे भारत के आजाद सैनिक थे। उनको लोग दूसरी नजर से देखते—इज्जत देते। यह बात सोच कर उनका हृदय गर्व से भर उठा। मुँह से निकल जाता—'जयहिन्द ! नेताजी जिन्दाबाद।'

आश्चर्य ! धूर्त अंग्रेजों के प्रचार-कौशल के आगे ये भूल गये थे कि हम एक हैं। तब तक हिन्दू, मुसलमान, सिक्ख, ईसाई सभी धर्म के मानने वाले अलग थे।

सैनिक भी अलग थे। असल में धर्म और सम्प्रदाय की भीत पर ही सब कुछ

बन कर तैयार हो रहा था। शायद उद्देश्य था कि जरूरत पड़ी तो एक के खिलाफ दूसरे को भिड़ा देंगे। भाषा, पोशाक, आहार तक में भेदभाव रखा जाता था।

आज हिमालय से कन्याकुमारी तक सब मिल-जुल कर एकाकार हो गया था। वे अब सीना तान कर कहते—'In India we have many religions and many gods. But here everything is Jai Hind.' [The springing Tiger : Hugh Toye : P—74] भारत में बहुधर्म, बहुदेवी-देवता हैं परन्तु यहाँ सब कुछ 'जय-हिन्द' है।

यह सच है, मल्लिका—उस समय लोगों की बस एक ही कामना थी—वह थी 'जयहिन्द'।

बीच-बीच में सुभाष अपनी प्रिय आजाद हिन्द फौज को देखने जाते। उनके सामने कठोर संग्राम के दिन आने वाले थे। इन्हें अपना सर्वस्व दाँव पर लगाना था।

उधर जापान जीत रहा है। हर क्षेत्र में उसकी विजय हो रही थी। इसी के साथ बार-बार जापान के प्रधानमन्त्री का यह सन्देश सुनने में आ रहा था—'India for the Indians. India for the Indians. India for the Indians.'

निःसन्देह यह घोषणा अभिनन्दनीय है। भारतवासियों के लिए इससे बड़ा सच और क्या होगा ?

सोचते-सोचते सुभाष दिवा-सपनों में खो जाते। जर्मनी से भारत की दूरी लगभग दो हजार मील थी, परन्तु बर्मा तो बिल्कुल बगल ही में है। संख्या में भारतीय वहाँ बहुत ज्यादा हैं। 'वहाँ अगर एक बार जा सकता ?'

उन्होंने बर्लिन के जापानी राजदूत जनरल ओसिमा और उनके सामरिक सलाहकार कर्नल ईयामामोतो से भेंट की।

तुरन्त टोकियो पहुँच गई यह खबर—'भारत के श्रेष्ठतम विप्लवी सुभाष चन्द्र बोस दक्षिण-पूर्वी एशिया जाना चाहते हैं। क्या आदेश है ?'

टोकियो से निर्धारित समय पर उत्तर आया। अत्यन्त निराशाजनक—

'तोकियो निओया सुदेनी दाई काकूमेका रासबिहारी बोस सेनूसेगा ईरू। गेनजूई नो आकूजी कियोकूजी नी तानो काकूमेंका ओ नाजे बेरूरिन कारा ईयोबानाकारेता नारानाई नो का।'

अर्थात्, 'सुविख्यात रासबिहारी बोस यहीं रहते हैं। ऐसी परिस्थिति में दूसरे विप्लवी की क्या जरूरत है ?'

फिर भी सुभाष हताश नहीं हुए। उन्होंने फिर भेंट की जनरल ओसीमा और कर्नल ईयामामोतो से।

एक बार नहीं, बार-बार मिले। बर्मा और भारत बिल्कुल सटा हुआ है। ऐसे मौके बार-बार आते कहाँ हैं ?

सुभाष और रासबिहारी। पृथ्वी के दो छोर पर दो गृहत्यागी पुरुष।

दोनों का एक ही लक्ष्य था—भारत स्वाधीन होना चाहिए। ब्रिटिश सिंह फँस गया है। यही तो अवसर है। पृथ्वी में इस समय तोड़-फोड़ हो रही है। इसी बीच किसी भी तरह से भारत को स्वाधीन कर लेना होगा।

सही नेतृत्व के अभाव में भारत की आन्तरिक दशा अत्यन्त चिन्ताजनक थी। खासतौर से कांग्रेस की। तीन साल हुए युद्ध शुरू हो गया था, लेकिन आज भी वे सहयोग का प्रश्न उठा कर आवेदन-निवेदन करते जा रहे हैं।

सच पूछा जाए तो, पिछले तीन सालों में, सुभाष को दल से बहिष्कृत करने और जब-तब वजह-बेवजह मुस्लिम लीग के प्रमुख नेता जिन्ना की खुशामद करने के, कांग्रेस ने कोई दूसरा उल्लेखनीय कार्य नहीं किया था।

सर्वत्र हताशा, अस्त-व्यस्तता। कहीं भी एक बिन्दु प्रकाश नहीं।

बस, थोड़े-थोड़े दिनों बाद हर आवाज को दबाती एक आवाज गूंज उठती—

'मैं सुभाष बोल रहा हूँ....

'....आज के युग में ब्रिटिश की तरह स्वाधीनता और प्रगति का दुश्मन दूसरा कोई नहीं है। ब्रिटिश शासन के ध्वंस करने का अर्थ होगा भारत पर से एक स्वेच्छाचारी अन्यायी शासन का अन्त। प्यारे भाइयों और बहनों, अंग्रेजों के विरुद्ध इस युद्ध में आप सब मेरी मदद कीजिए।

'जिस साम्राज्य का जन्म शत्रुता के बीच हुआ हो, वह जब तक जिन्दा रहेगा, तब तक लूटमार, अत्याचार, कुछ भी करने से बाज न आएगा। उन्हें युद्ध में विजयी बनाना हमारी दासता की बेड़ियों को चिरस्थायी रूप देना है।

'न, इन षड्यंत्रों और धूर्तता के बावजूद ब्रिटिश भारत को धोखा नहीं दे सकेगा। हम स्वाधीनता के लिए लड़ेंगे। न केवल अपने को मुक्त करेंगे, स्वाधीन बनाएँगे, एशिया को भी—सारी दुनिया को। जयहिन्द।'

इसी तरह की वाणी टोकियो रेडियो द्वारा प्रसारित होती—'मित्रों, अब बातें नहीं। बातें कम काम अधिक करो। अपनी शक्ति बातों में नष्ट न करो। जितना कम बोलोगे उतनी ही अधिक शक्ति संचित होगी कार्य करने के लिए।'

'Action is more important and effective than words. The less you talk, the more energy you conserve for action.'

परन्तु कहाँ युद्ध ? बल्कि हालत और भी गम्भीर हो उठी, गांधीजी और कांग्रेस वर्किंग कमिटी के बीच पैदा हो गई गलतफहमियों के कारण।

गांधीजी का कहना था : अहिंसा सबसे पहले। इसलिए सहयोग के प्रश्न पर किसी भी सिद्धान्त पर क्यों न पहुँचा जाए, रास्ता अहिंसा का ही होगा।'

परन्तु जवाहरलाल, आजाद जैसे कुछ खास नेता इस बात से सहमत नहीं थे। उनका कहना था : पहले स्वाधीनता फिर अहिंसा। कांग्रेस अहिंसात्मक नीति पर आस्था भले ही रखे, पर अगर रक्तरंजित युद्ध में अंग्रेजों का साथ देने पर कुछ मिलता है तो

साथ देना चाहिए ।

इसी बात पर गलत-फहमी पैदा हो गई । फलस्वरूप अन्त में नेतृत्व त्याग दिया उन्होंने । इधर कांग्रेस भी दो हिस्सों में हो गई । '........the majority of congress Leaders rejected Gandhi's policy and called for some sort of co-operation with the British....Congress remained divided,' [Last years of British India : Micheal Edwards : P—86]

हालांकि गांधीजी के लिए यह कोई नई बात नहीं थी। इससे पहले भी कई बार वे कांग्रेस के साथ सम्बन्ध बिगाड़ चुके थे । हां, ऐसा उन्होंने ज्यादा दिनों के लिए कभी नहीं किया । फिर एक दिन यथास्थान लौट आते थे । सुभाष के शब्दों में—

Whenever any opposition raised outside his cabinet, he could always coerce the public by threatening to retire from the Congress or to fast unto death. [The Indian Struggle : Subhas Chandra Bose]

अर्थात्, जब कभी गांधीजी के विरुद्ध, केबिनेट के बाहर आवाज उठती, वे लोगों को कांग्रेस त्याग देने या आमरण अनशन की धमकी देकर अपनी बात मानने को बाध्य करते थे ।

शान्त नदी में तूफान लाने का काम किया चीन के राष्ट्रनायक चांग काई शेक ने ।

उधर जापान अपनी विजय-यात्रा में व्यस्त था । सिंगापुर का पतन हो चुका था । बर्मा की भी दशा अब-तब हो रही थी ।

प्रधान मंत्री चर्चिल निर्विकार थे । सब चला जाए तो जाए पर भारतवर्ष के लिए किसी तरह का निर्णय लिया जाए, इस पर वे सहमत नहीं । कांग्रेस या अन्य कोई पार्टी सहयोग दे या न दे, इसकी भी उन्हें कोई परवाह न थी ।

देख-सुन कर चांग काई शेक डर गए । वे तुरन्त अमेरिका में पढ़ी अपनी सुन्दरी पत्नी के साथ भारत आए ।

जापान के भयंकर आक्रमण ने चीन की हालत खराब कर रखी थी । बर्मा तो खत्म होने ही वाला था ।

जापानियों की अग्रगति रोकने के लिए इस समय भारतीयों का सहयोग अत्यन्त प्रयोजनीय है ।

जवाहरलाल से पुरानी मित्रता थी । सोचा, उनसे कह-सुन कर देखा जाए, क्या किया जा सकता है ।

जवाहरलाल तो सुनते ही राजी हो गए । जापान साम्राज्यवादी राष्ट्र है । जैसे भी हो सकेगा उसे रोकना होगा । तैयार न होने की कोई बात नहीं थी ।

परन्तु इस बात के लिए गांधीजी तैयार न हुए। बन्द कमरे में चांग काई शेक के साथ उनकी क्या बातचीत हुई, यह तो नहीं मालूम, परन्तु देखने में आया कि जवाहरलाल के मत से उनके विचार मेल नहीं खा रहे थे।

मुसीबत देख चांग काई शेक पहुँचे अमेरिका के राष्ट्रपति रूजवेल्ट के पास।

'भारत के साथ समझौता करने के लिए आप जल्दी ही चर्चिल पर दबाव डालिये। वरना जापानियों के हाथ से न चीन बच पाएगा, न भारत। इंगलैंड और अमेरिका के निजी स्वार्थ रक्षा के लिए भी यह जरूरी है।'

अब जाकर काम बना। कुछ भी कहो, इस वक्त अमेरिका मित्र-पक्ष का मुखिया था—उसकी बात तुरन्त टाली कैसे जाती? जन-बल, धन-बल और युद्ध-सामग्री के मामले में अमेरिका इस समय इंगलैंड का सहारा था। उसकी बात अनसुनी कर दे, ऐसी शक्ति इंगलैंड में न थी।

अनिच्छापूर्वक, १६ मार्च को चर्चिल ने अपनी सद्-इच्छा घोषित की—'मैं जल्दी ही अपने कैबिनेट सदस्य सर स्टेफोर्ड क्रिप्स के हाथों बहुत बड़ा तोहफा भेज रहा हूँ। आशा है भारतीय अब अवश्य ही प्रसन्न होंगे।'

जवाहरलाल खुश हुए। खुश होने की बात ही थी। क्योंकि वैसी ही चिन्ताधारा थी....काम भी वैसा ही करते थे। खुश न होने की कोई बात तो थी नहीं।

गांधीजी आशावादी नहीं थे। उनके विचार थे: क्रिप्स अत्यन्त शरीफ आदमी हैं पर जिस मशीन वाले वाहन पर वे सवार हुए हैं वह है अति परिचित ब्रिटिश साम्राज्यवाद। फलस्वरूप, कितने भी अच्छे क्यों न हों, अन्त तक उन्हें इस मशीन के आगे आत्म-समर्पण करना ही पड़ेगा।

उधर चर्चिल की घोषणा सुन कर भारत में पनप रहे सभी दल सक्रिय हो उठे।

साफ-साफ समझ में आ रहा था कि स्वाधीनता अब दूर नहीं....केवल क्रिप्स के आने भर की देर है। इसलिए पहले से अपना मैदान तैयार रखने में हर्ज क्या है?

न जाने कब बिल्ली का भाग्य जाग जाए? एक के बाद एक, असंख्य दावे करने लगे।

कांग्रेस का दावा था—हम सहयोग करने को तैयार हैं लेकिन इसके बदले में क्या मिलेगा, साफ-साफ बताना पड़ेगा।

हिन्दू महासभा कुछ और ही कह रही थी—'कांग्रेस? कांग्रेस कौन होती है? वह तो कुछ धनिकों की बनाई हुई संस्था है। उन्हें हिन्दुओं की तरफ से कुछ भी कहने का क्या हक है? कुछ अगर कहना है तो हम कहेंगे। हाँ, सहयोगिता के लिए हम तैयार हैं। हिन्दू युवक सेना वाहिनी में बड़ी संख्या में प्रवेश ले लो।'

और कम्यूनिस्ट पार्टी? उसकी बात मैं तुम्हें बाद में बताऊँगा, मल्लिका।

पर जिन्ना कुछ भी मानने को तैयार नहीं थे। उनकी साफ बात थी, हमें जो कहना है हम लाहौर के अधिवेशन में कहेंगे। हिन्दुओं के साथ हमारा कोई मेल नहीं है। हमारी अलग जाति है, पर हमारा अपना कोई देश नहीं, इसलिए हमें पाकिस्तान चाहिये।

'Pakistan is our deliverance, defence, destiny. Pakistan is our only demand and we will have it.'

सिक्खों का कहना था अगर मुसलमान पाकिस्तान माँग सकते हैं तो हमें भी सिक्खिस्तान चाहिए।

'बस इतना ही ?' व्यंगोक्ति की आचार्य कृपालिनी ने—'क्यों, अलग जनाना-स्तान नहीं चाहिए क्या ? सरोजिनी नायडू, कमला देवी वगैरह दावा करतीं क्यों नहीं ?'

देख रही हो, मल्लिका—ये सारे दावे धर्म और सम्प्रदाय के नाम पर किए जा रहे थे, राष्ट्र के नाम पर नहीं। अर्थात्—हम निःस्वार्थ स्वाधीनता की कामना नहीं करते हैं। हम तो धर्म और सम्प्रदाय के आधार पर स्वाधीनता माँग रहे हैं।

और सुभाष की आज़ाद हिन्द फौज ? वहाँ भी तो विभिन्न धर्मावलम्बियों की कमी नहीं थी। पर नहीं—'जय-हिन्द' के अलावा दूसरे किसी धर्म से वे परिचित नहीं थे। उनका एकमात्र परिचय था—वे भारतीय हैं। दूसरे सारे परिचय उनके लिए झूठे थे आज।

इसके कारण थे—नेताजी ? उन्होंने सिखाया था हिन्दुस्तान एक और अभिन्न है। वहाँ आदमी-आदमी में कोई अन्तर नहीं है।

Netaji had determined to abolish or ignore all caste and religious distinction. This had great effect and in course of time it was not 'gods' that mattered but the Nation and "Jai Hind" that ruled the hearts of men.' [Ganpuley : P—97]

उधर चर्चिल की घोषणा से सुभाष भी चौकन्ने हुए।

शीघ्र ही भारतवासियों को क्रिप्स के सम्बन्ध में आगाह करना होगा। मनुष्य मार खा कर सीखता है। हमने भी प्रथम विश्वयुद्ध में अंग्रेजों पर विश्वास करके मुँह की खाई थी। इसलिए अब वह गलती नहीं दोहरानी है।

यथा समय सुभाष ने यही बात बर्लिन से रेडियो द्वारा देशवासियों से कही—

'मैं सुभाष बोल रहा हूँ....

मेरे भाई बहनों, अंग्रेजों के इस मिशन का विरोध कीजिए।

भारत के प्रति उनकी सद्-इच्छा प्रमाणित करने के लिए १६३६ साल के सितम्बर माह से, लगातार हम निवेदन करते आ रहे हैं पर कोई फायदा नहीं हुआ। अविश्वास, झूठ और चापलूसी के अलावा इसके उत्तर में हमें कुछ मिला नहीं।

आज ब्रिटिश प्रचारक भारतवासियों को यह समझाने की कोशिश कर रहे हैं कि शत्रु के आने वाले आक्रमण की आशंका से भारत विपत्तिग्रस्त है। उसी के लिए भारतवासियों से कहा जा रहा है कि वे अपना खून, श्रम और अश्रुपात करें।

पर मैं कह रहा हूँ कि भारत की सीमा के बाहर हमारा सचमुच का कोई शत्रु नहीं है। असली शत्रु तो हमारे घर में ही है।

जर्मनी, इटली या जापान—भारत की मुसीबत बनेंगे—इससे बड़ा झूठ और

कुछ हो नहीं सकता है। मैं जितना उन्हें जान सका हूँ उसी के आधार पर ज़ोर देकर कह सकता हूँ कि भारत की स्वाधीनता के लिए सहानुभूति और शुभेच्छा के अलावा उनके दिल में हमारे लिए कोई और भावना नहीं है।

आज हमारे लिए खुशी का दिन है। त्रि-शक्ति की भयंकर मार से हमारा सदैव का शत्रु ब्रिटिश साम्राज्य टूट कर चूर-चूर होने लगा है। आज हमें खुशी यह देख कर हो रही है कि सुदूर पश्चिम में ब्रिटिश साम्राज्यवाद का एक-एक स्तम्भ, आँखों के सामने गिर कर ध्वस्त हुआ जा रहा है।

आज हमारी खुशी का दिन है। क्योंकि नया दिन शुरू हुआ है। यह वह दिन है जो शौर्य वीर्य से भारत की स्वाधीनता प्राप्त करेगा। जिस स्वाधीनता पर भारत का हक है। भारत का सुख, ऐश्वर्य, समृद्धि। जयहिन्द।'

सुभाष के बाद रासबिहारी। १६ मार्च को उन्होंने टोकियो से देशवासियों को सम्बोधित किया।

'क्रिप्स आकर जितना भी बहलाना क्यों न चाहें, हम उनकी पुरानी चाल से बहकेंगे नहीं। प्रथम विश्वयुद्ध में बेझिझक सहयोग का हमें क्या पुरस्कार मिला? केवल जालियांवाला बाग का निष्ठुर हत्याकाण्ड ही न? आज वह बात भुला देना बुद्धिमानी नहीं।'

'I like to warn you again, Oh Indian brothers and leaders of Indian nationals, against Britain's old tricks. She is now sending Sir Stafford Cripps to India to deceive the Indian nation.

Be not befooled this time. Do not forget the story of the last European War. India made enormous sacrifice for helping Britain win that war.

In lieu of her sacrifices England promised India self rule. But, what did India get ? India got martial laws and Jalianwala Baghs.' [Rash Behari Bose—his struggle for India's Independence : P—167]

रासबिहारी इतना कह कर खामोश हो गए हों ऐसा भी नहीं था। उसी दिन उन्होंने मुस्लिम लीग के नेता जिन्ना के लिए सन्देश प्रसारित किया—'अतीत का सारा भेदभाव भुला कर आप फिर से, पहले की तरह राष्ट्रीय नेता के रूप में मंच पर उतरिये, जिन्ना साहब। यह मौका एक बार चूक गए तो फिर नहीं आएगा।'

'A great mission awaits you, Janab Jinnah, in this connection ....I assure you that we are all awaiting your emergence once more as a national leader.' [ibid : P—169]

भारतीय राजनीति की जितनी जानकारी सुभाष को थी, रासबिहारी को उतनी नहीं थी। इसका कारण था कि वे पूरे सत्ताइस वर्षों से देश से दूर रह रहे थे। वे इसी-

लिए बड़ी-बड़ी आशाओं के साथ विभिन्न नेताओं से अनुरोध करने लगे।

१८ मार्च को उन्होंने जवाहरलाल नेहरू को सम्बोधित किया—'ऐतिहासिक आवश्यकतावश आज ब्रिटिश साम्राज्य का नष्ट होना जरूरी है। एशियाई राष्ट्रों के बीच स्वाधीन भारत का पुनरुत्थान काम्य है।'

'On behalf of the Indians in East Asia, my only prayer to you at this moment is that you realise that the doom of the British Empire is a historic necessity and the rise of a free India as a member of the Asiatic comity of nations, is the wish of Providence itself.' [Ibid : P—171]

२१ मार्च को वीर सावरकर को सम्बोधित करते हुए बोले—'ब्रिटिश आज हर तरह से लालच दिलाएगा। हो सकता है कि स्वाधीनता देने का वचन भी दे बैठे। परन्तु उनके इस जाल में बिल्कुल फँसना ठीक नहीं होगा, अगर इस बात का डर हो कि हम प्रत्यक्ष रूप से युद्ध में फँस जाएँगे।

'At this stage Britain may offer all kinds of temptations to Indians—she might even offer 'independence.' But please do not accept even independence if it would involve India in a war with which she has got nothing to do.' [Ibid : P—74]

उसके बाद उन्होंने मौलाना अबुल कलाम आज़ाद के नाम सन्देश देते हुए कहा—'कांग्रेस ने साम्राज्यवादी देशों के युद्ध में हिस्सा न लेने का जो संकल्प किया है उस पर अटल रहिए। हमारी विजय निश्चित है।'

'At this time when the whole world is facing a radical change in the course of its history, and when consequently the fate of our nation seems to hang in the balance, I Rash Behari Bose, appeal to you with respect, hopes and expectations.

........Appealing to you once more to stick to your fixed policy of refusing to participate in any imperialistic war of England, Revered Maulana Saheb, I, at the same time, pray to God to grant you sufficient strength to lead the country to independence and security.' [Ibid : P—174—177]

अब चक्रवर्ती राजागोपालाचार्य के नाम—

'किसी विशेष राजनैतिक दृष्टिकोण या अद्भुत कल्पना द्वारा दृष्टि को मोहाच्छन्न करने से कोई लाभ नहीं। किसी प्रकार की अन्तर्राष्ट्रीय जटिलता में बिना उलझे स्वाधीनता पा लेना ही एकमात्र लक्ष्य होना चाहिए।

'........request you all not to let your vision be blurred by ideological chimeras, and to set independence without international

complications alone as the giuding star on your present perilous journey.' [Ibid : P—370]

राजगोपालाचार्य के बाद सरदार वल्लभ भाई पटेल को सम्बोधित किया—

'वह समय आ गया है। स्पष्ट शब्दों में हमें घोषणा कर देना चाहिए—हम बिना शर्त स्वाधीनता चाहते हैं।'

'Now is the time for the last supreme effort on your part as well as on the part of us Indians abroad. Now is the time to assert in unmistakable terms our national birthright, that is, immediate, complete and unconditional independence.' [ibid : P—179]

अन्त में उन्होंने सीमान्त गांधी अब्दुल गफ्फार खाँ के लिए संदेश प्रसारित किया—' दुःसाहसी पठानों को लेकर आगे आइए। अवसर का सद्व्यवहार कीजिए। स्वाधीनता के दरवाजे तक इस बार हम पहुँच ही जाएँगे।'

'Come forward with your brave Pathans, Khan Saheb and utilize this golden opportunity afforded to us by the war of Greater East Asia, to lead India to complete independence. [Ibid : P—394]

इसी समय जापान के प्रधान मंत्री तोजो ने नए सिरे से एक घोषणा की—

'The British influence in India is now about to be exterminated, I wish once again to repeat at this juncture Japan's expectation that not only the leaders in India but the four hundred million people there, while avoiding unnecessary calamities which will result from their being misled by sweet flatteries of Britain, the nation, destined to down fall, will take full advantage of this heaven sent opportunity and break away from the British bonds which have so long shackled them and thus go vigorously forward to realize truly their long cherished aspiration of "India for the Indians,' अर्थात्—भारत में ब्रिटिश प्रभुता समाप्त होने को है। ऐसे मौके पर मैं फिर कह रहा हूँ कि, जापान आशा करता है, न केवल भारतीय नेतागण, वहाँ के चालीस करोड़ निवासी भी अंग्रेजों की मीठी-मीठी बातों में बहक कर गलत रास्ते पर न चले जाएँ जिसका परिणाम भयंकर साबित होगा। जिस ब्रिटिश का पतन अवश्यम्भावी है, उनकी चापलूसी भरी बातों में न आकर वे उस रास्ते पर चलें जिसका मूलमंत्र है—भारत भारतीयों के लिए।'

अचानक ही लंदन से एक भयानक खबर आ पहुँची।

'सुभाष जीवित नहीं।'

राइटर के एक संवाददाता ने सूचित किया—'वे टोकियो जाते समय विमान

दुर्घटना में मारे गए हैं।'

सम्पूर्ण भारत इस खबर से स्तब्ध रह गया। कौन जानता था कि सुभाष अपने प्राणों की बलि इस तरह देंगे? इस बात पर तो विश्वास भी नहीं हो रहा था।

गांधीजी ने तार भेजा। और भी अनेकों ने तार भेजा। 'सुभाष जीवित नहीं हैं। अब कभी उनकी आवाज सुनने को नहीं मिलेगी—यह दुःख सारी उम्र सालता रहेगा।'

'मैं सुभाष बोल रहा हूँ....'

सारा भारतवर्ष चौंक पड़ा—'कौन? कौन है? कौन कह रहा है यह? अदृश्य लोक से यह किसकी आवाज सुनाई दी?'

....'मैं सुभाष बोल रहा हूँ। ब्रिटिश संवाददाताओं ने सारी दुनिया में प्रचार किया है कि टोकियो जाने के रास्ते में, एक विमान दुर्घटना में मैं मारा गया हूँ। मैं मर जाऊँ, इस बात की उन्हे खुशी होगी और वे चाहते है। परन्तु उनका यह दुर्भाग्य है कि मैं आज भी जिन्दा हूँ।

हाल ही में सर स्टैफोर्ड क्रिप्स ने रेडियो पर जो भाषण दिया है, उससे मैं विशेष रूप से चिन्तित हूँ।

वे ब्रिटिश साम्राज्यवादियों की वही हमेशा की फूट डालने वाली नीति के साथ भारत-यात्रा कर रहे हैं, यह दिवालोक सा स्पष्ट और प्रत्यक्ष है।

मैं उन्हें याद दिलाना चाहता हूँ, ईस्वी युग आरम्भ होने के कुछ शताब्दी पहले, यहाँ तक कि इंगलैण्ड के संगठित होने के हजारों वर्ष पहले, महाराजा अशोक ने भारत में एकछत्र राज्य स्थापित किया था। ब्रिटिश की फूट डालने वाली नीति ने ही अनेकों जातियों को जन्म दिया है।

और यही कारण है कि एक तरफ तो वे कुछ राजनीतिज्ञों के साथ बातचीत करने की इच्छा प्रकट कर रहे हैं, तो दूसरी तरफ स्वाधीनता संग्राम के सच्चे, निर्भीक और भयंकर वीर योद्धाओं को जेलों में भर कर बैठे हुए है।

मेरा विश्वास है कि एक दिन इन स्वाधीनता संग्राम के बहादुरों की इच्छाशक्ति जेलों की मजबूत सलाखें, ऊँची और सख्त पत्थर की दीवालों को तोड़ कर रख देगी। भारत की जनता का उद्धार करेंगे और उन्हें बताएँगे कि यह अपमान सिर्फ उनका ही नहीं, सारे देश का है, पूरे भारत का है।

अगर सर स्टैफोर्ड यह सोचते हैं कि हर बार की तरह इस बार भी भारतीयों को धोखा देकर काम बना लेंगे तो मैं कहूँगा कि वे मूर्खों की दुनिया में रहते हैं।

प्रथम विश्वयुद्ध में इंगलैण्ड भारत की मदद से ही विजय प्राप्त कर सका था। उस भारत को इसके बदले मिला क्या था? मिली थी अकथित पीड़ा, अत्याचार और अगणित नरहत्या। उस बात को हम लोग कोई भूले नहीं है।'

दूर से आती यह आवाज़ इतना कह कर रुक गई। यह प्रमाणित हो गया कि सुभाष जीवित हैं। तो फिर ब्रिटिश ने यह झूठा प्रचार क्यों किया? इसका उद्देश्य क्या है?

उद्देश्य? उद्देश्य था कि सुभाष वास्तव में हैं कहाँ, यह जानना तथा सुभाष के प्रति भारतवासियों की भावना का अनुमान लगाना।

सुभाष इतना कह कर ही शान्त नहीं हुए। फिर कुछ दिनों बाद उनकी आवाज़ गूंज उठी। इस बार भारतीयों के लिए नहीं। उन्होंने क्रिप्स को सम्बोधित किया—

'मैं सुभाष बोल रहा हूँ....सर क्रिप्स, मैं आपसे खुल्लम-खुल्ला कुछ प्रश्न पूछना चाहता हूँ।....

आप जब श्रमिकों की ओर से लड़ते थे तब बहुतों की तरह मैं भी आप से श्रद्धा करता था। क्योंकि आप हमेशा साम्राज्यवाद का विरोध करते थे।

आप ने यहाँ तक कहा था कि इंगलैण्ड के राजा को गद्दी त्याग देना चाहिये। क्योंकि यही गद्दी साम्राज्यवाद की वास्तविक भीत है।

पर आज?

सम्पूर्ण इंगलैण्ड में चर्चिल जैसा भारत विरोधी व्यक्ति दूसरा न होगा। यह बात कितनी सच है, आप के अलावा और कोई क्या जानेगा?

परन्तु कहाँ? इस पर भी उसकी आधीनता में मन्त्रित्व ग्रहण करते समय आपने ज़रा भी चूं-चपड़ नहीं किया?

आप तो श्रमिक दल के नेता हैं, परन्तु मुंह से ही अच्छी-अच्छी बातें करना जानते हैं। आप में और साम्राज्यवादियों में अन्तर कहाँ है?

क्या हुआ था १९२४ साल में?

क्या हुआ था १९२९ से १९३१ तक—इन तीन सालों में?

आप लोग ही तो तब शासक की गद्दी पर विराजमान थे। उस समय हमने अपने दिन गुजारे थे लोहे के सीकचों के पीछे। वह भी साधारण ढंग से नहीं, बिना किसी तरह के प्रमाण के, मुकदमें के। बिना फैसला हुए।

उस दिन आप लोगों ने एक लाख लोगों को कैदखाने में बन्द रखा था।

इसके अलावा बात-बात पर लाठी चार्ज करना, पेशावर की भोली-भाली जनता के ऊपर भयंकर गोली-वर्षा की, बंगला देश के गाँव के गाँव जला कर राख कर दिए, नारियों पर अत्याचार—यह सब तो था ही। तो फिर फ़र्क कितना था?

यह बात क्या आप नहीं जानते हैं कि भारतवर्ष में ब्रिटिश शासन का इतिहास है वादे तोड़ना और वादे पूरे न करने का इतिहास?

आप क्या यह नहीं जानते हैं कि हमारे राष्ट्रीय कांग्रेस का एकमात्र दावा है—पूर्ण स्वाधीनता? उस पर भी आप जैसे विख्यात व्यक्ति का दूसरा प्रस्ताव लेकर जाने से फायदा क्या है?

साधारण लोगों के सामने आपकी यह भूमिका, दूसरे ब्रिटिश राजनीतिज्ञों की तरह ही झूठी और धोखेबाजी की लगेगी। क्योंकि वे जानते हैं कि भारत का एकमात्र शत्रु है साम्राज्यवाद और उस साम्राज्यवाद के शोषण से छुटकारा पाना ही भारतवासियों का एकमात्र लक्ष्य है।'

२२ मार्च को सर क्रिप्स भारत आये।

हालाँकि दो साल पहले भी एक बार आ चुके थे, परन्तु उस बार गैर सरकारी दूत की हैसियत से आए थे। इस बार मन्त्रिमण्डल के सदस्य बन कर आए हैं।

इसके अलावा उस क्रिप्स और इस क्रिप्स में जमीन-आसमान का अन्तर है। आजकल इंगलैण्ड में वे सबसे जनप्रिय व्यक्ति समझे जाते थे।

क्योंकि रूस में ब्रिटिश राजदूत के रूप में, अन्त तक काम निकालने के लिये जो-जो चालें चली थीं उसे कौन नहीं जानता है?

नीति भले ही न मिले परन्तु देश के भयंकर दुर्दिन में रूस जैसा शक्तिशाली राष्ट्र मित्र बन जाये यह क्या मामूली-सी उपलब्धि थी?

इस बार छाँट कर उन्हें भेजने का भी यही एक कारण था। क्रिप्स ठहरे अनुभवी आदमी। रूस जैसे राष्ट्र को जो मुट्ठी में कर सका हो, उसके लिए भारत को वश में करना कौन-सा मुश्किल काम था? इसलिए उनकी सफलता के बारे में कोई शंका ही नहीं थी।

क्रिप्स की ओर से विभिन्न राजनैतिक दल के नेताओं को बुलाया गया कि आ कर बातचीत करो, जिससे किसी निश्चित सिद्धान्त पर पहुँचा जा सके।

लेकिन फारवर्ड ब्लॉक? नहीं, क्रिप्स फारवर्ड ब्लाक से बात करने को तैयार नहीं।

'क्यों, कारण क्या है?' फारवर्ड ब्लॉक के प्रेसीडेन्ट आर० एस० रुईकर ने पूछा।

'कारण? कारण है कि तुम्हारा नेता दुश्मनों की तरफ से काम कर रहा है!' उत्तर दिया क्रिप्स साहब ने।

'Owing to the fact that the President of your organization has been actively co-operating with enemy powers?'

हालाँकि सरकारी अखबार स्टेट्समैन का वक्तव्य स्पष्ट था। क्रिप्स की तरह ढाँकना-ढूँकना उसे आता नहीं था। स्टेट्समैन ने खुल्लम-खुल्ला यह बात सरकार को बता दी थी।

'न, दया का कोई प्रश्न नहीं उठता है। क्षमा भी नहीं की जा सकती है। सरकार को चाहिए कि बांगला देश के सुभाष समर्थकों की तुरन्त हत्या करे। हत्या ही एकमात्र सजा है।'

'...... Nevertheless we all know that Bengal was the home of a small but convinced pro-fascist party led by Mr. Subhas Chandra Bose.

It is the business of the Government to rouud up the enemies of the country forthwith and put them to death. No quarter what ever should be given to them.......The penalty for traitors to India must be death. [The statesman : 13, 3, 42]

इस बात का उत्तर दिया था उस समय फारवर्ड ब्लॉक पत्रिका की सम्पादिका विप्लवी लीला राय ने। 'We shall not stand it. हम यह सहन नहीं करेंगे।'

यथासमय क्रिप्स ने नज़राना पेश किया....वही पुराना ढंग—'तुम युद्ध करो हम तुम्हें खुश कर देंगे। हाँ, अभी नहीं, युद्ध में विजयी होने पर। यह पक्का वादा है।'

जवाहरलाल, मौलाना आजाद वगैरह मान गए—'बढ़िया प्रस्ताव है।' आपत्ति करने का कोई प्रश्न ही नहीं था।

पर कांग्रेस के जवाहरलाल ही तो सर्वेसर्वा नहीं थे। अन्त में गांधीजी को आगे आना पड़ा।

परन्तु सब कुछ व्यर्थ हुआ। क्रिप्स चालाक आदमी थे, उस पर बातें बनाने में बड़े कुशल थे।

फिर भी जवाहरलाल और गांधीजी तो एक ही आदमी नहीं? हर किसी को बातों के दाँतपेंच में फँसाने वाला क्रिप्स इस असाधारण आदमी के आगे मुँह के बल लड़खड़ा कर गिरा।

उन्होंने साफ और सीधी बात कही—'तुम हमें खुश करना चाहते हो युद्ध में विजय प्राप्त करने के बाद। युद्ध में तुम जीतोगे ही यह किसने कहा है? इसकी क्या कोई गारन्टी है? यह तो वही हुआ 'A post-dated cheque on a crashing bank.'

बार-बार अमेरिका के प्रेसीडेन्ट रूजवेल्ट ने अनुरोध किया—

'किसी एक फैसले पर आए बगैर क्रिप्स भारत से वापस न जाएँ। हालत जो है उसमें भारतवर्ष की मदद के बिना युद्ध में विजयी होना असम्भव है।'

ऐसा ही तार उन्होंने चर्चिल के पास भी भेजा—'वास्तव में अगर तुम लोग भारत को खुश करने की सद्-इच्छा हृदय में रखते हो तो दो दिन पहले खुश कर देने में नुकसान ही क्या है? इस बात पर ज़रा विचार कर लेना चाहिए।'

इसके अलावा एक अनोखा प्रस्ताव अमेरिका की ओर से आया—

'There is only one possible chance to make up a little of the lost time to spike the guns of Bose opposition. Nehru must be asked to become Prime Minister and Minister for Defence....' [Leadership and Political Institution of India]

सारांश यह था कि परिस्थिति का सामना करने के लिए नेहरू को प्रधान मंत्री और रक्षामंत्री बना दिया जाए।

नहीं....इसका कोई और कारण नहीं था....यह था सिर्फ सुभाष की बढ़ती हुई

शक्ति पर रोक लगाने का एक तरीका।

कुछ कहना बेकार है, मल्लिका। फिर भी एक बात है। सुभाष के गतिरोध के लिए अमेरिका को उस दिन जवाहरलाल का ध्यान क्यों आया था ?

....न, मैं इस प्रश्न का उत्तर नहीं दे सकूंगा।

चर्चिल किसी प्रस्ताव पर नहीं माने। 'भारत इस समय मुसीबत का सामना कर रहा है। ऐसे समय में उनके हाथों में शासन भार सौंपने पर क्या वे जापानियों के हाथों से अपने देश की रक्षा कर सकेंगे ?'

'नहीं—ऐसा सम्भव नहीं। जानबूझ कर भारत को वे इतनी बड़ी मुसीबत में धकेलने को तैयार नहीं। कुछ भी हो, भारत के प्रति उनका नैतिक उत्तरदायित्व भी तो है। पर हाँ, युद्ध के बाद जितनी जल्दी हो सकेगा वे भारत की बात पर विचार करने को तैयार हैं।'

कोई तैयार न हुआ क्रिप्स का प्रस्ताव मानने को। कांग्रेस, मुस्लिम लीग, हिन्दू महासभा—कोई भी नहीं।

इस खबर को सुन कर मंत्रिमण्डल की बैठक में चर्चिल खुशी के मारे नाच उठे। चलो—साँप भी मरा और लाठी भी नहीं टूटी। हमने तो आजादी देनी चाही थी, वे लोग खुद अगर एक राय पर न पहुँच सकें तो हम क्या कर सकते हैं ?

'When Churchill recieved news from India that the Cripps mission had failed, he is reported to have danced around the cabinet room.' [Last years of British in India : Michael Edwardes]

रूजवेल्ट लेकिन कुछ और ही कह रहे थे। उनका कहना था कि ब्रिटिश में इच्छा का अभाव था तभी ऐसा हुआ।

१२ अप्रैल को यह बात उन्होंने स्पष्ट रूप से चर्चिल से कह दी.......'The deadlock has been due to the British Government's unwillingness to concede the right of self Government to the Indians...'

असफल हो कर क्रिप्स अपने देश वापस चले गए। परन्तु बिल्कुल खाली हाथ गए हों ऐसा नहीं। अपने साथ लेते गए जवाहरलाल द्वारा किये गए अनेकों वादे। कांग्रेस या गांधीजी ने सहयोग नहीं दिया पर मित्र जवाहरलाल ने निराश नहीं किया था। उन्होंने कहा था—'....The Japanese mnst be resisted. We are not going to surrender to the invader.' वे आगे बोले थे—'Inspite of all that has happened, we are not going to embarrass the British war effort in India....' [India Wins Freedom : Azad] अर्थात्, 'जापानियों को रोकना ही होगा। हम हमलावरों के आगे आत्मसमर्पण नहीं करेंगे। किसी हालत में हम भारत में अंग्रेजों की युद्ध-प्रचेष्टा में बाधक नहीं बनेंगे।'

जवाहरलाल जापान की गति रोकना चाहते हैं, यह तो अच्छी बात है। लेकिन एक सवाल उठता है, मल्लिका। भारत को २०० वर्षों से पाँव तले किसने डाल रखा

है ? जापान या अंग्रेज ? तो फिर ? रातों-रात उस बात को भुला कर अंग्रेजों को ही सहयोग देने का सवाल कहाँ उठता है ? इसके पीछे युक्ति कौन सी है ?

इसका जवाब गांधीजी के एक कथन से मिलता है : He is more English than Indian in his thoughts and make up. He is often more at home with Englishman than with his countrymen, अर्थात् जवाहरलाल अपने विचारों और मन से कहीं ज्यादा अंग्रेज हैं बनिस्बत एक भारतीय होने के। अंग्रेजों के साहचर्य में वह जितना अपनापन महसूस करते हैं उतना भारतीयों के बीच नहीं। [कांग्रेस का इतिहास : डा० पट्टाभि : २ रा खण्ड : पृ० १३२]

जवाहरलाल के विचारों से अंग्रेज साम्राज्यवादी नहीं है। साम्राज्यवादी तो जापान है जो एशिया का एकमात्र विदेशियों के पंजों से मुक्त स्वतन्त्र राज्य है !

परन्तु यह क्या ?

सहसा भारत के करोड़ों लोग 'हरिजन' नामक समाचार पत्र में प्रकाशित एक समाचार को पढ़ कर चकित हो गए—

'जापान भारत पर हमला करेगा यह कहा किसने ? वह हमला नहीं भी कर सकता है। फिर भी अगर करते है तो समझना होगा अंग्रेज इस देश में हैं, इसीलिए उन्होंने हमला किया है। इससे अच्छा तो यही होगा कि अंग्रेज हमारे देश से चले जाएँ। उसके बाद अपना भला-बुरा हम स्वयं समझ लेंगे।

और फिर आक्रमण करते हैं तो क्या होगा ? भारतीयों की आज जो शोचनीय दशा हुई है जापान के हमला करने पर उससे ज्यादा बुरी तो होगी नहीं।'

यह किसका वक्तव्य है ? यह आँखों की भूल है या दिवास्वप्न देख रहे है ?

नहीं....ऐसा कुछ नहीं। कहीं कोई अस्पष्टता नहीं। कही इतना सा कोहरा नहीं, सारी बातें दिन के उजाले की तरह स्पष्ट और प्रत्यक्ष थीं।

विवरण गांधीजी का था। महात्मा गांधी का। बापूजी का।

परन्तु यह कौन से गांधी हैं ?

जिस समय सुभाष कहते थे 'युद्ध करेंगे,' उस समय बड़े यत्न से जो व्यक्ति युद्ध को बचाता, अनुरोध, आवेदन का रास्ता अपनाता था और सोचता था स्वाधीनता उसी रास्ते से आएगी—यह क्या उसी आदमी का कथन है ? ऐसा विश्वास करने को जी नहीं चाहता है।

'मैं सुभाष बोल रहा हूँ....

बर्लिन से अभिनन्दन।

प्रिय भाई बहनों, क्रिप्स के प्रस्ताव को, आपने घृणापूर्वक ठुकरा दिया है इसके मैं अपना आन्तरिक अभिनन्दन देता हूँ।

आज भी हमारे देश में कुछ लोग हैं जो अपना परिचय कांग्रेसी कह कर देते हैं

परन्तु बिना किसी शर्त के अंग्रेजों का साथ देने में भी उन्हें शर्म नहीं आती है। इन सारे लोगों की याददाश्त क्या इतनी कमजोर है कि वे कांग्रेस के आदर्श की बात भूल गए हैं?

हरिपुर के कांग्रेस अधिवेशन में १९३८ में क्या प्रस्ताव प्रस्तुत किया गया था? उस दिन क्या यह तय नहीं हुआ था कि युद्ध में सहयोग नहीं देंगे?

क्या यह नहीं कहा गया था कि ब्रिटिश सरकार अगर भारतवर्ष को युद्ध के चपेट में लेना चाहेगी तो हम अपनी पूरी शक्ति लगा कर उसका विरोध करेंगे?

एम० एन० राय जैसे मशहूर नेता ने युद्ध में सहयोग देने की बात कही तो उन्हें कांग्रेस से निकाल दिया गया था।

आज जो लोग कांग्रेस की नीति अमान्य कर सहयोग की बातें कह रहे हैं, उनके विरुद्ध क्या कार्यवाही की गई, हम यह जानना चाहेंगे।

अणु-शक्ति आज ब्रिटिश साम्राज्य को नष्ट करने का पक्का इरादा कर चुकी है। हमारे लिए यह एक अभूतपूर्व अवसर है।

भारत की सबसे बड़ी ताक़त है—युवक सम्प्रदाय। उनका इस समय एकमात्र कर्त्तव्य है वर्त्तमान काल की इस अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थिति का पूरा-पूरा लाभ उठाएँ और इस बात की चेष्टा करें कि ब्रिटिश साम्राज्य के खण्डहर पर नया स्वाधीन भारत सिर उठा कर खड़ा हो सके।

जापान के प्रधानमंत्री जनरल तोजो की नीति ही आज की वास्तविक नीति है। दूसरा कोई रास्ता नहीं है।

मैं अणु-शक्ति का समर्थक नहीं हूँ। उनका समर्थन करना हमारा पेशा नहीं है। आज, किसी भी चिन्तनशील व्यक्ति के आगे यह बात स्पष्ट है कि भारत का एक ही दुश्मन है। और वह दुश्मन है—ब्रिटिश साम्राज्यवाद।

हमारे सामने अब सिर्फ दो ही रास्ते खुले हैं। या तो स्वाधीनता या चिर-दासत्व। इसी में से एक को चुन लेना है। जय हिन्द।'

इसी तरह टोकियो से रासबिहारी ने भी अभिनन्दन व्यक्त किया—'On behalf of the Indians in East Asia I wish to convey you our sense of relief at the failure of Sir Stafford Cripps and his empty handed departure from India.

By refusing to entertain any of his proposals, your leaders have saved you from a danger the dimension of which are hard to encompass.' [Rash Behari Bose—his struggle for India's Independence : P—388]

क्रिप्स चले गए।

लेकिन उसके बाद ? युद्ध शुरू हुए तीन साल बीत चुके थे पर कांग्रेस अभी भी स्थिर सिद्धान्त पर नहीं पहुँच पाई। ऐसी अचल अवस्था से कैसे निकला जाए ?

उपाय बताया चक्रवर्ती राजगोपालाचारी ने।—'भूठ-मूठ के झमेले से कोई फायदा नहीं। इनका पाकिस्तान का दावा मान लो—बस, मुश्किल आसान हो जाएगी।'

उन्होंने सिर्फ कहा ही नहीं, बल्कि मद्रास कांग्रेस विधान मण्डल से ऐसा एक प्रस्ताव भी पास करवा लाए बहुमत से। पार्टीशन के अलावा और कोई रास्ता नहीं। इसलिए देर नहीं करना चाहिए।

प्रस्ताव कुछ इस तरह का था—

'........this party is of opinion and recommends to the All India Congress Committee that to sacrifice the chance of formation of a National Government at this grave crisis for the doubtful advantage of maintaining a controversy over the unity of India is a most unwise policy and that it has become necessary to choose the lesser evil and acknowledge the Muslim League's claim for separation....'

सब कोई आश्चर्य और दुःख प्रकट करने लगे। अन्त में राजाजी ने ऐसी बात कही ? यह तो विश्वास ही नहीं होता है।

पर राजाजी टस से मस नहीं हुए। अन्त में उन्होंने कांग्रेस वर्किङ्ग कमेटी से पदत्याग कर दिया। बाद में मद्रास विधान सभा की सदस्यता भी छोड़ दी—पर अपनी बात से डिगे नहीं।

अगर मद्रास की हालत भी पंजाब या बंगाल की तरह होती तब क्या राजाजी इतनी उदारतापूर्वक अपना अंग-भंग करवा लेने को तैयार हो जाते ?

और भी बात है। उस दिन सुभाष को शृंखला-भंग करने के कारण कांग्रेस से निकाला गया था, परन्तु आज ? आज राजाजी के इस कथन के विरुद्ध क्या कार्यवाही हुई ? कुछ नहीं। वे ठहरे गांधीजी के सम्बन्धी—उनके विरुद्ध किसी तरह की कार्यवाही का प्रश्न ही नहीं उठता था। यही तो अन्तर है।

२८ मार्च को रासबिहारी के सभापतित्व में टोकियो सम्मेलन शुरू हुआ।

शुरू में ही बाधा।

कैप्टन मोहन सिंह, लेफ्टिनेन्ट कर्नल गिल, एन० राघवन, गुहा, मेनन जैसे प्रतिनिधि पहले वाले हवाई जहाज में सुरक्षित टोकियो पहुँच गये।

दूसरा हवाई जहाज मशीन की गड़बड़ी के कारण दुर्घटनाग्रस्त हो गया। पता चला एक भी यात्री जीवित नहीं बचा। स्वामी सत्यानन्द पुरी, ज्ञानी प्रीतम सिंह, नील-

कान्त अय्यर, कैप्टन मोहम्मद अक्रम खाँ जैसे चार लोगों को इस आकस्मिक हवाई दुर्घटना में प्राण गँवाना पड़ गया।

इस समाचार ने दक्षिण-पूर्वी एशिया के समस्त भारतवासियों को संज्ञाशून्य कर दिया।

स्वामी सत्यानन्द पुरी। थाइलैण्ड में सर्वाधिक लोकप्रिय। बंगाल की विप्लवी संस्था अनुशीलन समिति के खास सदस्य, धर्मशास्त्र के अध्यापक डाक्टर सत्यानन्द पुरी की कमी कभी कोई पूरी नहीं कर सकेगा। कम से कम थाइलैण्डवासी उनकी देन को कभी न भुला सकेंगे।

शहीदों के प्रति श्रद्धांजलि अर्पित करते हुए प्रधानमंत्री तोजो ने अपने वक्तव्य में कहा—

'The cause for which they gave up their lives need not go in vain.

·······In expressing sympathy over the loss of the four heroic souls I pledge to extend all possible aid for the complete independence of India.' [Chalo Delhi : S. A. Das & M. B. Subbaiah : P—13]

'जिस महान् उद्देश्य के लिए उन्होंने जीवन दिया है वह व्यर्थ नहीं जायेगा। मैं इन चार वीरों के लिए अपनी आन्तरिक समवेदना प्रकट करते हुए घोषणा करता हूँ कि भारत को पूर्ण स्वाधीनता पाने के लिए यथासम्भव मदद करने के लिए मैं तैयार हूँ।'

संसार के गतिचक्र को कौन रोक सका है ? निश्चित तिथि पर टोकियो का सम्मेलन आरम्भ हुआ रासबिहारी बोस के सभापतित्व में।

कुछ महत्वपूर्ण बातों पर प्रस्ताव पास हुए।

भारतीय स्वाधीनता संग्राम की तैयारी के लिए तुरन्त दक्षिण-पूर्वी एशिया में हर जगह भारतीय स्वाधीनता संघ संगठित किया जाएगा। (Indian Independence League)

और सुभाष के आदर्शों के अनुरूप यहाँ भी एक आजाद हिन्द फौज बना कर तैयार की जाएगी, जो लड़ कर भारतभूमि को शत्रुओं के चंगुल से मुक्त करेगी।

इस सेना में केवल भारतीय होंगे। अभियान की परिचालना भी वही करेंगे। इसमें बाहरी कोई हाथ नहीं होगा।

लीग के सामने तीन लक्ष्य होंगे—Unity, Faith, Sacrifice—एकता, विश्वास, बलिदान।

लीग के आधीन केवल दो ही विभाग होंगे—एक सामरिक, दूसरा असामरिक।

सामरिक विभाग के अन्दर होगा—युद्ध विभाग, रिक्रूटिंग, सामरिक गुप्तचर विभाग, सामरिक पुलिस विभाग, और युद्धबंदियों के विभाग।

और वैदेशिक, अर्थ, कानून, प्रचार, प्रशासन, सुरक्षा, पुलिस, गुप्तचर विभाग,

स्वेच्छासेवक जैसे विभाग असामरिक विभाग के जिम्मे होंगे।

इस सब के लिए चाहिए उपयुक्त प्रचार। हर जगह लीग के आदर्शों का प्रचार होना चाहिए। रेडियो, इश्तहार, समाचार पत्र, भाषण, प्रदर्शनी और संगीत के माध्यम से दक्षिण पूर्व एशिया के घर-घर तक पहुँचानी होगी अपनी आवाज़। स्वाधीनता की पुकार।

न केवल दक्षिण-पूर्व एशिया, भारत के भीतरी भागों में भी प्रचार कार्य चलाना होगा। ज़रूरत पड़ी तो गुप्तरूप से भारत पहुँच कर। वहाँ के नेताओं से सम्पर्क स्थापित करना पड़ेगा। कहना होगा—हम तैयार हैं। तुम भी तैयार हो जाओ।

यह भी तय हुआ कि जल्द ही बैंकाक में दूसरा सम्मेलन बुलाया जाएगा। पक्के तौर पर वहीं निश्चित सिद्धान्त पर पहुँचा जाएगा।

टोकियो सम्मेलन समाप्त हुआ। देखते—देखते मानों सोया हुआ दैत्य जाग उठा, किसी जादुई छड़ी के छू जाने से।

सर्वत्र एक ही स्वर, एक ही आवाज़—'आगे बढ़ो। आगे बढ़ो। पीछे मुड़ कर देखने का वक्त नहीं है। हिसाब-किताब के लिए वक्त नहीं है। सामने भयंकर युद्ध छिड़ने वाला है। उसी के लिए तैयार हो जाओ।'

विदादरी, निसन, क्रान्जी इत्यादि भारतीय बंदीगृहों की सेना में भी यही चंचलता। 'अब समय नहीं है। तैयार हो जाओ।'

रह-रह कर बर्लिन रेडियो से आवाज़ गूँज उठती—

'When British Imperialism is defeated, India will get her freedom. If on the other hand British Imperialism should somehow win the war, then India's slavery would be perpetuated for ever, India is therefore, presented with the choice between Freedom and slavery. She must make her choice.'

'ब्रिटिश साम्राज्यवाद पराजित होगा तभी भारत मुक्त होगा। अगर वे जीते तो भारत को हमेशा के लिए दासता की जंजीरों में जकड़े रहना पड़ेगा। इसलिए भारत के आगे दो चीज़ें हैं, स्वाधीनता और दासता। उसे इनमें से एक को चुनना होगा।'

यह सब सुन कर एक-एक सैनिक उत्तेजित हो उठता। नेताजी! नेताजी! यह तो नेताजी का कथन है—'क्या चाहते है—देश की स्वाधीनता या विदेशी दासता?'

उधर टोकियो से वापस आते ही कैप्टन मोहन सिंह ने विदादरी के कैदखाने में एक सभा का आयोजन किया। उन्होंने सैनिकों के सामने सारी बातें साफ-साफ कह दीं।

'आज तक हम दूसरे के लिए लड़ते रहे हैं। अब लड़ेंगे अपने देश की आज़ादी के लिए। वरना दुनिया भर के लोग हमें क्या कहेंगे? हम अपनी आने वाली सन्तानों

को क्या जवाब देंगे ? स्वाधीनता संग्राम का इतिहास अकृतज्ञ है, इसी नाम से हम जाने जाएँगे क्या ?'

शुरू में ही कई हजार लोगों ने आज़ाद हिन्द सेना में नाम लिखाया। धीरे-धीरे संख्या बढ़ने लगी। इसके बाद तो झुण्ड के झुण्ड लोग आने लगे। लाइन लग गई। सैनिक, असैनिक हर तरह के लोग।

'His propaganda was particularly successful and he managed to convince approximately 30,000 prisoners of war who volunteered to join the I. N. A.

He was particularly fortunate in having such men as Cols. Gill and Chatterji to advise and assist him in his task. [I. N. A. & Its Netaji : Shahnawaz Khan : P—24] अर्थात्—कैप्टन मोहन सिंह के प्रचार कार्य को बड़ी सफलता मिली। लगभग ३०,००० सैनिकों ने स्वेच्छा से आज़ाद हिन्द फौज में नाम लिखाया। उनका भाग्य अच्छा था कि कर्नल गिल और कर्नल चटर्जी जैसे अफसर उनके सहयोगी और परामर्शदाता थे।

कर्नल एन० एस० गिल नीमुन के युद्धबंदी हेडक्वार्टर के संचालक थे। और चटर्जी ? इन्हें तो तुम जानती ही हो, मल्लिका।

मेजर जनरल ए० सी० चटर्जी आत्मसमर्पण करने से ठीक १५ दिन पहले सिंगापुर गये थे। उसके बाद परेशानी का सामना करना पड़ा था, पर जल्दी ही डाइरेक्टर ऑफ मेडिकल सर्विसेज़ के रूप में आज़ाद हिन्द फौज में पहुँचे। योग्यता का परिचय दिया। और भी उत्तरदायित्वपूर्ण पद सौंपा गया। यह सब बातें बाद में होंगी।

अप्रैल के अन्त में रासबिहारी ने बेंकाक में अपना हेडक्वार्टर स्थापित किया। उनके साथ आनन्दमोहन सहाय, देशपाण्डे जैसे लोग थे। १५ जून बेंकाक सम्मेलन का दिन निश्चित हुआ।

घनिष्ठ सहयोगी देवनाथ दास डेढ़ साल पहले से बेंकाक आ गए थे। उन्होंने यहां का काम काफी आगे बढ़ा रखा था। उनकी तथा स्वामी सत्यानन्द पुरी की कोशिशों से वहां 'थाई भारत कल्चरल लॉज' की स्थापना हुई थी और दोनों देशों के लोगों के बीच मैत्रीभाव पनप रहा था।

उधर सुभाष कुछ और ही सोच रहे थे। 'India for the Indians यह—स्वप्न क्या साकार हो सकेगा ?'

यद्यपि मुसोलिनी ने पहले ही वचन दिया है। उनकी बहुत इच्छा थी कि सुभाष इटली में रह कर काम करें। परन्तु इस बात पर सुभाष राज़ी न हो सके। उन्होंने

यह समझ लिया था कि मुसोलिनी कितना भी अपनापन क्यों न दिखाए, असली चाभी तो जर्मनी के हाथों में है।

मुसोलिनी के बाद तोजो। एक बार नहीं, बार-बार उन्होंने भी एक ही बात की घोषणा की है। 'India for the Indians भारत को पूर्ण स्वाधीनता दिलाने के लिए जो भी मदद चाहिए हम करने को तैयार हैं।

पर इन लोगों की इन घोषणाओं से काम नहीं बनने का। पांव के नीचे सख्त जमीन भी तो चाहिए। तीनों देशों को यह बात साफ-साफ घोषित करनी होगी—जर्मनी, इटली और जापान को स्पष्ट रूप से घोषणा करनी होगी।

इसी मसले पर विचार-विमर्श करने के लिए २६ अप्रैल को हिटलर और मुसोलिनी ओवेर शाल्जबुर्ग में मिले।

भारत के मामले में सिनॉर मैजिटो ने त्रिपक्षीय घोषणा का दावा किया है—क्या किया जाए?

यह तय हुआ कि अभी भी उचित समय नहीं आया है, क्योंकि युद्ध की परिस्थितियाँ इसके अनुकूल नहीं हैं।

जर्मनी का ग्रीष्मकालीन रूस अभियान शुरू होने वाला था। इस समय इतना बड़ा रिस्क लेना ठीक नहीं होगा। समय आने पर अवश्य ही विवेचना करके देखेंगे।

सुभाष उन दिनों रोम में थे। यह समाचार पाते ही उन्होंने परराष्ट्र मंत्री काउन्ट चियानो से जाकर भेंट की। उसके बाद ५ मई को स्वयं मुसोलिनी से मिले। उनका कहना था यह त्रिपक्षीय घोषणा तुमको करनी ही होगी।

आगे क्या हुआ, यह काउन्ट चियानो की डायरी से हूबहू उतारे दे रहा हूँ—'Mussolini allowed himself to be persuaded by arguments produced by Bose to obtain a tripartite declaration in favour of Indian independence. He has telegraphed the Germans proposing—contrary to the Salzburg decisions—proceeding at once with the declaration. [The Springing Tiger · P—66]

अर्थात्—'भारत की स्वाधीनता के लिए त्रिपक्षीय घोषणा के मामले में अन्त तक मुसोलिनी सुभाष की युक्ति मानने को बाध्य हुए। शाल्जबुर्ग सिद्धान्त को रद्द कर जर्मनी फौरन इस घोषणा के मामले में आगे बढ़े, इसके लिए उन्होंने उन्हें तार भेजा।'

तार द्वारा मुसोलिनी ने एक बात और जर्मन सरकार को बता दी। उन्होंने सुभाष को सरकार संगठित करने के लिए कहा है, जो बहुत जरूरी है।

मल्लिका, यूँ लगा कि मुसोलिनी की इस बात से जर्मनी कुछ अप्रसन्न हो गया। क्योंकि यह बात प्रमाणित होती है उनके प्रचार सचिव गोयेबेल्स की डायरी से। इसमें साफ शब्दों में उन्होंने लिखा था—

'We do not like this idea very much, since we do not think the time has yet come for such a political manoeuvre. It does appear though that the Japanese are very eager for some such step. However, emigree Governments must not live too long in a vacuum. Unless they have some actuality to support them, they only exist in the realm of theory.' [The Springing Tiger : P—66] अर्थात्—'हमें यह विचार कुछ पसन्द नहीं आया क्योंकि अभी उचित समय आया है ऐसा हम नहीं समझते हैं, यद्यपि जापानी इसके लिए काफी व्यग्र दिखाई दे रहे हैं। हालांकि किसी विदेश में स्थापित सरकार के लिए मुश्किल है कि ज्यादा दिनों तक वह अनिश्चित अवस्था में रहे, क्योंकि जब तक कोई प्रत्यक्ष रूप से समर्थन उन्हें नहीं मिलता है तब तक केवल काल्पनिक दुनिया में रहना पड़ता है।'

इधर बर्मा का पतन हुआ। प्रधान सेनापति वॉवेल भारतवर्ष भाग आए थे।

भारत और बर्मा देश एक दूसरे से सटे हैं। एक बार अगर वहाँ जा सकता।

सुभाष फिर जा कर मिले बर्लिन में नियुक्त जापान के राजदूत जनरल ओशीमा से। एक बार नहीं—कई बार। लगभग हर हफ्ते।

मिलिट्री एटैची मिस्टर हिगुती के शब्दों में, 'The request of Mr. Subhas Chandra Bose became more and more fervent. He came almost every weak.'

बातों ही बातों में एक दिन मिलिट्री एटैची मिस्टर हिगुती ने जानना चाहा—'महान् सेनापति रासबिहारी से परिचय है क्या?'

सुभाष ने उत्तर दिया—'I don't know him. But the fact that he is fighting for the independence of India in Tokyo for so many years is very encouraging. I shall be happy if I can fight as a soldier under Mr. Rash Behari Bose, as it is good for the independence of India. In conclusion you must send me as soon as possible to Tokyo.' [Rash Behari Bose—his struggle for India's Independence]

अर्थात्—'नहीं, मैं उन्हें नहीं जानता हूँ पर मैं इस बात से अवगत हूँ कि वे टोकियो में रह कर दीर्घकाल से भारत की स्वाधीनता के लिए लड़ रहे हैं; जो बात बड़ी प्रेरणादायक है। मुझे बड़ी खुशी होगी अगर मैं एक सैनिक की हैसियत से उनके अधीन रह कर लड़ सकूं। भारत की स्वाधीनता के लिए भी यह अच्छा होगा। अन्त में मैं कहूँगा कि आप जितनी जल्दी हो सके मुझे टोकियो भेज दीजिए।'

यही थे सुभाष। स्पष्टवक्ता और प्रत्यक्षदर्शी। ऐसे सुभाष को पहचानने में देर

नहीं लगती है। उनका लक्ष्य एक ही था। वह था—स्वाधीनता। बहु प्रतीक्षित स्वाधीनता किसके नेतृत्व करने से मिलेगी, यह बातें उनके लिए तुच्छ थीं।

जापानी दूतावास से प्रेरणादायक कोई खबर न मिलने पर २२ मई को सुभाष ने स्वयं ही एक नोट जर्मन सरकार के पास भेज दिया—

'दूर देश में क्या घटनायें घटित हो रही हैं इस बात की खबर तो आपको है ही। जापानी लोग भारत की सीमा पर उपस्थित हैं। ब्रिटिश शासन समाप्त कर भारत को अगर स्वाधीनता अर्जित करनी है तो इसका यही मौका है। मैं इस मौके का सद्व्यवहार करना अपना कर्त्तव्य समझता हूँ।

इस समय वहाँ जाना मेरे लिए बहुत जरूरी है। आशा करता हूँ कि मौके की गम्भीरता को समझते हुए आप मेरे जाने की व्यवस्था करके मुझ पर इतनी कृपा करेंगे कि एक राष्ट्रीय विप्लवी नेता होने के नाते मैं अपने कर्त्तव्यों का यथावत् पालन कर सकूं।'

[The Indian Struggle : Subhash Chandra Bose.]

२४ मई को सुभाष मिले नात्सी प्रधान हिटलर से। साथ थे दुर्दिन के परम मित्र वॉन ट्राट। दोनों के बीच दुभाषिए का काम उन्हीं ने किया क्योंकि हिटलर अंग्रेजी भाषा बोल नहीं पाते थे।

दूसरी ओर हिटलर की ओर से थे परराष्ट्रमंत्री रिबेनट्राप, एस० एस० वाहिनी के सेनापति हिमलर और स्टेट सेक्रेटरी केपलर जैसे प्रमुख नात्सी नेतागण।

सुभाष ने यहाँ भी वही कहा—'मैं त्रिपक्षीय घोषणा चाहता हूँ।'

इटली और जापान के तैयार हो जाने पर भी हिटलर इस मामले में उनका साथ न दे सके।

उनका कहना था कि युद्ध की परिस्थितियाँ इसके अनुकूल नहीं। इस बीच उनका रूस अभियान आरम्भ हो गया था। यह ग्रीष्मकालीन अभियान रूस के विरुद्ध था। तेज़ी से जर्मन सैनिक वरोनेश रोस्टव, सेवास्तोपोल, स्टैलिनग्राड और काकेसस की ओर बढ़ते जा रहे थे। इस समय दूसरी बातें सोचने का अवकाश कहाँ ?

इसके अलावा भारतवर्ष अभी बड़ी दूर है। इतनी दूर से जर्मनी कोई दायित्व कैसे ले सकता है ? घोषणा करने के अर्थ ही थे, दायित्व उठा लेना। वर्त्तमान स्थिति में यह सम्भव न था।

मिश्र के लिए ऐसा करना कुछ असम्भव न था, क्योंकि इसी बीच जनरल रोमेल मिश्र की सीमा पर पहुँच चुके थे। वहाँ की स्वाधीनता की घोषणा करते समय क्या होगा इसकी रूपरेखा तक तैयार थी। भारतवर्ष अभी कहाँ वहाँ तक पहुँचा है ?

सुभाष इस बात को मानने को तैयार नहीं थे। उन्होंने हिटलर को हर तरह से समझाने की कोशिश की। अनेकों दलीलें पेश कीं। उनका कहना था, भारत का समर्थन प्राप्त करने के लिए त्रिपक्षीय घोषणा आवश्यक है।

दूसरी तरफ हिटलर के पास भी दलीलों की कमी नहीं थी। परिस्थिति वास्तव

में बड़ी चिन्ताजनक है। आशा करता हूँ कि हिज़ एक्सेलेन्सी मास्सोट्टा राजनैतिक दृष्टिकोण से इस विषय को सोच कर देखेंगे।

बस, इतना सुनना था कि साफ-साफ कह बैठे—'मैंने सारी उम्र राजनीति ही की है, मुझे उपदेश देने की जरूरत नहीं।'

सुन कर वहाँ उपस्थित हर आदमी ने सन्नाटा खींच लिया। जर्मनी के भाग्य विधाता, १९४२ के महान् पराक्रमी हिटलर के मुँह पर कोई इस तरह कह सकता है, कोई सोच भी नहीं सकता था।

परिस्थिति हल्की कर दी वॉन ट्राट ने। दुभाषिए की हैसियत से उन्होंने हिटलर को बात घुमा कर बताई ताकि दोनों की इज्जत बनी रहे।

ये बातें कहानी लगती है न, मल्लिका? लेकिन यह बात सच है। यह जर्मन लोगों ने ही बताया था—'When the Chancellor in this connection asked what kind of political concept Netaji actually had in mind, Netaji became impatient and asked Trott to give the Chancellor (who niether spoke nor understand English) the following reply :

Tell his Excellency that I had been in politics all my life and that I don't need advice from any side.'

Trott translated this reply in a more diplomatic form....' [Dr. Werth, p—36]

सुभाष मन ही मन आहत हुए। त्रिपक्षीय घोषणा हो गई होती तो वे निश्चित हो जाते। पर अब तो वह भरोसा भी जाता रहा।

इसके अलावा उनके मुख्य शत्रु है—अंग्रेज। रूस और दूसरा कोई राष्ट्र नहीं। लेकिन यूरोप में अंग्रेजों का अस्तित्व अब रहा कहाँ?

इच्छा थी कि मिश्र के बीच से कुछ पैराशूट सैनिकों को भारत के उत्तरी-पश्चिमी सीमा पर उतरवा देने की, लेकिन रोमेल के एतराज करने के कारण यह न किया जा सका। तब फिर यहाँ रह कर लड़ाई किसके खिलाफ लड़ेंगे?

इस हालत में अब क्या किया जाए? इस अनिश्चित दशा को कब तक लादे फिरा जा सकता है?

सोचते-सोचते वे एक निश्चय पर पहुँचे। भारत, भारतवासियों के लिए—उन्हें एशिया के उसी हिस्से में जाना ही पड़ेगा, जहाँ नया सूर्योदय हुआ है, जहाँ भारत के श्रेष्ठतम विप्लवी नेता रासबिहारी है और जो जीवन के अन्तिम छोर पर पहुँच कर भी बिना परेशानी के, बिना थके, आज भी भारतीयों को संघबद्ध करने में लगे हुए है। इसके अलावा दूसरा तो कोई रास्ता नहीं।

लेकिन पूरा विश्व युद्ध के चपेट में है। इस हालत में जाना चाहे, फिर भी दक्षिण-पूर्वी एशिया वे नहीं जा सकते है। उसके लिए उपयुक्त समय और व्यवस्था आवश्यक है। उतने दिनों तक इन्तजारी करना ही है।

१४ जून को बर्लिन के इन्टरनेशनल प्रेस क्लब में सुभाष का अभिनन्दन किया गया। वहाँ भी वे यही बोले—

'भारत भारतवासियों के लिए है। विश्व की वर्त्तमान परिस्थिति में एशिया के राष्ट्रों के हित में है भारत का स्वाधीन होना।

मैं जापान के प्रधान मंत्री तोजो की नीति का समर्थन करता हूँ। एक रेडियो-भाषण में मैंने इसके लिए उन्हें धन्यवाद भी दिया था। फिर दे रहा हूँ।

आज के लिए यही वास्तविकता है। स्वाधीनता का कोई विकल्प नहीं। वह स्वाधीनता जैसे भी हो, जिस क़ीमत पर भी क्यों न मिले, मुझे पाना ही है। या तो किनारा, नहीं तो जल-समाधि—इसके अलावा दूसरा रास्ता नहीं है हमारे सामने।'

कई दिन, महीने बीते। सुभाष के दिलो-दिमाग़ से यह चिन्ता न गई। जैसे भी संभव हो, उन्हें दक्षिण पूर्वी एशिया जाना ही है—पर कैसे? कैसे सम्भव है?

रास्ते का इशारा मिला बेंकाक के सम्मेलन में।

ऐतिहासिक बेंकाक सम्मेलन १५ जून से शुरू हुआ। सभापति थे रासबिहारी बोस और अभ्यर्थना समिति के चेयरमैन देवनाथ दास थे।

सम्पूर्ण बेंकाक में मानो कोई उत्सव होने वाला था।

शिलापैकॉर्न थियेटर के चारो ओर आदमी ही आदमी नज़र आ रहे थे। विभिन्न जाति के, धर्मों के। परन्तु हर किसी के सामने एक ही लक्ष्य था। सभी के दिल में स्वाधीनता की कामना थी। उनका कहना था, इस स्वाधीनता को भीख माँग कर नहीं, खून-पसीना बहा कर पाएँगे। इसके लिए भाव-ताव नहीं लगाएँगे।

इसमें भाग लेने अनेक देशों के प्रतिनिधि आए थे। मलय, बर्मा, जापान, थाईलैण्ड, मंचूरिया, नानकिंग, शंघई, कैन्टन, हाँगकाँग, बोर्निओ, मैनीला, इन्दोचीन जैसे स्थानों के प्रतिनिधि। जापान, जर्मनी और इटली के दूतावासों से आए थे कूटनीतिज्ञ राजदूत। और भी अनेकों।

सभा का उद्बोधन किया थाइलैण्ड के सहकारी परराष्ट्र सचिव विचित्र वदकर्ण ने। थियेटर हॉल के अन्दर का दृश्य देखने लायक था।

The Silapakorn Theatre, Bangkok, was packed to over flowing. There was no standing room anywhere and even the spacious ground itself was packed to capacity, while the roads leading to it were crowded with people who were eager to get a glimpse of the distinguished visitors. A large number of Japanese, Thai and representatives of the Axis countries were also present.' [Chalo Delhi : p—23]

शुरू में चेयरमैन देवनाथ दास ने प्रतिनिधियों का आदरपूर्वक स्वागत किया। उन्होंने श्रद्धाञ्जलि अर्पित की स्वामी सत्यानन्द पुरी, ज्ञानी प्रीतम सिंह, नीलकान्त अय्यर और कैप्टन अक्रम खान की याद में।

उसके बाद भाषण देने के लिए मंच पर आये रासबिहारी बोस, आनन्द मोहन

सहाय, एन० राघवन, कर्नल एस० एम० गिल और कैप्टन मोहन सिंह जैसे नेता और योद्धा। भाषण दिया जापान, जर्मनी और इटली के राजदूतों ने। सभी ने एक ही बात कही—अब देर करना उचित नहीं होगा। तैयार हो जाओ।'

सम्मेलन की सफलता की कामना करते हुए थाईलैण्ड के प्रधानमंत्री फील्ड मार्शल पिवुल संग्राम ने संदेश भेजा था। उन्होंने लिखा था कि भारत पुन: अपनी पूर्व प्रतिष्ठा प्राप्त करे, इससे बड़ी और कोई मेरी कामना नहीं।

जापान के प्रधान मंत्री तोजो का भी संदेश आया था। उन्होंने अपनी नीति की घोषणा फिर की थी—'हम हर तरह से भारत की मदद करने को तैयार है। न केवल मैं, 'त्रि-शक्ति का सहयोग भी जल्दी ही प्राप्त होगा।'

'Japan is quite prepared to give her unstinted support as it has been announced from time to time and I might add that the Axis powers are ready to Cooperate in according their full support.'

इससे भी ज्यादा स्पष्ट रूप से कहा जापान के परराष्ट्र मंत्री तोगो ने—'भारतवर्ष सर्वांगीण स्वाधीनता अर्जित करे, इसके अलावा हमारा उनके लिए और कोई उद्देश्य नहीं।'

'Japen has no desire whatever towards India except to see her realize the restoratiom of freedon....' [Ibid : p—38]

सुभाष ने अपना संदेश भेजा। इस युद्ध में जो लोग ब्रिटिश साम्राज्यवाद को नष्ट करने के लिए लड़ रहे हैं वे वास्तव में भारतवर्ष की मदद ही कर रहे हैं। ब्रिटिश की मदद तो वे कर रहे हैं जो इस बात के लिए कमर कस कर तैयार हैं कि हम दासता की बेड़ियों से जकड़े रहें।

पृथ्वी पर जहाँ जितने भी भारतीय हैं उन सबको लेकर एक सम्मिलित संगठन बनाना है। केवल दूसरों पर निर्भर रहने से हमारा काम नहीं बनेगा। हमें स्वाधीनता अपनी कोशिश से प्राप्त करनी है।

'Britain will lose this wars and the British Empire will be completely dismembered. All the forces that are striving to destroy or weaken the British Empire are helping India's emancipation, while all forces that are endeavouring to save the British Empire are attempting to perpetuate India's slavery..... It is now time to link up Indian nationalists all over the world in one allembracing organisation.' [Ibid : p—44]

इस नौ दिन तक चलने वाले सम्मेलन में पैंसठ महत्वपूर्ण प्रस्ताव पास हुए।

फौरन व्यापक-प्रचार हो भारतीयों के बीच। उनमें भी आन्दोलन की भावना जागृत की जाये। दक्षिण पूर्व एशिया के हर स्थान पर इन्डीपेन्डेस लीग की शाखायें स्थापित हों। कोई भी जगह छोड़ी न जाए।

बिखरी हुई सेना वाहिनी को पुनः संगठित कर एक सम्पूर्णता का जामा पहना दिया जाये। इनके कमाण्डर इन चीफ होंगे कैप्टन मोहन सिंह।

इन्डीपेन्डेस लीग सेना का सारा खर्च उठायेगी। न केवल धन, स्वेच्छासेवक इकट्ठे करना, उन्हें स्थापित करना, भेजना—हर बात की जिम्मेदारी उन्हीं की होगी। जापान सरकार से आवश्यक अस्त्र-शस्त्र, युद्ध-सामग्री, जहाज और हवाई जहाज की मदद ली जायेगी।

लीग या सामरिक वाहिनी किसी व्यक्ति विशेष की चीज़ नहीं है, यह राष्ट्रीय सम्पत्ति है। इसलिए सभी बातों का संचालन करने के लिए एक काउन्सिल ऑफ एक्शन या संग्राम-परिषद् का संगठन किया जायेगा परन्तु किसी एक व्यक्ति की पसन्द की नहीं। उसमें असैनिक विभाग के एन० राघवन और के० पी० के० मेनन रहेंगे। सामरिक विभाग से लेफ्टिनेन्ट कर्नल गिलानी और मोहन सिंह होंगे। रासबिहारी ही इसके सभापति रहेंगे।

और सबसे महत्वपूर्ण प्रस्ताव था—The Conference requests Sj. Subhas Chandra Bose to be kind enough to come to East Asia and appeals to the Imperial Government of Japan to use its good offices to abtain the necessary permission and conveniences from the Government of Germamy to enable Sj. Subhas Chandra Bose to reach East Asia safe.'

अर्थात्, संक्षेप में इन्होंने जापानी सरकार से अनुरोध किया कि सुभाष को हमारे पास सुरक्षित पहुँचा दो।

इधर बेंकाक सम्मेलन और उधर शपथ ग्रहण का कार्यक्रम। हजारों की तादाद में आज़ाद हिन्द सैनिकों ने शपथ ग्रहण की—

'भगवान् के नाम पर हम प्रण करते हैं कि भारत तथा उसके अड़तीस करोड़ नर-नारियों को पराधीनता के बन्धन से मुक्त करने के लिए हम अपने नेता श्रीयुत सुभाष-चन्द्र बोस के प्रति चिरकाल विश्वासी बने रहेंगे और अपना सर्वस्व विसर्जित करने को तैयार रहेंगे।'

'In the name of God I take this holy oath that to liberate India and thirty eight crores of my countrymen I will be absolutely faithful to our Leader, Subhas Chandra Bose, and shall always be prepared to sacrifice my life and all I have for the cause.'

इसके बाद ही जोशीला भाषण—सुभाष का—'मित्रों, आज आपने शपथ ग्रहण की है कि इस तिरंगे राष्ट्रीय झंडे के नीचे खड़े रह कर मृत्युपर्यन्त शत्रु के विरुद्ध लड़ते रहेंगे। आप सब स्वाधीन भारत के राष्ट्रीय सेना के वीर सैनिक हैं। आपने स्वेच्छा से

चालीस करोड भारतवासियों का सारा उत्तरदायित्व अपने ऊपर ओढ़ लिया है। आज से आपका अपना जो कुछ भी है वह भारत की राष्ट्रीय सम्पत्ति होगी।

'आजाद हिन्द फौज के पहले सैनिक होने के नाते आप वास्तव में गौरव के अधिकारी है। स्वाधीन भारत के इतिहास के पृष्ठों में आपका नाम, आपकी कीर्ति स्वर्णाक्षरों में लिखी रहेगी। आज के इस पवित्र संग्राम के लिए स्वाधीन भारत में हर शहीद के सम्मानार्थ स्मृति स्तम्भ का निर्माण होगा। आने वाली औलादें उस पर पुष्पवृष्टि करेंगी।

... 'यद्यपि यह पवित्र उत्सव हम विदेश में मना रहे हैं, फिर भी हमारा तन, मन, ध्यान-ज्ञान, चिन्ता सभी अपने देश पर केन्द्रित है।.... जितनी जल्दी हो सकेगा, हम अपने को हर तरफ से तैयार कर लेंगे जिससे कि जो उत्तरदायित्व हमने स्वेच्छा से संभाला है उसे सुन्दर ढंग से निभा सकें। वह दिन दूर नहीं जब आपकी इस सामरिक शक्ति को प्रत्यक्ष रूप से काम में लाना होगा।'

कहते-कहते उनमें उत्तेजना का दौरा-सा पड़ गया। वे आगे बोले—

'आज हमने राष्ट्रीय झंडे के नीचे खड़े होकर शपथ ग्रहण की है। एक वह दिन भी आयेगा जब हम लाल क़िले पर खडे होकर राष्ट्रीय झंडे को सलामी देंगे।

'याद रखियेगा, स्वाधीनता अर्जित करने का उपयुक्त मूल्य सब को चुकाना ही होगा। भिक्षा माँगने से आज़ादी नहीं मिलेगी। आयेगी शक्ति और बल के बदले। आयेगी खून के बदले। हम अवश्य ही किसी विदेशी से भीख नहीं माँगेंगे। उचित मूल्य देकर ही हम आज़ादी प्राप्त करेंगे। मैं निश्चित रूप से कह सकता हूँ कि हम सब मिल कर भारतवर्ष की ओर अपने विजय अभियान के लिए अग्रसर होंगे और उस समय मैं ही आपकी सेना का सेनापतित्व करूँगा।'

भाषण चल रहा था। आजाद हिन्द रेडियो से यह भाषण पृथ्वी के कोने-कोने में रिले हो रहा था। उसी बात का उल्लेख किया अब सुभाष ने—

'आज हम जिस उत्सव को यहाँ मना रहे हैं उसकी खबर भारत तक पहुँच चुकी होगी। हमारे देश के जो वीर देशप्रेमी, खाली हाथों से ब्रिटिश शक्ति के विरुद्ध लड़ाई कर रहे हैं वे अवश्य ही यह खबर सुन कर खुश हुए होंगे।

'मेरे जीवन का स्वप्न है कि एक ऐसी सेना तैयार करूँ जो शत्रु के साथ लड़ कर देश को स्वाधीन करें। आज मैं आप सब को बधाई देता हूँ क्योंकि एक वीर सुसज्जित सेना तैयार करने का सम्मान आपको ही प्राप्त है।'

'भगवान् आप की रक्षा करे। आज जिस कठोर प्रण के पालन के लिए आप कमर कस कर तैयार हुए हैं उसे सफल बनाने के लिए वे आप में शक्ति भर दें। इनक्लाब जिन्दाबाद।'

इसी के साथ हजारों सैनिकों के कण्ठों से फूट पड़ा—इन्क्लाब जिन्दाबाद! नेताजी सुभाष जिन्दाबाद! जयहिन्द!

'न, अब सुभाष नहीं। ये युद्ध अब जन-युद्ध है, इसलिए हर देशवासी का कर्त्तव्य है कि वह अंग्रेजों की सहायता करे।'

कम्युनिस्ट पार्टी के इस सिद्धान्त ने परिस्थिति को जटिल बना दिया।

हॉलाँकि कुछ न कुछ होगा, यह आशंका पहले से ही थी। विप्लव की केन्द्रभूमि रूस आज घिरा हुआ था। इस बात पर अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिक्रिया मिश्रित होगी, यह तो सर्वविदित था। फिर भी उस दिन के कम्युनिस्ट पार्टी के इस सिद्धान्त ने तहलका मचा दिया।

हॉलाँकि इसके पहले तक कम्युनिस्ट पार्टी की भूमिका सदैव उल्लेखनीय थी। कांग्रेस तो एक बहुत बड़ी पार्टी थी, लेकिन १९३९ से लेकर आज तक कांग्रेस ने कोई उल्लेखनीय काम नहीं किया था।

कम्युनिस्ट पार्टी के लिए ऐसी बात नहीं कही जा सकती है। इन तीनों सालों में वे हाथ पर हाथ धरे नहीं बैठे थे।

प्रमाण था उनका 'प्रोलेटेरियन पाथ'—जिसका मूलमन्त्र था अंग्रेज साम्राज्य-वाद के विरुद्ध युद्ध जारी रखना, बड़े-बड़े कारखानों, मिलों में हड़ताल, थाने और सैनिक शिविरों को नष्ट करना तथा शहर और गाँवों में राष्ट्रीय सेना का संगठन करना तथा उनकी मदद से सभी सरकारी संस्थाओं को निष्क्रिय बना देना।

ऐसा उन्होंने किया भी। जैसे कि—बम्बई के मिलों में हड़ताल। उस दिन उनकी सामूहिक कपड़े के मिलों की हड़ताल ने सरकार और मिल-मालिकों को हार स्वीकार करने को बाध्य कर दिया था। यह बात कम प्रशंसनीय व सराहनीय न थी।

यद्यपि इसकी वजह से मार न खाई हो यह नहीं। झुण्ड के झुण्ड लोग पकड़ लिए गए। यहाँ तक कि कम्युनिस्ट पार्टी को गैर कानूनी तक घोषित कर दिया गया था।

यहाँ तक तो ठीक ही था। उसके बाद ही झगड़ा शुरू हुआ जब हिटलर ने रूस पर आक्रमण किया। इसी का परिणाम था—जन-युद्ध का आह्वान तथा सुभाष विरोधी अनेकों बातें।

हिटलर फासिस्ट। सुभाष ने उसका साथ दिया है, इसलिए वह भी अब फासिस्ट बन गए हैं! अब हम किसी दशा में उनका समर्थन नहीं कर सकते हैं।

रूस पर १९४१ की २२ जून को हमला हुआ।

१५ दिसम्बर को वे एक निश्चय पर पहुँचे। उस दिन देवली बन्दी निवासगृह में क़ैद कम्युनिस्ट पार्टी के प्रथम श्रेणी के नेताओं ने अपनी नई नीति घोषित की।

'यह युद्ध जन-युद्ध है। अब से जनसाधारण को एक नयी शपथ लेनी होगी और तभी आगे बढ़ना होगा युद्ध-मार्ग पर।'

प्रस्ताव में कहा गया—'We are a practical Party, and in a new situation it is our task not only to envolve a new form of struggle

for it, but also to advance new slogans,...

The key Slogan of our Party (now) is 'make the Indian people play a people's role in the people's war' [History of the Freedom movement in India : Vol III : R. C. Mazumdar : P-689]

सूत्रपात हुआ देवली कैदखाने में। उसके बाद बंगाल के कम्युनिस्ट नेताओं ने जेलों से इश्तेहार भेजे। वहाँ भी जनसाधारण को सम्बोधित कर यही एक बात कही गई।

'विप्लव की केन्द्रभूमि रूस आज घिरा है। इसलिए यह युद्ध जन-युद्ध है। जैसे भी हो, हर तरह की ताकत लगा कर हिटलर को रोकना होगा। उसी के लिए आज ब्रिटिश के साथ मिल जाने की जरूरत है।'

यही आपत्ति का कारण था। हिटलर को रोकना है, यह मानते हैं। ठीक है। परन्तु इसके लिए ब्रिटिश का साथ क्यों दिया जाए? ब्रिटिश के साथ हाथ मिलाना, अपनी दासता की जंजीरों को मजबूत बनाना है। तो फिर अर्द्ध शताब्दी व्यापी यह आत्मदान, यह खून खराबा, इतना अत्याचार सहन करना—इसकी जरूरत कहाँ थी? क्या फाँसी के फँदे से खून के निशान इतनी जल्दी मिट गए?

असम्भव। बात बहुत पुरानी है। फिर भी क्या कोई खुदीराम जैसे शहीदों को भूल गया है?

उन्हीं के उत्तराधिकारी सुभाष ने अपना जीवन देकर, सब कुछ त्याग कर, आज विदेशी शक्तियों से हाथ मिलाया है....यह बात सच है। लेकिन विशाल स्वार्थ का प्रश्न जहाँ उठा हो वहाँ दूसरे राष्ट्र से मदद लेना क्या अपराध माना जायगा?

गैरीबाल्डी, सनयात-सेन, डी० वैलेरा, दुगाल जैसे स्वाधीनता प्रेमी नेताओं ने क्या अपने देश को मुक्त करने के लिए दूसरे देशों से मदद नहीं ली थी? स्वयं लेनिन ने क्या जर्मनी की मदद नहीं ली थी रूस में प्रवेश करने के लिए?

इस बारे में प्राचीन भारत के विख्यात कूटनीतिज्ञ पण्डितश्रेष्ठ चाणक्य ने भी तो अपने सुविख्यात कोटिल्य शास्त्र में कहा था—'किसी भी नृप के लिए अकेले ही शत्रु का मुकाबिला करना असम्भव होता है। ऐसी जगह पर उन्हें अपने से कमजोर, बराबर वाला अथवा अधिक शक्तिशाली राजाओं की मदद से मिलाकर हमला करना चाहिए।'

उसके बाद परम वीर नेपोलियन की बात याद है न? उनका कहना था—'युद्ध के समय शत्रु का शत्रु ही मेरा परम मित्र होता है।'

उस तरह से देखा जाए तो सुभाष ने शत्रु के शत्रु को पहचानने में क्या उस दिन कोई गलती की थी?

जर्मनी से बड़ा शत्रु कहीं था क्या इंगलैंड के लिए?

इसके अलावा भारत के स्वाधीनता संग्राम में जर्मनी ने कोई पहली बार मदद पहुँचाई हो ऐसा भी नहीं। इसका प्रमाण मिलता है प्रथम विश्व युद्ध के समय विप्लवियों

को इकट्ठा करके 'बर्लिन कमेटी' बनाई थी। विप्लवियों की आवश्यकता पूरी करने के के लिए लाखों रुपये ही नहीं, तीन-तीन जहाज भर कर अस्त्र-शस्त्र भी जर्मनी ने भेजे थे।

उनके भेजे अस्त्र-शस्त्र छुड़ाने गए थे उस दिन बंगाल के महान् विप्लवी बाघा जतीन। जिनको युद्ध करते हुए प्राणों की बलि देनी पड़ी थी—यह तो ऐतिहासिक सत्य है।

और प्रयोजनवश दूसरे देश से हाथ मिलाना अगर अपराध है तो रूस क्या इसलिए स्वयं अपराधी नहीं है ?

पारस्परिक सन्देह और अविश्वास के बावजूद क्या साल भर पहले उसने फासिस्ट जर्मनी के साथ हाथ नहीं मिलाया है ? और इसलिए क्या अपना आदर्श, अपनी नीति, राजनैतिक लक्ष्य भूल कर उसने नात्सीवाद स्वीकार किया था ? नहीं।

उसके बाद इंगलैंड ही को ले लो। जब से पैदा हुआ है तभी से कम्युनिस्ट रूस को चोट पहुँचाने के लिए एंगलैंड ने कौन सी हरकत नहीं की थी ? क्या करना बाकी बचा था ?

जर्मनी द्वारा रूप को मजा चखाने के इरादे से इतने दिनों से अन्दर ही अन्दर हिटलर को तैयार नहीं कर रहा था क्या ?

परन्तु, सब कुछ जानते हुए भी उसी इंगलैंड से दोस्ती करने में रशिया कहाँ हिचका ?

दोनों के इस सहयोग के कारण क्या इंगलैंड ने समाजवाद स्वीकार कर लिया था ? या रूस पूँजीवाद का समर्थक बन बैठा था।

नहीं। बल्कि इस मामले में ब्रिटिश प्रधान मंत्री चर्चिल ने एक नई बात कही। 'हिटलर अगर नरक पर हमला करे तो नरक के साथ भी मैं हाथ मिलाने को तैयार हूँ।' नेपोलियन के इस कथन से चर्चिल का कथन कितना मिलता है कि 'युद्ध के समय शत्रु का शत्रु ही मेरा श्रेष्ठ मित्र है।'

अब ले लो हमारे संयुक्त मोर्चे को। बंगला देश में यह संयुक्त मोर्चा दल कई दलों को मिला कर संगठित हुआ था। इनकी किसी की भी नीति एक दूसरे से मेल नहीं खाती थी, कम से कम बंगाल के कांग्रेस के साथ कम्युनिस्ट पार्टी तो कतई मेल नहीं खाती थी।

फिर भी वे एक दूसरे के साथ हाथ मिलाने में क्या हिचके थे ? नहीं, क्योंकि उनके सामने एक ही लक्ष्य था ? वे तो चाहते थे कांग्रेस की शक्ति को समाप्त करना।

सुभाष या हिटलर के इरादे ही कहाँ अलग-अलग थे ?

क्या वे दोनों ही नहीं चाहते थे ब्रिटिश साम्राज्यवाद को परास्त करना ?

तो फिर ? जो काम दूसरों के लिए गलत नहीं वह सुभाष के करने पर गलत क्यों समझा जाए ?

याद होगा तुम्हें कि सुभाष को कांग्रेस पार्टी से निकाला जा चुका है, क्योंकि वे बहक गए हैं। मिस गाइडेड। दूरदर्शी नहीं हैं।

इसके अलावा १६२८ से वह सिर्फ एक ही बात का नारा लगा रहे हैं—'आधी नहीं हमें पूरी स्वाधीनता चाहिए। हम इसके लिए लड़ेंगे। कोई समझौते का प्रश्न ही नहीं उठता है।' ऐसे आदमी को कौन काग्रेस में रख कर झंझट बढ़ाएगा?

कम्युनिस्ट पार्टी और भी स्पष्ट वक्ता थी। उन्होंने सुभाष को फासिस्ट कहा। देश का दुश्मन। हिटलर का 'हाँ-हुजूरी' बजाने वाला।

और अंग्रेज? इस मामले में वे कम्युनिस्ट पार्टी का हृदय से समर्थन कर रहे थे?

चर्चिल की Second World War नामक पुस्तक के चौथे अध्याय में स्पष्ट रूप से लिखा है....'only a Small extremist section in Bengal led by men such as Subhas Bose were directly subversive and hoped for an axis Victoy....'

जिसका मतलब यही समझा जा सकता है कि सब अच्छे हैं, सभी युद्ध जीतने में हमारी मदद करने को तैयार थे। बस सारी मुसीबत का जड़ यही सुभाष बोस है।

अथात् सम्पूर्ण बंगाल में, अंग्रेजों का एक ही दुश्मन था और वह था, सुभाष बोस।

इसके लिए चर्चिल बधाई के पात्र हैं। कम से कम उन्होंने सुभाष को पहचाना तो।

असल बात क्या थी?

आज जिस रूस के घिर जाने से इतना क्षोभ प्रकट कर रहे थे उसी रूस के प्रति सुभाष के दिल में श्रद्धा या ममता किसी से कम न थी।

किसने नहीं सुना था कि सुभाष रूस के प्रति असीमित श्रद्धाभाव रखते थे।

कौन नहीं जानता था कि सुभाष का ऐतिहासिक प्लानिंग कमीशन सोवियत रूस के आदर्शों पर ही आधारित था?

न जाने कितनी बार तो उन्होंने कहा होगा—'पृथ्वी पर सोवियत रूस ही एक ऐसा देश है जिससे भारत स्वाधीनता अर्जित करने के लिए उपयुक्त सहयोग प्राप्त कर सकता है।'

सिर्फ कहते ही नहीं थे, हृदय से विश्वास भी करते थे। जब देश से अंर्तध्यान हुए थे तो वे रूस ही जाना चाहते थे। गए भी थे। तो फिर बर्लिन क्यों जाना पड़ा? क्योंकि रूस के विचार अनुकूल नहीं थे।

बर्लिन पहुँच कर सुभाष ने स्मारक-पत्र जर्मन सरकार को भेजा था। उसमें उन्होंने रूस के बारे में लिखा था....'मध्य-पश्चिमी भाग से ब्रिटिश प्रभाव समाप्त करने के लिए जर्मनी और रूस के बीच तो वर्तमान स्थिरता की नीति है, उसे सुरक्षित बनाए रखना आवश्यक है।'

उनके अनुसार रूस की तरफ से कोई खतरा नहीं।

हिटलर ने २२ जून को रूस के लिए कूच किया। उस समय सुभाष रोम में थे। वैदेशिक ऑफिस के सेक्रेटरी ऑफ स्टेट हेर वॉरमैन ने जर्मन सरकार को एक रिपोर्ट भेजी थी जिसके कुछ अंश निम्नलिखित हैं....

'मिस्टर बसु ने वापस लौटने पर रूस-जर्मन युद्ध की प्रतिक्रिया स्वरूप मेरे साथ विस्तारपूर्वक आलोचना की है।

उनका कहना है, सोवियत यूनियन भारतवासियों में लोकप्रिय है। भारतीयों का विश्वास है कि सोवियत साम्राज्यवाद विरोधी है तथा उनका मित्र है।

रूस-जर्मन युद्ध में भारतीयों की धारणा है कि जर्मनी ही आक्रमणकारी है और जर्मनी भारत के लिए एक खतरनाक साम्राज्यवादी शक्ति है। युद्ध में रूस अगर हारता भी है तो भी भारतीयों के विचार बदल जायेंगे ऐसा नहीं लगता है।'

'मैंने बसु को बताया है कि स्वाधीन भारत की घोषणा के मामले में हमारे पहले वाले वादे में कोई फर्क नहीं आया है, न आएगा। उस पर हम अटल हैं। परन्तु हमें उपयुक्त अवसर की प्रतीक्षा है।'

बसु ने ज़ोर देते हुए कहा कि जर्मन राईख के विदेश मंत्री इस बात की फौरन घोषणा करें। स्पष्ट था कि जब तक स्वाधीन भारत की घोषणा के मामले में वे निश्चिन्त नहीं हो जाते हैं तब तक दूसरे सभी सिद्धान्तों का उनके लिए कोई महत्व नहीं।'

इन दोनों रिपोर्टों को पढ़ कर क्या लगता है? क्या सुभाष सोवियत विरोधी मालूम होते हैं?

उस दिन आजाद हिन्द रेडियो द्वारा प्रसारित सुभाष के भाषण को जिसने भी सुना था उसे सुभाष ब्रिटिश विरोधी हैं, ज्ञात हो गया था। ऐसा एक या दो बार नहीं, बहुत बार सुना था लोगों ने।

क्या ऐसा कभी सोवियत रूस के लिए कहते सुना था किसी ने?

बाद में उनके भाषण पुस्तक रूप में भी प्रकाशित हुए—क्या उसमें कहीं ऐसी चीज मिली?

प्रचार सचिव डाक्टर गोयेबल्स ने कम कोशिश नहीं की थी पर इधर तो एक ही जवाब था। नहीं—मेरा तो अंग्रेज ही दुश्मन है, रूस नहीं।

रूस का भी यही कहना था। मित्र-राष्ट्र ब्रिटिश के दावे के जवाब में वे भी बार-बार यही कह रहे थे—'बोस हमारे शत्रु नहीं हैं। हम व्यर्थ में क्यों उनके विरुद्ध कोई बात कहें?'

उसके बाद ही युद्ध घोषणा। ब्रिटिश, अमेरिका और रूस का गठबन्धन। उस पर भी सुभाष ने अपना मत प्रकट किया, ब्रिटिश और अमेरिका के विरुद्ध? उन्होंने रूस को क्यों छोड़ दिया?

पर सच्चाई यही है। उन्हें कितना ही क्यों न हिटलर का बस्ता ढोने वाला कहा

जाए, हिटलर की इस नासमझी का अगर किसी ने खुल कर प्रतिवाद किया था तो वह सुभाष ही थे। पीठ पीछे से नहीं, जर्मनी की मिट्टी पर खड़े हो कर—वहीं।

'Hitler is at liberty to lick British boots'. यह कथन और किसी का नहीं स्वयं सुभाष का था।

'Tell His Excellency that I have been in politics all my life and that I don't need advice from any side'. यह बात भी सुभाष ने ही कही थी। बाहर कहीं नहीं, बल्कि स्वयं हिटलर के मुँह पर, सामने खड़े हो कर।

'I am not an apologist of the three powers and it is not my task to defend what they have done or may do in future. That is a task which devolves on these nations themselves. My concern is however, with India and if I may and further, with India alone'.

इस कथन का सारांश यह था कि मैं त्रिशक्ति के अधीन नहीं हूँ और न ही यह मेरा काम है कि उन्होंने जो कुछ किया है उसकी मैं सफाई देता रहूँ। मैं तो सिर्फ भारत से मतलब रखता हूँ और आगे भी केवल भारत से ही मतलब रखूंगा।

यह बात भी सुभाष ने सारी पृथ्वी को सुनाते हुए कही थी।

क्या कोई बस्ता ढोने वाला ऐसी दुःसाहस पूर्ण बातें करने की हिम्मत कर सकता है ?

सुभाष बोस फासिस्ट।

इस तथ्य के सबसे पहले आविष्कारक जवाहरलाल थे। यद्यपि त्रिपुरा कांग्रेस अधिवेशन में गांधीजी के भक्तों ने उनके लिए नारे लगाते समय कहा था—'भारत के हिटलर की जय।'

किसी ने यह जयध्वनि सुभाष के लिए नहीं की थी यह बात देखने की है।

परन्तु हाँ जवाहरलाल के इस आविष्कार के लिए कारण था—त्रिपुरा कांग्रेस।

क्योंकि अनगिनत देशवासियों के आगे उस दिन असली गणतन्त्र का रूप उजागर हो गया था। वैसी दशा में गांधी-कांग्रेस को अपनी इज्जत बचाने के लिए सुभाष का ही मुँह काला करना पड़ा। जवाहरलाल और कर ही क्या सकते थे ?

इसीलिए जब सुभाष अंग्रेजों के हाथों से अपनी स्वाधीनता प्राप्त करने के लिए व्याकुल थे तब जवाहरलाल हुंकार उठे थे—

'The way Subhas Bose has chosen is naturally wrong.... ...I Cannot accept but must oppose.' [A. B. Patrika : 13. 4. 42]

उस दिन शायद ब्रिटिश सरकार ने दोनों हाथ ऊपर उठा कर तालियां बजाते हुए अपनी खुशी जाहिर की थी। एक दिन या एकआध बार नहीं, बल्कि बार-बार उन्होंने ऑल इंडिया रेडियो द्वारा प्रचार किया था, I Cannot accept but must oppose.'

जो बुद्धिमान थे वे समझ गए थे परन्तु मूर्खों की समझ में कुछ नहीं आया था। इसलिए उन्होंने इस कथन का अर्थ समझना चाहा था। यह सब क्या है ? सुभाष विरोधी प्रचार या अंग्रेजों का सहयोग ? या दोनों एक साथ ?

अब मैं बंगाल के कम्युनिस्टों के आवेदन पत्र का कुछ अंश यहाँ लिख रहा हूँ मल्लिका। इसी के साथ दूसरी तरफ वालों का कथन भी लिखूँगा—इन्हें पढ़ कर तुम उस समय की राजनैतिक परिस्थिति को समझ सको शायद।

'मानव इतिहास के क्षण में, जिस समय सारा संसार संकटग्रस्त है, जब सारी मानवजाति का भाग्य अनिश्चय के तार से बँधा लटक रहा है, उस समय हम भारतमाता की हर सन्तान से निवेदन करते हैं।

....विश्व की इस परिस्थिति का जन्म हुआ है फासिस्टों के बार-बार विजय लाभ करने से और उसी का परिणाम है—सोवियत यूनियन पर नात्सियों का हमला। जर्मनी का यह आक्रमण एक राष्ट्र के प्रति दूसरे राष्ट्र की विश्वासघातकता मानी जाएगी और इतिहास इसे याद रखेगा।'

शायद यही बात हो। लेकिन एक प्रश्न मन में उठता है। जर्मनी ने तो पहले ही पोलैण्ड, नारवे, हालैण्ड, बेल्जियम, डेनमार्क, फ्रांस जैसे देशों को जीत लिया था। वह भी तो विश्वासघातकता थी।

लेकिन कहाँ, तब तो किसी के मुँह से इतना सा भी प्रतिवाद सुनने में नहीं आया। बल्कि हिटलर जब एक के बाद एक देश जीतता जा रहा था तब औरों की तरह इन्होंने भी खुशी दर्शाई थी। तो फिर आज क्या हो गया ?

म्यूनिक की संधि के नाम से ब्रिटिश और फ्रांस ने जब चेकोश्लोवेकिया का सुदतेन इलाका हिटलर को भेंट स्वरूप दे दिया था तब किसने प्रतिवाद किया था ?

प्रतिवाद एक ही आदमी ने किया था। वे थे पराधीन देश के कविगुरु रवीन्द्रनाथ। वे पहले व्यक्ति थे जिन्होंने 'रूस की चिट्ठी' के माध्यम से भारतीयों को दिखाने का प्रयास किया था कि रूस की प्रगतिशीलता क्या है।

दुःखी कवि ने उस दिन अपने तार में चेकोश्लोवाकिया के राष्ट्रपति बेनेसे को कहा था—

'विश्वासघातियों के षड़यन्त्र के कारण आपका देश संगी-विहीन और अकेला पड़ गया है। इस शोचनीय घटना पर भारतवर्ष की ओर से मैं गम्भीर संवेदना और सहानुभूति प्रकट करता हूँ। मैं आशा करता हूँ कि यह चोट आपके राष्ट्र में नवजीवन का संचार करेगा और इसी के फलस्वरूप उसे नैतिक विजय तथा पूर्ण आत्मोपलब्धि प्राप्त करने का अवसर मिलेगा।' [आनन्द बाजार : २५ दिसम्बर, १९३८]

'चीन, सोवियत यूनियन, इंगलैण्ड, अमेरिका और दूसरे देश के जनसाधारणों के सम्मेलन में विश्वव्यापी सारी प्रगतिशील शक्तियाँ मिल कर एक हो रही थीं। इस विश्व-व्यापी फ्रंट के विरुद्ध थी फासिज्म की सम्मिलित शक्ति जो मानव सभ्यता के गौरव और कीर्ति को नष्ट करने पर तुली थी।'

जनसाधारण का फ्रन्ट ? कहाँ का जनसाधारण ? रूस का ? लेकिन उसी के साथ इंगलैंड या अमेरिका के जनसाधारण को भी क्या, पृथ्वी की शोषित जनता के प्रति सहानुभूति-सम्पन्न समझा जा सकता है ?

असाधारण वीरता प्रदर्शित करने के लिए, जालियांवाला बाग के निष्ठुर हत्या-काण्ड के नायक ओ' डायर को लाखों रुपयों का पुरस्कार दे कर सम्मानित किसने किया था ? इंगलैण्ड की जनता ने ही न ?

जिस तरह से एक दिन जबरदस्ती मुसोलिनी ने अबीसीनिया जीता था, वह निन्दनीय था। परन्तु उस दिन प्रतिवाद किया था किसी ने ? न ही किसी की हिम्मत पड़ी मुसोलिनी की वाहवाही करने की।

'If I had been an Italian, I am sure that I should have been whole heartedly with you from the start to finish in your struggle...'

यह बात चर्चिल ने नहीं कही थी क्या ?

वही ब्रिटिश रातों-रात अपनी आदत बदल देगा ? रातों-रात भारत का मित्र बनेगा, इस बात पर विश्वास करना होगा ?

इश्तेहार में आगे कहा गया—

'अगर केवल स्वाधीनता और प्रगति की ताकत बनी रही और फलती-फूलती रही तो फिर भारतीय राष्ट्रीय स्वाधीनता प्राप्त करना तथा सुरक्षित रखना भी संभव है—इस सच्चाई को कौन नकार सकता है ?'

क्यों नहीं नकार सकता है ? युद्ध जीतते ही भारत को स्वाधीन कर देना होगा इस बात की गारन्टी दी किसने ? रूस ने ? तो फिर अटलांटिक चार्टर में इस बात को अस्वीकार किया किसने ? कहाँ, रूस ने तो इसका विरोध नहीं किया था।

अटलांटिक चार्टर। यह बात तुम्हें समझाता हूँ मल्लिका। पिछले १९४१ के अगस्त के महीने में एक समझौते पर हस्ताक्षर हुए थे। देश थे इंगलैंड और अमेरिका —उसी का नाम है अटलांटिक चार्टर। इस सधि की एक शर्त थी कि युद्ध के खत्म होने पर सभी पराधीन देश स्वाधीन कर दिए जाएँगे।

इस समाचार से गांधीवादी कांग्रेस के नेताओं में खुशी की लहर दौड़ गई। वाह ! काम तो बन गया। वाकई में सुभाष बोस बहक गए हैं। बहके हैं, तभी रह-रह कर लड़ाई की बात करते है। वरना अंग्रेज आदमी बुरे नहीं। देखो न, कैसे भले आदमियों की तरह एक बार में ही वादा कर दिया।

कैसा वादा ? सारी बातों का अन्त हो गया इंगलैंड के प्रधानमंत्री चर्चिल की बात सुन कर। ९ सितम्बर को एक वक्तव्य में खुल्लमखुल्ला उन्होंने अपने मन की बात

कह दी—'हाँ, वादा हमने जरूर किया है और उसे निभाएँगे भी। परन्तु वह भारत पर लागू नहीं होता है।'

कारण भी उन्होंने स्पष्ट कर दिया—'I have not become the King's first minister in order to preside at the liquidation of the British Empire.'

अर्थात् ब्रिटिश साम्राज्य को दिवालिया बनाने के लिए मैं प्रधानमंत्री नहीं बना हूँ। यह स्पष्ट वक्तव्य था।

फिर भी हम उम्मीद लगाए बैठे रहें कि विजय प्राप्त करते ही अंग्रेज हमें स्वाधीन कर देगा?

'मानव सभ्यता और कीर्ति का प्रतीक सोवियत यूनियन की जनता अगर नात्सी सेना द्वारा कुचल दी गई तब कहाँ बची भारत की स्वाधीनता?'

जहाँ थी, वहीं रहेगी।

इसके अतिरिक्त रूस के जीतने पर भी कोई भरोसा है क्या? जिस तरह हिटलर के दूसरे राष्ट्र पर हमला करने की निन्दा की जा रही है, उसी तरह रूस का काम भी कोई तारीफ करने लायक नहीं।

जापान के साथ सन्धि की थी कि युद्ध नहीं करेगा फिर भी उसके विरुद्ध युद्ध की घोषणा नहीं की थी क्या?

जापान ने कभी भी युद्ध करने की बात नहीं सोची थी। त्रिशक्ति का एक अंश होते हुए भी नहीं। १९४१ की १३ अप्रेल को की गई इस सन्धि को उन्होंने कभी नहीं तोड़ा था।

लेकिन अगर उन्होंने हमला किया होता? जिस समय हिटलर के भयंकर हमले से रूस में त्राहि-त्राहि मची थी, उस समय अगर जापान भी टूट पड़ता मंचूरिया के रास्ते? तब रूस का क्या होता?

जापान को तो इसका परिणाम भोगना पड़ा। १९४५ के ६ अगस्त को जापान के हिरोशिमा नगर पर एॅटम बम फेंका गया। मौका देख कर रूस संधि की शर्तें तोड़ कर मृतप्रायः जापान पर टूट पड़ा। जर्मनी का डर भी रूस को नहीं रहा।

रूस का यह काम क्या हिटलर से कम गया गुजरा था?

ऐसे हजारों उदाहरण दिए जा सकते हैं लेकिन जाने दो।

पर यह बताओ लिथुआनिया, लैटविया, एस्तोनिया और फिनलैण्ड जैसे कमजोर पड़ोसी राज्यों के साथ क्या सलूक किया था?

साल भर पहले की ही बात है। अक्टूबर का महीना था। रूस और जर्मनी उस समय तक मित्र थे।

अचानक इन राष्ट्रों के आगे रूस ने कुछ ऐसे दावे पेश किए जिसका अर्थ था—

दावा मानों या समाप्त हो जाओ।

सभी ने अपनी सर्वभौम सत्ता का विसर्जन करते हुए रूस के आगे सिर नवा दिया। बेचारे इसके अलावा कर भी क्या सकते थे ? उनमें दम कहाँ था कि इतनी बड़ी ताक़त का सामना करें ?

इसके बाद नम्बर आया फिनलैण्ड का। उससे कहा गया—लेनिनग्राद और बिवोर्ग के मध्यवर्ती सारे इलाके तुम्हें निरस्त्र करने पड़ेंगे। क्रोनस्टाड और बिवोर्ग के बीच तुम्हारे नौ-सेना के अड्डे को हमारी सेना के लिए खाली कर दो। और फिनलैण्ड उपसागर के पश्चिमी प्रवेश-पथ पर अपने हांगो द्वीप और बन्दरगाह को हमें देना होगा।

इन शर्तों को फिनलैण्ड ने नहीं माना। मानता भी कैसे ? कोई भी स्वाभिमानी राष्ट्र अपने महत्त्वपूर्ण सामरिक अड्डों को क्यों छोड़ देगा ?

'अच्छा। तो यह बात है ? ठहरो, मजा चखाते हैं।'

३० नवम्बर १६३६ को लाल फौज ने मजा चखाया।

कमजोर फिनलैण्ड पर एक विशाल सेना कूद पड़ी।

तीन महीने तक जी-जान से लड़ता रहा फिनलैण्ड। लेकिन शक्तिशाली लाल फौज से जीतना कहाँ सम्भव था ? अन्त में पराजय स्वीकार करनी पड़ी।

११ मार्च १६४० में सन्धि पर हस्ताक्षर हुए। शर्तों के मुताबिक पहले उल्लेख की गई जगहें ही नहीं, उसी के साथ सारा कारेलियन, बिवोर्ग बन्दरगाह और मैकमोहन लाइन के साथ-साथ लाडोगा तालाब के पश्चिमी किनारे तक रूस को दे देने पड़े। हेल-सांकी के पास एक बड़ा ही महत्त्वपूर्ण नौ-सेना का अड्डा भी देना पड़ा।

यह मार्च की बात है। जुलाई में क्या हुआ ?

बॉल्टिक राज्यों के महत्त्वपूर्ण अड्डे रूस ने अपने कब्जे में कर लिए थे, बाद में इन राज्यों को भी कब्जे में कर लिया। कहना था कि अपने राष्ट्र की सुरक्षा के लिए इन पर अधिकार कर लेना जरूरी है।

२६ जुलाई १६४० ही की बात है।

अचानक रूमानिया के आगे उसने माँग रखी। मामूली सी माँग थी—तुम्हारा बेसाराबिया और बाकुलिया हमें चाहिए।

देना पड़ा। दुर्बल सबल का क्या खा कर सामना करेगा ?

हिटलर यह सब देख रहा था। आत्मरक्षा के बहाने रूस धीरे-धीरे उसकी तरफ बढ़ता आ रहा है—यह वह दूर से बैठा देख रहा था।

इधर हर साल सेना तथा अस्त्र-शस्त्र पर रूबॅल की मात्रा बढ़ती जा रही थी। यह खबर भी छिपी नहीं थी।

१६३५ में रूस प्रतिरक्षा पर खर्च करता था ८०० करोड़ रूबल। १६३६ में यही अंक बढ़ कर ४,००० करोड़ रूबल हो चुका था। १६४० में ५,६०० करोड़। और १६४१ में जा पहुँचा ७,१०० करोड़ रूबल। यह सब क्या केवल आत्मरक्षा के लिए

किया जा रहा था ?

कूटनैतिक चाल चलने के लिए हिटलर ने तब बलकरन राज्यों की तरफ हाथ बढ़ाया।

रूस काफी आगे बढ़ आया है। अब और चुप बैठना उचित नहीं। उसकी बढ़ती हुई ताक़त को रोकने के लिए यह जरूरी था।

खैर...अब इश्तेहार का अगला अंश सुनो—

'पृथ्वी की प्रगतिशील जनता, अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर जो स्वाधीनता संग्राम छेड़ चुकी है उसमें से भारत की स्वाधीनता का प्रयास अविच्छन्न और आविभाज्य है।'

कैसे ? भारत की तरह इंगलैण्ड, रूस या फ्रांस पराधीन तो हैं नहीं। वे तो अपने देश की अखण्डता बनाए रखने के लिए लड़ रहे हैं। उनकी लड़ाई और भारत की लड़ाई एक और आविभाज्य कैसे हो सकती है ?

आगे कहते हैं—'फासिज्म को पूरी तरह से पराजित करने की साधना में हर तरह से मदद पहुँचाना हमारा राजनैतिक कर्त्तव्य है। इसी वजह से 'हमारा स्वार्थ पहले का नारा न लगा कर हम 'दूसरों की स्वाधीनता' के लिए लड़ना अपना परम कर्त्तव्य समझते हैं।'

कितनी वास्तविकता-रहित बात है। इतिहास में कहीं पढ़ा है तुमने कि 'अपने स्वार्थ' की बात भूल कर लोग 'दूसरों को स्वाधीनता' दिलाने के लिए लड़ रहे हैं ? है कोई उदाहरण ऐसा जिसे इंगलैण्ड, अमेरिका या रूस ने सामने रखा हो ?

रूस आज घिरा है। उनका यह राष्ट्रीय युद्ध है, पर उनके लिए हजारों मील दूर बैठ कर हम क्यों इसे अन्तर्राष्ट्रीय युद्ध मान लें ?

तो फिर ? हमारी स्वाधीनता की चिन्ता कोई कहाँ कर रहा है ?

आगे इश्तेहार में था—'वर्त्तमान परिस्थिति में भारत की स्वाधीनता के लक्ष्य को आगे बढ़ाने के लिए और राष्ट्र के स्वार्थ के लिए एक ही रास्ता है—आज जितने भी स्वाधीन राष्ट्र अपने प्राणों के लिए, अस्तित्व के लिए लड़ रहे हैं, तथा अपनी श्रेष्ठता बनाए रखने के लिए दुनिया का सामना कर रहे हैं—उनकी विजय हो इस काम में मदद करना। ऐसी दशा में साम्राज्यवाद और अन्य राष्ट्रों पर जो अत्याचार हो रहा है, वह अपने आप ही कमजोर हो जाएगी।'

कमजोर हुई ? हम आज तिब्बत, पूर्वी जमनी, हंगेरी, वियतनाम, कम्बोडिया, कांगो या चेकोस्लोवाकिया में क्या देख रहे हैं ?

युद्ध समाप्त हुए पचीस साल हो गए थे। परन्तु तब जो रूस के भूखण्ड पर मुक्ति-दाता बन कर आ बैठा था अमेरिका, कभी हटाया जा सका वहाँ से ? तो ? तो फिर .ाज वियतनाम या कम्बोडिया के शरीर से खून की धार क्यों फूट रही है ?

आगे इश्तेहार कहता है—'जनसाधारण के इस सर्वस्वप्रण संग्राम में, राष्ट्रीय कांग्रेस अगर प्रत्यक्ष और सक्रिय रूप से हिस्सा ले तब फासिज्म के विरुद्ध संसार-व्यापी शक्ति-सम्मेलन द्वारा असीमित शक्ति ही नहीं बल्कि जनता का समर्थन भी प्राप्त करेगा

और भारत की स्वाधीनता के दिन भी पास आ जाएँगे।'

बात सच है। युद्ध समाप्त होने पर विजयी दल असीमित शक्ति के अधिकारी हो जाएँगे इसमें क्या शक है ? लेकिन उन्हें शक्ति-सम्पन्न बनाने के लिए भारत के सहयोग की क्या आवश्यकता है ? पर अपना स्वार्थ विसर्जित कर विश्वमानवता प्रदर्शन हेतु हम क्यों सिर-दर्द मोल लें ?

विजयी दल खूब शक्तिशाली बन जाएगा—यह तो अच्छी बात है परन्तु युद्ध के उपरान्त भारत को स्वाधीनता प्रदान की जाएगी, इस तरह का कोई वायदा कर रहा है मित्र राष्ट्र ?

वायदा करें भी तो क्या ? इसी तरह का वायदा तो प्रथम विश्वयुद्ध के समय भी किया था। उसके बाद क्या हुआ ?

साम्राज्यवादियों का वायदा क्या चीज है इसका एक नमूना देखो।

अटलांटिक चार्टर १९४१ के १४ अगस्त को हस्ताक्षरित हुआ था। उसके बाद दोनों देश युद्ध के दरम्यान नाना प्रकार के वायदे करते रहे। खूब रेडियो द्वारा प्रसारण हुआ—सलाना जलसे मनाए गए।

इस विषय में न चर्चिल, न रूजवेल्ट—कोई किसी से पीछे नहीं। बार-बार कह रहे थे कि हम शोषित जनता को मुक्ति दिलाएँगे। बस युद्ध खत्म हो जाए उसके बाद देख लेना।

पहले वार्षिकोत्सव में प्रेसीडेन्ट रूजवेल्ट ने अपने आकाशवाणी के भाषण में कहा—

'A year ago to-day the Prime Minister of Great Britian and I, as representatives of two free nations, sat down and subscribed to a declaration of principles common to our peoples.

We leased and continue to lease, our hopes for a better future for the world on the realisation of these principles. This declaration is known as the Atlantic Charter....

We re-affirm our principles, They will bring us to happier world.'

अर्थात् आज से साल भर पहले ग्रेट ब्रिटेन के प्रधान मंत्री और मैंने, दो स्वाधीन राष्ट्र के प्रतिनिधियों के रूप में, कर्मनीति का एक घोषणा पत्र तैयार कर हस्ताक्षरित किया है।

हमने आशा की थी और आज भी करते हैं कि इस कार्यनीति का पालन किया जाएगा तो विश्व का भविष्य सुन्दर बनेगा। यह घोषणा-पत्र अटलांटिक चार्टर के नाम से परिचित है।

....घोषणा-पत्र के प्रति हम पुनः अपनी आस्था प्रकट करते है। यह हमें सुख-मय दुनिया में ले जाएगा।

यह थी रूजवेल्ट की स्वीकृति लेकिन उसके बाद ? उसके बाद की बात उस समय की हर पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हुई—

'पिछले १६ दिसम्बर १६४४ के एक संवाददाताओं के सम्मेलन में संयुक्तराष्ट्र अमेरिका के प्रेसीडेन्ट रूजवेल्ट ने घोषणा की है कि अटलांटिक चार्टर पर अभी तक कभी हस्ताक्षर नहीं हुए हैं। वास्तव में इस तरह का कोई दस्तावेज़ है नहीं, सरकारी दस्तावेज़ तो कभी था ही नहीं।'

प्रेसीडेन्ट रूजवेल्ट की इस घोषणा से सभी देश के लोग ज़रा बहुत नाराज़ हुए। क्षुब्ध और विस्मित भी।

....आज दस्तावेज है ही नहीं कह कर रूजवेल्ट ने आशा-निराशा का अवसान ही कर दिया जब कि तीन साल से इस दस्तावेज़ ने हर आदमी के दिल में जगह बना रखी थी। इस बात पर कितनी बहस हुई, तर्क हुए, कितनी सफाई दी गई लेकिन कभी भी पता चलने दिया कि इस तरह का कोई दस्तावेज़ है ही नहीं। [साप्ताहिक देश : २७ दिसम्बर १६४४]

यह तो है साम्राज्यवादियों के वायदे और उसके नमूने। इसके बाद भी अगर कोई शोषित राष्ट्र 'वास्तविक मित्र' इंगलैंड या अमेरिका पर निर्भर न करे तो इसमें किसी का क्या कसूर ?

आगे देखो इश्तेहार क्या कहता है—

'भाइयों और बहनों, आइए सभी द्वन्द्व बाधाएँ त्याग कर विश्वमानव की पुकार पर चल पड़ें। फासिज्म के विरुद्ध इस युद्ध में जनसाधारण अगर भाग नहीं लेंगे तो भयंकर सर्वनाश और आजीवन दासता का अभिशाप हमें हमेशा ढोना पड़ेगा।'

और अगर ब्रिटिश जीत गया तो ? तब हम आजीवन काल की दासता से छुटकारा पाएँ यह जिम्मेदारी कौन लेगा ? रूजबेल्ट या चर्चिल ? या स्टालिन ? न— इश्तेहार में इसका कहीं उल्लेख नहीं था।

लम्बा चौड़ा इश्तेहार। पर ज्यादा बात बढ़ाने से फायदा क्या ?

उधर बी० वी० के नेता सत्य बख्शी की चिन्ता का अन्त नहीं था। चिन्ता ही चिन्ता। मन परेशान था।

चिन्ता के कारण सुभाष थे। २० मई को बर्लिन से संदेश भेजने के बाद उनका कोई हाल नहीं मिला था। पता नहीं क्या बात है। ऐसा तो होना नहीं चाहिए।

इस बीच उन्होंने बार-बार आदमी भेजे पंजाब के कीर्ति किसान पार्टी के पास लेकिन कोई ठीक जवाब नहीं मिल पाता था। जो भी खबर मिलती वह भी अस्पष्ट होती।

मामला क्या है ? इतना ठंडापन क्यों ? लग रहा है कुछ हुआ जरूर है।

इधर पुलिस भी चुप नहीं बैठी है। क्योंकि मँझले भाई शरत बोस गिरफ्तार कर

लिए गए थे ।

७ दिसम्बर १९४१—जापान ने युद्ध की घोषणा की। उसी के ठीक ४ दिन बाद (११ दिसम्बर को) पुलिस उनके उडवर्न पार्क वाले घर में जा पहुँची। 'तुम्हें भारत रक्षा-कानून २६ धारा के मुताबिक गिरफ्तार किया जाता है।'

कसूर ?—'तुम जापान के साथ भीतर ही भीतर सम्बन्ध बनाए हुए हो।'

'इसका कोई प्रमाण है ?'

'हाँ है। प्रमाण हमारे पास है।'

अखबारों ने हल्ला मचा दिया।—'अगर प्रमाण है तो बिना विचार किए क़ैद क्यों कर रखा है ? अदालत में जाकर प्रमाण पेश क्यों नहीं कर देते हैं ?'

पुलिस इसका उत्तर नहीं दे सकी थी। हो सकता है देने की जरूरत नहीं समझी थी।

अब ? अब किसका नम्बर आने वाला है ? कब क्या हो जाए, कहना मुश्किल है।

आशंका ठीक हो निकली। लाहौर से भयंकर समाचार लेकर शान्तिमय गांगुली वापस आ गए। किसी भी कारणवश हो, कीर्ति किसान पार्टी अब सुभाष के मामले में मदद करने को तैयार नहीं है। उनमें अब सुभाष के लिए कुछ करने का उत्साह नहीं है।

विपदा पास खड़ी दिखाई दी सत्य बाबू को। पार्टी के अन्य नेताओं में से कोई और बाहर था भी नहीं।

९ अप्रैल १९४० को नॉरवे घिर गया।

१२ अप्रैल तक पहले नम्बर के २५ नेता गिरफ्तार कर लिए गए। हेमचन्द्र घोष, मेजर सत्य गुप्त, भूपेन्द्र किशोर, रक्षित राय, मनीन्द्र राय, रसमय सूर, सुपतिराय, निकुंज सेन वगैरह कोई नहीं बच सके।

बस थोड़े से विश्वस्त कर्मचारी बच गए। हाँ बचे थे यतीश गुहा जिन्होंने मेदिनीपुर के तृतीय ज़िला मजिस्ट्रेट बर्ज को मारने तथा दार्जिलिंग में बंगाल के गवर्नर एन्डरसन की हत्या करने की योजनाओं का संचालन किया था।

परिस्थिति आशाप्रद न थी—किसी भी समय, कुछ भी हो सकता था।

हुआ भी। सत्य बख्शी और यतीश गुहा पकड़ लिए गए। काबुल में उत्तमचन्द्र की भी यही दशा हुई। उन्हें जीवन के अन्तिम दिन तक जेल में ही रहना पड़ा।

अमलेन्दु घोष, जो उस समय हिन्दुस्तान इन्श्योरेन्स कम्पनी में काम करते थे, भी पकड़े गए। उस समय वे छुट्टी लेकर ढाका गए थे—उन्हें वहीं पकड़ लिया गया।

पुलिस इसके बाद इलेक्ट्रीकल इन्जीनियर सत्यव्रत मजुमदार को ढूंढ़ती जा पहुँची नारायणगंज, ढाकेश्वरी मिल के पॉवर हाउस में।

परन्तु खतरे का आभास पा कर वे वहाँ से भाग निकले थे।

शक के आधार पर अन्य लोग पकड़ लिए गये। सुभाष तो पकड़ के बाहर थे, इसलिए दूसरों को पकड़-पकड़ कर जेल में भरने में ही अंग्रेजों की भलाई थी। पता

नहीं कब सुभाष सेना लेकर आ धमकें—सतर्क रहना ठीक है।

ब्रिटिश मिलिट्री सेना सत्य बख्शी और यतीश गुहा से बात निकालवाने के लिए बुलाई गई। इन दोनों को लालक़िले की मिलिट्री को सौंप दिया गया। वहाँ इतना भयंकर अत्याचार और कष्ट दिया गया जिसका वर्णन करना तक असम्भव है। उन अत्याचारों को एक स्वस्थ व्यक्ति भी झेल नहीं सकता।

'सुभाष बोस बर्लिन कैसे पहुँचे बताओ ? किस रास्ते से गये ? तुम दोनों में से कौन उनकी मदद कर रहा था ? सेना लेकर वे कब तक लौटेंगे ? किस रास्ते से आएँगे ?'

मारते-मारते बेहोश कर देते पर छुटकारा नहीं मिलता। जैसे ही होश में आ जाते तैसे ही मारना शुरू कर देते।

सत्य बख्शी दाँतों के बीच होंठ दाबे पड़े रहे। सुभाष उनके सहकर्मी ही नहीं परम मित्र भी थे। उनके उद्देश्य को असफल नहीं कर सकते थे वे।

सत्य बख्शी बीमार पड़ गये। फिर भी उन पर अकथनीय, अमानुषिक अत्याचार चलता रहा।

यतीश बाबू बरदाश्त न कर सके। वे बहुत ज्यादा बीमार पड़ गए।

इस पर अंग्रेजों को होश आया। अरे—यह कुछ ज्यादा ही मारपीट हो गई है। अगर कुछ हो गया तो सरकार की बड़ी बदनामी होगी। इससे अच्छा है छोड़ दिया जाये।

कुछ न किया जा सका। बी० वी० के नेता की मृत्यु हो गई।

परिस्थिति गम्भीर देख कामाख्या राय, सत्यव्रत मजुमदार, धीरेन, शान्तिमय गांगुली, विनय सेनगुप्ता जैसे बी० वी० के अन्य लोग छिप गए।

उनके मन में एक ही बात थी—आज तक हमने बहुत खून बहाया है देश की स्वाधीनता के लिए। आवश्यकता हुई तो फिर खून देंगे, प्राण न्यौछावर कर देंगे। एक एक बूंद के बदले जी-जान से स्वाधीनता प्राप्त करने का प्रयास करते रहेंगे। विप्लव दीर्घायु हो।

गांधी जी की भूमिका आज उपेक्षित नायकों जैसी थी। उनके आस-पास कोई नहीं था।

युद्ध में सहयोग देने के मसले के कारण सब उनसे दूर हट गए थे। जवाहरलाल, मौलाना आजाद, भूलाभाई देसाई जैसे प्रमुख नेतागण।

२७ अप्रैल की इलाहाबाद की कांग्रेस वर्किङ्ग कमेटी की बैठक में उनका प्रस्ताव पारित नहीं हुआ था। स्वीकृत हुआ था जवाहरलाल का प्रस्ताव। उनके एकान्त भक्तों ने भी उस दिन उनका साथ नहीं दिया था। उनकी आवश्यकता अब नहीं रह गई थी।

गांधी जी शान्त। उनको बाहर से देख कर समझना कठिन था। परन्तु हृदय रो रहा था। फूट-फूट कर।

दिन बीतने लगे।

दिन भर सोचा करते। तरह-तरह की चिन्तायें।

क्रिप्स-प्रस्ताव असफल हो गया। अब क्या करना चाहिये।

रह-रह कर मन जीवन के अतीत के पन्ने उलटने लगता।

याद आता विद्रोही सुभाष। बड़ा ही अभिमानी बेटा था—नाराज़ होकर आज कितनी दूर हट गया है। वह तो किसी भी क़ीमत पर भारत की स्वाधीनता प्राप्त करना चाहता था। किसी तरह की देर करने के वह पक्ष में नहीं।

विचार और रास्ता, यही अलग है वरना स्वाधीनता की कामना क्या वे किसी से कम करते हैं? उन्होंने क्या पराधीनता के विरुद्ध लड़ते-लड़ते अपने जीवन के बहु-मूल्य दिन नहीं खोये हैं?

संग्राम-संग्राम और संग्राम। संग्राम का नाम लेते ही लड़का पागल हो जाता था। वह सारी उम्र यही रटता रहा—किसी तरह का समझौता नहीं। कोई मोल भाव नहीं—बस चाहिये संग्राम।

कलकत्ता कांग्रेस में, १९२८ में मत विरोध हुआ था। गांधी जी चाहते थे स्वशासन या डोमेनियन स्टेटस। उधर सुभाष पूर्ण स्वाधीनता से एक रत्ती कम लेने के विरुद्ध थे। कितना जोशीला भाषण था—The youths of India are no longer content with handing over all responsibility to their older leaders and sitting down with folded hands or following like dumb driven cattle. [Speeches and writings of Subhas Bose : p—80-81]

१९२९ में लाहौर कांग्रेस सम्मेलन में फिर नया दावा किया—'मैं राष्ट्रीय सरकार का गठन करना चाहता हूँ।'

१९३१ में करांची कांग्रेस में? भगत सिंह, सुखदेव और राजगुरु की फांसी की बात पर क्या वातावरण बन गया था? उस दिन के सुभाष की भूमिका भुलाई नहीं जा सकती है।

उसके बाद दीर्घकाल तक यूरोप में रहे। वही एक रूप। गांधी जी के नेतृत्व के खिलाफ आवाज़ उठाने की क्षमता बस उसी एक आदमी में थी।

१९३८ के हरिपुरा कांग्रेस के सभापति। सभी एक ही बात कर रहे थे। प्लानिंग कमीशन! प्लानिंग कमीशन और प्लानिंग कमीशन!

सुभाष के मुँह से प्लानिंग कमीशन की बात सुन कर मित्रगण चंचल हो उठे थे। इससे पहले भारत में कभी किसी ने प्लानिंग कमीशन की बात नहीं की थी।

उसी साल, जलपाईगुड़ी में बंगीय प्रादेशिक राष्ट्रीय सम्मेलन में सुभाष ने एक नई मांग रखी।

'अंग्रेज भारत छोड़ो। फौरन यह देश छोड़ दो।'

इस सम्मेलन के सभापति थे उनके भाई शरत चन्द्र बोस।

उसके बाद तो वही त्रिपुरा का अविश्वसनीय अधिवेशन।

वहाँ भी उन्होंने एक ही बात दोहराई थी—'अंग्रेजों को भारत छोड़ने के लिए चेतावनी दी जाये। केवल छह माह का समय दो, फिर युद्ध....राष्ट्रव्यापी युद्ध।'

उसके बाद ही कांग्रेस से बहिष्कार और फारवर्ड ब्लॉक की नींव डाली। और अन्तर्ध्यान हो गए। तारीख थी १७ जनवरी १९४१—

गांधीजी के लिए सुभाष का यह अन्तर्ध्यान होना कोई अप्रत्याशित घटना नहीं थी।

नहीं। नहीं थी। विचार और रास्ता भले ही अलग था, पर सुभाष ने सारी बातें बता दी थीं। जाने से पहले उनसे खुल कर बातें की थीं। 'बाहर जाकर कुछ किया जा सकता है या नहीं, यह मैं एक बार जा कर देखना चाहता हूँ। आप मुझे आशीर्वाद दीजिए।'

गांधी जी ने उत्तर दिया था—'तुम सफल हुए तो मैं पहला आदमी हूँगा जो तुम्हारा अभिनन्दन करेगा।'

सुभाष ने अपना वायदा निभाया था। इस बीच सुदूर जर्मनी में एक शक्तिशाली सेना संगठित कर ली थी। वहीं से अक्सर उनका तेजस्वी स्वर रेडियो पर सुनाई पड़ता—

'मैं सुभाष बोल रहा हूँ....'

गांधी जी को वही एक चिन्ता खाए जा रही थी। इतिहास की रचना रोज हो रही थी। भारत के करोड़ों मनुष्यों के बापू बन कर भी क्या वे चुपचाप दर्शक बने बैठे रहेंगे ? इस मुसीबत के दिनों में कुछ नहीं करेंगे ?

असम्भव। लेकिन क्या करें ? क्या करना उचित होगा ?

'Azad Hind Radio, Berlin, I am Subhas Calling....

Freedom is not given, it is taken. Freedom never could be a gift, because every gift carries its obligations, its ties....'

सुभाष....वही कण्ठ-स्वर। वही स्वतन्त्रता का दावा—वही बात कि स्वाधीनता कोई देगा नहीं, वसूल करके लेना होगा।

आज क्या चीज सबसे ज्यादा जरूरी है ? संग्राम या सहयोग ? मित्रता या विच्छेद ? स्वाधीनता या दासता ?

'Britain's paid propagandists have been calling me enemy agent. I need no credentials when I speak to my own people.

My whole life is one long persistent uncompromising struggle against British Imperialism and is the best guarantee of my bonafides ...

All my life I have been the servant of India. Until the last

hour of my life I shall remain one. My allegiance and loyalty have ever been and will ever be to India alone, no matter in which part of the world I may live...'

'ब्रिटिश वेतनभोगी प्रचारक मुझे शत्रुओं का एजेन्ट कहते हैं परन्तु मैं जब अपने देशवासियों से बात करता हूँ, मुझे किसी परिचय पत्र की आवश्यकता नहीं होती है।

मैंने सारी जिन्दगी डट कर, बिना किसी तरह का समझौता किये ब्रिटिश साम्राज्यवाद के विरुद्ध संघर्ष किया है और यही मेरी निष्कपटता की गारन्टी है।

मैं अपनी सारी उम्र भारत का सेवक रहा और जीवन के अन्तिम क्षण तक रहूँगा। मेरी निष्ठा और वफादारी हमेशा भारत के प्रति ही बनी रहेगी। इसमें कोई अन्तर नहीं आयेगा चाहे मैं संसार के किसी भी भाग में क्यों न रहूँ....'

वही एक ही आवाज गूंजती रही—Azad Hind ! To fight and win India's liberty, and then build up in India, with full freedom to determine her own future—with no interference. Free India will have a social order based on the eternal principles of Justice, Equality and Fraternity.

सभी बातें धीरे-धीरे दिमाग से बाहर चली गईं—याद रहीं सिर्फ Justice, Equality, Fraternity. न्याय, समानता और भ्रातृभाव। इन नींवों पर खड़ा था सुभाष के सपनों का भारत।

ऐसे ही दिन, महीने बीतते।

—'मैं सुभाष बोल रहा हूँ....

मेरे भाई बहनों,

ब्रिटिश ने अतीत काल से भारत को दरिद्र और दास बनाए रखने की नीति अपना रखी थी, आज उसका फल तो भोगना ही पड़ेगा।

आज यह बात साफ है कि हम लोग कोई भी मौका यूं नहीं चूकने वाले हैं। जल्द ही हम भारत को राष्ट्रीय मुक्ति प्रदान करने के लिए युद्ध-अभियान आरम्भ करेंगे। हम अपनी समस्त शक्ति लगा देंगे लड़ने में। विधाता के आशीर्वाद और देशवासियों की मदद से हम प्राप्त करेंगे अपनी स्वाधीनता—अपनी मुक्ति को।

या तो किनारा मिलेगा, या जल-समाधि—इसके अलावा हमारी आँखों के आगे आज दूसरा कोई रास्ता नहीं है। जयहिन्द।'

क्षण भर के लिए गांधी जी की आँखों में चमक आ गई।

महाभारत में पंच पांडवों ने अपने न्यायसंगत राज्य के स्थान पर, दुर्योधन से पाँच राज्यों की माँग की थी। बीच-बचाव किया था श्रीकृष्ण भगवान् ने।

घमण्डी दुर्योधन ने बात सुनी-अनसुनी कर दी। हजारों बार अनुरोध करने पर भी उसका हृदय परिवर्तित नहीं हुआ था। निरुपाय होकर अर्जुन को गांडीव धारण करना पड़ा था।

यही होता है। दुनिया में दुर्योधन लोग कभी भी उपदेशों पर ध्यान नहीं देते हैं। हजारों उदाहरण पेश करो फिर भी होश में नहीं आते हैं। आज भी नहीं जागेंगे वे। इसीलिए अपने जन्मसिद्ध अधिकार के लिए भारत को लड़ना ही पड़ेगा।

या तो किनारा या अतल समाधि। करेंगे या मरेंगे।

इसके अलावा भारतवासियों के लिए कोई रास्ता खुला नहीं है।

उधर पुराने साथी आश्चर्य से देख रहे थे।

बापू जी मानो वे बापू जी नहीं। न जाने कैसा द्वन्द्व उनके अन्दर छिड़ा हुआ था। न जाने कैसी व्याकुलता-भरी चिन्ता कुरेद रही थी उन्हें। रात दिन। वक्त-बेवक्त। हर समय।

ठीक से समझ में न आने पर भी साफ मालूम होता था। उनके मन में भयंकर आँधी आई थी।

बापू जी को क्या हो गया है ? वे रात दिन किसकी बात सोच रहे हैं ? कौन है वह आदमी ?

जानते थे सिर्फ एक आदमी। वे थे मौलाना अबुल कलाम आज़ाद। सिर्फ वे ही समझ सके थे कि गांधी जी की असली तकलीफ क्या है।

तकलीफ के कारण थे—सुभाष। वही सुभाष—जिन्हें उन्होंने स्वयं कांग्रेस से बहिष्कृत कर दिया था।

आश्चर्य ! आज उसी सुभाष ने उनके सम्पूर्ण हृदय पर कब्जा कर रखा है। सुभाष उनका विद्रोही बेटा है—उसे कभी भूल सकते हैं वे ?

मल्लिका, यह मेरी बनाई हुई बात नहीं है। साक्षी थे स्वयं मौलाना आज़ाद।

मना रहने पर भी बहुत लोगों ने उनका रेडियो द्वारा प्रसारित भाषण सुना था। भारत के नेता भी बड़े आग्रह के साथ सुभाष का भाषण बहुत बार सुन चुके थे।

आज़ाद साहब की एक चिट्ठी इस बात का सुबूत है। उन्होंने लिखा था—...'चार-पाँच दिन पहले बर्लिन से सुभाष बाबू का एक वक्तव्य रेडियो द्वारा प्रसारित हुआ था। दूसरे ही दिन घोषित किया गया कि उनका भाषण रेकार्ड कर लिया गया है और इसे आप सुभाष की आवाज़ में ही सुन सकेंगे।

मैंने सुना। सुभाष का कण्ठ-स्वर था। मुझे लगता है वह रेकार्ड नहीं, सुभाष स्वयं बोल रहे है। पर हाँ, टोकियो से जो प्रसारण हुआ था वह अवश्य ही रेकार्ड था। साफ मालूम हो रहा था कि रेकार्ड बिजली से बजाया जा रहा है।' [पत्र गुच्छ : जवाहरलाल]

सुभाष को केन्द्रित कर गांधी जी के इस आश्चर्यजनक परिवर्तन का भी उल्लेख किया था मौलाना आज़ाद ने।

अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'इण्डिया विन्स फ्रीडम' में एक स्थान पर उन्होंने लिखा है—

'I also saw that Subhas Bose's escape to Germany had made a great impression on Gandhiji—and now I found change in his outlook.' आगे लिखा था....'many of his remarks convinced me that he admired the courage and resourcefulness Subhas Bose has displayed as in making his escape from India.'

इस पुस्तक को लेकर आजाद साहब को कम आलोचनाओं का सामना नहीं करना पड़ा था। होना स्वाभाविक भी था।

वर्धा में कांग्रेस वर्किङ्ग कमेटी की बैठक हुई ५ जुलाई को।

एक तरफ गांधीजी अकेले-दूसरी तरफ बाकी लोग। जवाहरलाल ने जी-जान से विरोध किया।

'इस समय किसी तरह से भी लड़ाई छेड़ना ठीक नहीं। इससे फायदा त्रिशक्ति को होगा। जापानी मौका पाकर भारत पर हमला नहीं करेंगे यह कौन जानता है?

गांधी जी का कहना था कि यह कोई बात नहीं। जापान हमारा नहीं ब्रिटिश का शत्रु है। वे अगर हमारे देश में आते हैं तो ब्रिटिश के कारण आएँगे, हमारे लिए नहीं। इसलिए ब्रिटिश यहाँ से चले जाएँ।

'...If the Japanese army ever come to India, it would come not as our enemy but as the enemy of the British.'

जवाहरलाल ने बहुत समझाया। रोकने की कोशिश की। कांग्रेस की नीति अहिंसात्मक है। इस समय अगर आन्दोलन शुरू हुआ तो विदेशियों की नजरों में हमारी मर्यादा कम हो जाएगी।

'जरूर! जरूर!' व्यंग्य कसा परिहास-प्रिय आचार्य कृपालिनी ने—'लेकिन अंग्रेज क्या सोचेंगे हमारे लिए सिर्फ यही देखने से तो काम नहीं बनने का। यह भी तो देखना चाहिए कि कुछ न करने पर देशवासी क्या सोचेंगे।'

यही विचार थे लौह पुरुष सरदार पटेल के भी—'इतना समय तो गुजर गया है, अब कब तक कोई बैठा रहेगा।'

बड़ी बहस हुई—सोचा-विचारा गया। लेकिन सब व्यर्थ था। गांधीजी को टस से मस न किया जा सका। अन्त में उन्होंने अपने सहयोगियों के आगे अपनी भयंकर घोषणा रखी—

'मुझे तुम किसी की जरूरत नहीं, क्योंकि मैं जानता हूँ, हमारे रास्ते अलग हैं। अब हमारे लिए एक साथ मिल-जुल कर काम करना संभव नहीं रहा।'

Things reached a climax when he sent me a letter to the effect that my stand was so different from his that we could not work together. [India wins Freedom : Azad]

इसी के साथ गांधीजी ने अपने मन की बात भी स्पष्ट कर दी।

'कांग्रेस अगर साथ आती है तो ठीक है, वरना मैं अपने अनुगामियों के साथ

अकेला ही लड़ूंगा । मैं अब ज़रा भी देर करने को तैयार नहीं ।'

'....I shall have to fight against the whole world and stand alone. Even if all the United Nations oppose me, even if the whole of India tries to persuade me that I am wrong, even then I will go ahead not for India's sake alone but for the sake of the world.

I cannot wait any longer for Indian freedom. I cannot wait until Mr. Jinnah is converted. If I wait any longer, God will punish me. This is the last struggle of my life.'

आश्चर्य से जवाहरलाल जैसे नेता उनका मुँह देखते रह गए ।

यह कौन बोल रहा है ? बापूजी या सुभाष ? यह तो इतने दिनों के परिचित बापू नहीं हैं । सम्पूर्ण परिवर्तित ! कोई अलग ही सत्ता है यह तो ?

परन्तु कैसे ? किस अदृश्य शक्ति का प्रभाव है ? अब ?

अब अनिच्छापूर्वक सब ने गांधीजी के प्रस्ताव के आगे सिर झुका लिया । इसके अलावा रास्ता ही कहाँ था कोई ? गांधीजी के अर्थ थे सम्पूर्ण भारत....उनके विरुद्ध खड़ा कैसे हो सकता है कोई ? सुभाष के अलावा किसी में वह साहस, शक्ति और योग्यता थी भी कहाँ ? कोई और कभी गांधीजी की इच्छा के विरुद्ध चल सका था, मल्लिका ?

परन्तु जवाहरलाल अभी भी प्रसन्न नहीं हो सके थे, मल्लिका । उनका कहना था, गांधीजी का उस दिन का सिद्धान्त एक संकीर्ण जातीयवाद का नमूना था और कुछ नहीं । 'Gandhiji's approach also seemed to ignore international considerations and appeared to be based on a narrow view of nationalism. [Discovery of India]'

प्रस्ताव पास हुआ १४ जुलाई को । परन्तु पूरा नहीं, कुछ और किसी हद तक, क्योंकि यह समझा जा रहा था कि गांधीजी का प्रस्ताव विपत्ति घेर लाएगा । उनकी दृष्टि बचा कर मूल प्रस्ताव से कुछ अंश उड़ा दिए गए ।

उधर इंगलैण्ड और अमेरिका में सनसनी फैली हुई थी । चारों ओर पत्र-पत्रिकाओं में बड़ी कड़ी आलोचना हो रही थी ।

इस समय अगर गांधीजी ने भारत में आन्दोलन छेड़ दिया तो सिर्फ अराजकता बढ़ेगी और कुछ नहीं । उनका यह आन्दोलन समर्थन योग्य नहीं ।

क्रिप्स ने कड़ी आलोचना की । उन्होंने लंदन से रेडियो द्वारा अपने भाषण में अमेरिका से कहा कि गांधीजी का यह प्रस्ताव विवेचना रहित है । इस आन्दोलन का दमन करना ही होगा ।

अमेरिका का भी यही कहना था । मित्र-शक्ति का प्रधान युद्ध-स्थल भारत है । इस समय हमें युद्ध की चेष्टा से जो रोकेगा वही हमारा शत्रु होगा ।

धमकी दी युद्धकालीन ब्रिटिश भारत के सेक्रेटरी ऑफ स्टेट मिस्टर एल० एस०

एमरी ने। अगर मिस्टर गांधी ने अपना प्रस्तावित आन्दोलन शुरू किया तो भारत सरकार उसका सामना करने के लिए हर समय तैयार रहेगी।

गांधीजी ने इसका उत्तर दिया।

'मेरा वक्तव्य इतना स्पष्ट है कि कोई मूर्ख भी समझ सकता है। इस तरह से चिल्लाने से कोई फायदा नहीं होगा। कोई कुछ भी कहे, भारतवर्ष में इस युद्ध का आयोजन केवल ब्रिटिश साम्राज्य की रक्षा के लिए ही किया जा रहा है। इसीलिए मेरा मन, स्वाभाविक कारणों से ही ब्रिटिश को नैतिक रूप से मदद करना नहीं चाह रहा है। मैं इस बात पर विश्वास करता हूँ कि ब्रिटिश की मौजूदगी ही आज जापान को भारत पर आक्रमण करने के लिए उत्तेजित कर रहा है। इसलिए ब्रिटिश हमारे देश से चले जाएँ। उसके बाद हमारी समस्या हम स्वयं सुलझा लेंगे।

'Let them (the British) withdraw from India and I promise that the Congress and the Muslim League will find it to their interest to come together and devise a home made solution for the Government of India.'

गांधीजी सत्यवादी थे। क्या अपने व्यक्तिगत जीवन में, क्या राजनैतिक जीवन में—उनकी कोई चीज गुप्त नहीं थी। इसीलिए इस बार उन्होंने अपनी प्रिय शिष्या मीरा बेन (मिस श्लेड) को दिल्ली भेजा। वह गईं बड़े लाट लिनलिथगो से भेंट करने। उनका उद्देश्य था, आगामी आन्दोलन के बारे में सारी बातें साफ-साफ बता देने का।

परन्तु कहाँ बड़े लाट साहब ?

सेक्रेटरी ने उत्तर दिया—'नहीं, मुलाकात नहीं होगी। मिस्टर गांधी ने विद्रोह करने की धमकी दी है। इसलिए वाइसराय न उनसे न उनके भेजे हुए आदमी से—किसी हालत में भेंट नहीं करेंगे।'

सरकारी इश्तेहार में यही बात और भी स्पष्ट कर दी गई—

'कांग्रेस सारे भारत की प्रतिनिधि है—सरकार इस बात को मानने के लिए तैयार नहीं। देश में अन्य बड़ी और शक्तिशाली संस्थाएँ भी हैं। इस आन्दोलन के विरुद्ध आवाज उन लोगों ने भी उठाई है। इसलिए कांग्रेस का यह दावा व्यर्थ है। मिस्टर गांधी की इस चुनौती के लिए भारत सरकार दुःखी है, पर जिससे यह आन्दोलन फैले न, सरकार उस ओर से सजग है।'

कम्युनिस्ट पार्टी का वक्तव्य और भी ज्यादा स्पष्ट था—'यह युद्ध जन-युद्ध है। इसलिए सारी शक्ति लगा कर इस आन्दोलन को रोकना होगा। ऐसी कोई बात करने नहीं दी जाएगी जिससे कि ब्रिटिश की युद्ध करने की चेष्टा में बाधा पहुँचे।'

यद्यपि शुरू में कम्युनिस्ट पार्टी समर्थन नहीं कर रही थी। वे कह रहे थे कि यह युद्ध साम्राज्यवादी इंगलैंड-अमेरिका का युद्ध है। उस समय उनका स्लोगन था—

'एक पाई, एक भाई, नहीं देंगे युद्ध में।'

उनका मत बदला जब जर्मनी ने रूस पर आक्रमण किया। उसके बाद इनके दल के प्रमुख पत्रों में यह स्लोगन प्रकाशित हुआ—'चावल दो, रुपये दो, सेना में अपने लड़के दो।'

साल शुरू होते ही सरकार को इन्होंने बता दिया था कि पूरी तरह से तुम्हारा समर्थन करेंगे। जापान साम्राज्यवादी है, जैसे भी हो उसे रोकना होगा।

२२ जुलाई को इसका उत्तर मिला। उस दिन एक सरकारी प्रेस-नोट में कहा गया—'कम्युनिस्ट नेताओं ने युद्ध की चेष्टा का समर्थन करने का वचन दिया है, इसीलिए उनके अधिकांश साथियों को मुक्त करने का आदेश दिया जाता है और इसी के साथ पार्टी को भी वैध घोषित किया जा रहा है।'

सरकार के सिद्धान्त की प्रशंसा करते हुए दूसरे ही दिन भारत सरकार के लेबर वेलफेयर ऑफिसर मिस्टर निम्बकार ने एक वक्तव्य प्रकाशित किया 'स्टेट्समैन' पत्रिका में।—'गांधी-आन्दोलन के विरोध में कम्युनिस्ट पार्टी को मुक्त करके सरकार ने अपनी दूरदर्शिता का परिचय दिया है।'

सुभाष की दृष्टि अतृप्त है। अनजाने में ही हृदय के तार झनझना उठते हैं। एक स्वर लहरी हवा में गूंज उठती है—'गांधीजी ! गांधीजी ! गांधीजी ! अहिंसा के मंत्र के प्रचारक, ऋषि गांधी जी !'

राजनैतिक जीवन में कितनी बार उनके बीच विरोध हुआ, मतैक्य का प्रश्न ही नहीं उठा कभी, यहाँ तक कि अन्त में दोनों अलग तक हो गए, फिर भी गांधीजी, गांधीजी ही हैं। राष्ट्रीय जन-जागरण के लिए उनका त्याग, उनकी देन को कोई क्या अस्वीकार करेगा ?

संग्राम शुरू करने से पहले उन्होंने गांधीजी के आगे कम रोया-गाया न था। दबाव भी खूब डाला था परन्तु लाभ नहीं हुआ। हर बार वे कोई न कोई कारण दिखा कर पीछे हट जाते थे।

सारी द्विविधा और संकोच को त्याग कर आज, वही गांधीजी आगे आकर खड़े हो गए हैं। उनकी जय हो। भारत स्वाधीन हो। एक साथ अन्दर-बाहर से अगर हमला किया जाएगा तो सफलता निश्चित है। जयहिन्द।'

दूसरी तरफ रासविहारी बोस भी कम परेशान न थे। उनकी रातों की नींद उड़ गई थी। वे भी एक ही बात सोच रहे थे। भारत में गांधी जी ने संग्राम की घोषणा कर दी है। कब आएगा वह शुभ दिन जब देश आजाद होगा। कब आएगा ?

थाईलैण्ड रेडियो से २८ जुलाई को भारतवासियों के लिए रासबिहारी ने एक संदेश प्रसारित किया जो बड़ा ही हृदयस्पर्शी था—

'दिन आ गया है। आप सब बड़ी संख्या में गांधीजी के आन्दोलन में हिस्सा

लीजिए। याद रखिए, ऐसा मौका इस जीवन में फिर कभी नहीं आएगा।'

'Friends, the hour has struck, we must now break the shackle with which the British had bound us hand and foot....India had lost everything but she has not lost her soul. Centuries of oppression and exploitation have not been able to kill her soul....

...I therefore earnestly appeal to our compatriots at home to rally round Mahatma Gandhi in his campaign to compel the British to leave India inmediately....' [Rash Behari Bose—his struggle for India's Independence : P—180]

रासबिहारी उन दिनों बेहद अस्वस्थ थे। चलने-फिरने से लाचार। उठ-बैठ नहीं सकते थे। परन्तु उनके पास अपनी बात सोचने-कहने का समय कहाँ था ?

उनके मन में तब केवल एक ही चिन्ता थी—कब मैं स्वाधीन भारत जा सकूंगा? कब मैं अपनी मातृभूमि के दर्शन करूँगा ? कब ?

१ ली अगस्त को फिर उनकी आवाज सुनाई पड़ी। थाईलैण्ड रेडियो से— 'मेरी हार्दिक इच्छा है कि आप सब गांधीजी के साथ संग्राम में भाग लें।'

'In my last broadcast to you on July 28th, I appealed for unqualified support to Mahatma Gandhi in his coming final fight for our freedom....

....In the name of our sacred Motherland, I implore you all my compatriots, to rally under Mahatma Gandhi's banner of national independence and march on to victory.' [Ibid : p—184-189]

रासबिहारी यह जानते थे कि ७ अगस्त को बम्बई में वर्किङ्ग कमेटी की बैठक शुरू होगी। इसीलिए ४८ घंटे पहले, ५ अगस्त को उन्होंने देशवासियों को पुनः थाईलैंड से सतर्क किया—

'इस बार लाचार होकर ब्रिटिश अपना आखिरी ब्रह्मास्त्र छोड़ेगा, परन्तु उसके लिए हम भी दक्षिण पूर्व एशिया के भारतीय तैयार हैं। असुर को किस प्रकार से आसुरिक भाषा में उत्तर दिया जाता है, यह मैं जानता हूँ। सौ रूजवेल्ट भी मिल जाएँ तो भी ब्रिटिश को बचा नहीं सकेंगे।

[The British must leave India anyway....And hundred Roosevelts cannot save her.

Britain has warned India that she will not hesitate to crush the Independence Movement....

I hasten to assure you that we Indians in East Asia are prepared to meet any eventuality. Even if the British overwhelm you, they will not have seen the last of India's national forces.

The British are preparing to crush you, but we, sons of India in East Asia, are preparing to annihilate them. And I have no doubt that this time India must win and she will win.

Think of India's glorious past, her present degradation and the brilliant foture that awaits her, let us march forward with faith in overselves and in India's destiny. Do not look back, do not falter; go on to battle, to victory and to complete independence. [Ibid : P-190 195]

बम्बई में ७ अगस्त को वर्किंग कमेटी की बैठक शुरू हुई। काफी नेताओं का समावेश हुआ।

८ अगस्त की रात को १० बजे 'भारत छोड़ो' प्रस्ताव पास हुआ। उसी के साथ दो छोटे नारे भी मान्य किए गए—'कुइट-इंडिया' और 'डू ऑर डाई'।

इसी के साथ तय हुआ कि यह आन्दोलन बिल्कुल अहिंसात्मक होगा। अर्थात्, जरूरत पड़ी तो हमेशा की तरह मार खा लेंगे पर उलटकर मारेंगे नहीं।

बस—यहीं खत्म हो गया। कहाँ, कैसे, किस तरह आन्दोलन शुरू करना होगा, इस सम्बन्ध में किसी तरह का निर्देश नहीं दिया गया। शायद बाद में निर्देश देने का इरादा था।

अन्त में गांधीजी ने अपनी इच्छा प्रकट की—'मैं स्वयं जाकर एक बार बड़े लाट साहब से मिलूंगा। उन्हें सब कुछ समझा देना चाहता हूँ। शायद कुछ काम बन जाए।'

लेकिन कहाँ बड़े लाट साहब और कहाँ गांधीजी!

दूसरे दिन सुबह, ९ तारीख को भोर होते न होते, देखा सब ने—दरवाजे पर खड़ी है जेल की गाड़ी। 'हाँ, चलो जेलखाने। जी हाँ, सब कोई।'

सपत्नीक गांधी जी और महादेव देसाई, उनके सेक्रेटरी ले जाए गए आगा खाँ पैलेस में। जवाहरलाल, मौलाना अबुल कलाम आजाद को ले गए अहमदनगर के दुर्ग में। अन्य लोगों को, अलग-अलग जेलों में। इसी के साथ कांग्रेस को गैरकानूनी घोषित कर दिया गया।

शासक निश्चिन्त हुए—चलो, जान बची। सारे नेता पकड़ लिए गए हैं। जिसे कहते हैं अंकुरित होने से पहले ही खत्म कर देना। अब आन्दोलन का डर नहीं रहा।

परन्तु अंग्रेजों की यह गलतफहमी दूर होते देर न लगी। आकाश-पाताल गूँज उठा जब करोड़ों लाखों लोग चिल्ला उठे—'कुइट इंडिया। अंग्रेज, भारत छोड़ो! डू ऑर डाई! करेंगे या मरेंगे।'

'शक्ति और साहसिकता ही धर्म है। दुर्बलता और कापुरुषता पाप। स्वाधीनता धर्म है, पराधीनता पाप।'

—स्वामी विवेकानन्द

कुइट इंडिया ! अंग्रेज, भारत छोड़ो !

देखते ही देखते सारे भारत में यह नारा गूंज उठा। यही तो चाहते थे सब—इतने दिनों से यही तो कामना थी। न सिर्फ गांधीजी की यह वाणी थी, यह तो संग्रामी भारत के हृदय की बात है।

अब असली गिरफ्तारी शुरू हुई। पहले गिरफ्तार हुए गांधीजी, जवाहरलाल, मौलाना आजाद वगैरह। उसके बाद तो गिरफ्तारी ही गिरफ्तारी—प्रथम श्रेणी के एक भी नेता जेल के बाहर नहीं रह सके।

इस समाचार ने सम्पूर्ण भारत को मौन और स्तब्ध कर दिया। मिनट भर बाद ही वे भयंकर आक्रोश के साथ गरज उठे।

'कुइट इंडिया' 'अंग्रेज, भारत छोड़ो' 'अब तक हमने बहुत मार खाई है अब हम इसका जवाब देंगे। उलट कर मारेंगे।'

कांग्रेस की मूलनीति थी—अहिंसा। यही उनकी लड़ाई का हथियार है।

पर कहाँ गई अहिंसा की नीति ? देखते ही देखते अहिंसात्मक नीति ने हिंसात्मक रूप धारण कर लिया।

यह तो प्रमाणित हो ही गया कि गांधी जी का नेताओं में सर्वोच्च स्थान है, परन्तु उनकी नीति की दृष्टि से नहीं। इसे उनकी नीति भले ही मान लिया जाए, भारत-वासियों ने इस नीति को दिल से कभी भी स्वीकृति नहीं दी।

इसीलिए अगस्त के आन्दोलन में सुभाष की नीति अपना ली लोगों ने। 'मार के बदले मार। चोट के बदले चोट।'

नेतागण काफी दिनों से कारागार में थे। नेता, स्थानीय कोई भी कांग्रेसी राह दिखाने को नहीं था। परन्तु इसके लिए भारतवर्ष पीछे नहीं रहा। खासतौर से सुभाष समर्थकों का तो कहना ही क्या था। अंग्रेज लेखक कुपलैंड के शब्दों में—

'The Revolutionaries of extreme left, specially in Bengal, were still ready to take their orders from Mr. Subhas Chandra Bose, even if they came by Radio from Berlin.' [Indian Politics : Coupland. P-264]

परिस्थिति जटिल होते देख तुरन्त राममनोहर लोहिया, अरुणा आसफ अली, अच्युत पटवर्धन वगैरह सोशलिस्ट पार्टी के नेतागण भूमिगत (underground) हो गए।

कांग्रेस को क्या चिन्ता थी ? उसके नेता तो सब जेल में थे। परन्तु इससे क्या ? संगठित होकर साम्राज्यवादी शक्ति के खिलाफ तो खड़ा होना ही है।

पर नीति ? इतने दिनों की मान्यता प्राप्त अहिंसात्मक नीति को त्याग देना क्या उचित है ?

'बिल्कुल उचित है।' कहा संग्राम के संचालक जयप्रकाश नारायण ने।

'कांग्रेस ने स्वाधीनता की घोषणा की है। उसी स्वाधीनता को विदेशियों के हाथों से बचाने के लिए हिंसात्मक नीति अपनाने का हमें पूरा अधिकार है। गांधी जी अगर इसका समर्थन नहीं करते हैं तो न करें। हम तो लाचार हैं।'

'My own interpretation of the Congress position (not Gandhijis) is clear and definite. Congress is prepared to fight aggression violently if the country become independent. Well we have declared overselves independent and also named Britain as an aggressive power; we are, therefore, justified within the terms of the Bombay resolution itself, to fight Britain with arms. If this does not accord with Gandhiji's principles that is not my fault. [History of freedom Movement : Vol. III, P-669]

और भी दलीलें थीं जो कभी गांधीजी ने स्वयं दी थीं।

उस दिन देशबंधु के घर में, बंगाल के विप्लवी नेताओं के लिए गांधी जी ने कहा था—'Had India sword, I would have asked her to draw it. But she had no sword,—I ask her to adopt Non-Violent non-co-operation, Non-violence may be accepted as Creed or policy. I am out to destroy this satanic Government.'

अर्थात् 'भारत के पास तलवार नहीं है वरना मैं उसे तलवार निकाल लेने के लिए कहता। लेकिन जब नहीं है तो मैंने कहा है—अहिंसा, असहयोग की नीति अपनाने को। अहिंसा को कार्यपद्धति और नीति के तौर पर ग्रहण करो। मैं इस शैतान सरकार को नष्ट करने के लिए दृढ़संकल्प हूँ।'

भारत के पास तलवार नहीं है, पर इसके मतलब यह तो नहीं कि हर समय वह मार खाने के लिए पीठ बिछा दे, गूंगी गाय की तरह ?

यही है क्या गांधीवाद ?

इसे हम नहीं मानते। हम तो चोट के बदले चोट पहुँचाएँगे। मरेंगे तो मारेंगे भी।

शुरू हुआ ऐतिहासिक 'भारत छोड़ो' आन्दोलन।

पर याद रहे मल्लिका, 'भारत छोड़ो' नारा गांधीजी का नहीं, सुभाष का है। गांधीजी ने तो इसे दोहराया भर है। इसी तरह सुभाष की और कितनी बातें वह दोहरा चुके थे। जैसे कि १६२८ में कलकत्ता कांग्रेस में सुभाष ने पूर्ण स्वाधीनता की माँग की थी, जिसको पाने के लिए कोई शर्त नहीं होगी। पर गांधीजी ने ही बाधा दी थी। वे डोमिनियन स्टेटस अर्थात अंग्रेजों के अधीन रह कर आधी स्वाधीनता की माँग कर

रहे थे। और दूसरे ही साल लाहौर कांग्रेस में क्या हुआ ?

गांधी जी ने वहाँ स्वयं 'पूर्ण स्वाधीनता' का प्रस्ताव रखा था। अर्थात् सुभाष के ही प्रस्ताव को साल भर बाद दोहराया था।

१६३८ में जलपाईगुड़ी के बंगीय प्रादेशिक सम्मेलन में सबसे पहले सुभाष ने ही कहा था—'अंग्रेज, भारत छोड़ो।'

यही बात उन्होंने त्रिपुरा कांग्रेस में भी दोहराई थी। 'अंग्रेज, चले जाओ। केवल छह माह का समय दिया जाता है। इस बीच भारत छोड़ दो। वरना शुरू होगा—संग्राम।'

उस समय भी गांधीवादियों ने बाधा पहुँचाई थी। फलस्वरूप सभापति के पद से त्यागपत्र दे दिया सुभाष ने और कांग्रेस से भी बहिष्कृत हुए।

तीन साल बाद वही गांधीजी सुभाष के प्रस्ताव की पुनरावृत्ति कर उठे—'अंग्रेज, भारत छोड़ो। क्विट इंडिया।'

ऐतिहासिक अगस्त-आन्दोलन जिसकी तैयारी बड़ी भारी थी, जिसका रंगमंच विशाल था।

इतना विशाल कि दो-चार शब्दों में समझा पाना असम्भव है। इसीलिए आज मैं केवल प्रधान घटनाओं की ही चर्चा करूँगा।

गांधीजी वगैरह ६ अगस्त को गिरफ्तार हो गए—बहुत सबेरे। उसी दिन बम्बई के प्रख्यात मेयर मिस्टर यूसुफ मेहर अली भी पकड़े गए।

जनता इस खबर से बेहद उत्तेजित हो गई। गुस्से से उबल पड़ी—'अंग्रेज, भारत छोड़ो। दूर हो जाओ इस देश से।'

आक्रमण पर आक्रमण। जवाबी हमले भी हुए। फलस्वरूप पुलिस की गोली लग कर पाँच आदमी मारे गए। आहत हुए २० व्यक्ति। अहमदाबाद और पूना में भी दो की मृत्यु हुई।

उसी दिन थाईलैंड से क्रुद्ध रासबिहारी की हुंकार गूँज उठी—

'साम्राज्यवादी ब्रिटिश ! सुन लो। मेरे देशवासी भाइयों की तुम इस तरह से हत्या करोगे और हम भावलेशहीन दृष्टि उठाए देखते रहेंगे—यह बात सपने में भी मत सोचना।

याद रखना, हम दक्षिण-पूर्वी भारतीय चुपचाप नहीं बैठे हैं। उस दिन तुम्हें इस खून का बदला खून ही से चुकाना होगा।'

'The world's eyes were focussed on Bombay...Now the historic decision has been taken, India has declared war on Britain.

Perhaps they may, by sheer brute force, overwhelm the national forces for a time. But that cannot save them either, There are other

and mighter forces outside of India's borders, standing ready to pounce on the Anglo American forces in India and to annihilate them without slightest mercy.

The battle has begun in dead earnest. The British have unleashed their reign of frightfulness. India must wade through blood before she reaches her goal of national independence. But this time India is perpared for any sacrifice and she will win. [Rash Behari Bose—his struggle for India's independence : P-96]

११ अगस्त को बम्बई में १३ लोग निहत हुए, जिससे मृतकों की संख्या ३० हो गई। १२ अगस्त को भी दो महिलाएँ और एक शिशु पुलिस की गोली के शिकार हुए।

तब तक बम्बई के अधिकांश सरकारी भवन, पोस्ट आफिस, पुलिस चौकियाँ नष्ट हो चुकी थीं।

'अब तो हम चुपचाप मार खाने वाले नहीं। तुमने मारा तो हम भी मारेंगे।'

यह हालत कलकत्ते की थी।

मल्लिका, आजकल हमारे नेता लोग छात्रों के लिए दो तरह की बातें किया करते हैं। वह भी अपनी सुविधा-असुविधा देख कर।

जैसे कभी कहेंगे (जब प्रयोजन होगा) 'छात्र ही देश के भविष्य हैं। वे ही हमारी लड़ाई के प्रमुख हथियार हैं।'

मामला बिगड़ते देखेंगे तो कहेंगे, 'छात्रों को राजनीति से दूर रहना चाहिए। उन्हें अपनी पढ़ाई पर ध्यान देना चाहिए।'

परन्तु मैं कहता हूँ कि किस लड़ाई में छात्र पीछे रहे? कब उन्होंने आगे बढ़ कर गोलियों की बौछार अपने ऊपर नहीं झेली है? उनके खून से कब जमीन लाल नहीं हुई थी?

१० अगस्त को बंगीय प्रादेशिक कांग्रेस कमिटी को गैरकानूनी घोषित कर दिया गया। और ११ अगस्त को—

उस दिन सारे स्कूल कालेज खाली—सारे छात्र, क्या छोटे-क्या बड़े, रास्तों पर नजर आ रहे थे। 'करेंगे या मरेंगे। डू ऑर डाई। क्विट इंडिया। अंग्रेज, भारत छोड़ो।' के नारों से आकाश-पाताल गूंज उठा।

पुलिस और मिलिट्री तैयार थी। कांग्रेस को गैरकानूनी करार दे दिया गया था। जुलूस निकालना और सभाएँ-समितियाँ निषिद्ध थीं।

दूसरे ही दिन सभी वेलिंग्टन स्क्वायर में इकट्ठा हुए। इनका इरादा था नेताओं को कैद कर लेने के खिलाफ आवाज उठाना।

अचानक लाठी चार्ज। 'नहीं—तुम इस तरह से सभाएँ नहीं बुला सकते हो।'

'मारो—खूब मारो। एक-एक को मार लगाओ।'

हजारों तरफ से आवाज़ उठी—प्रतिवाद हुआ।—'करेंगे या मरेंगे। डू ऑर डाई। अंग्रेज, भारत छोड़ो।'

'धांय! धांय! धांय!' गोली लगते ही श्रीमानी मार्केट के पास वैद्यनाथ सेन जमीन पर गिर पड़े। ऐतिहासिक अगस्त आन्दोलन के प्रथम शहीद हुए वैद्यनाथ सेन।

बस, फिर क्या था? देखते ही देखते आग फैल गई।

दूसरे दिन भवानीपुर में दो जने मारे गए। युद्ध के लिए उन दिनों कलकत्ते में सैनिक भारी संख्या में इकट्ठा थे। आदेश पाते ही कलकत्ते में निहत्थों को मारने लगे। फलस्वरूप रात तक ६ आदमी मारे गए, ३३ घायल हुए और लाठी की चोट से ६६ व्यक्ति आहत हुए।

दिलीप घोष भी न बच सके। बहन की शादी है—जाना जरूरी था। बाज़ार जाने के लिए घर से निकले ही थे कि एक श्वेतांग सार्जेन्ट की गोली आकर लगी।

वृद्ध पिता लड़के का मृत शरीर हृदय से लगा कर तड़प उठे। पर ज्यादा देर के लिए नहीं। मिलिट्री ट्रक पर लदी सेना ने गोलियों से उस वृद्ध को छलनी कर दिया। उसी के साथ एक और।

टेलीफोन मरम्मत करने वाला लाइनमैन भी अचानक मिलिट्री वालों के अचूक निशाने का शिकार हुआ।

ऐसी हालत में खामोश बैठना किसी तरह भी सम्भव नहीं था। सरकारी सम्पत्ति नष्ट करने पर तुल गए वे भी। लेटरबॉक्स, फॉयर एलार्म, इलेक्ट्रिक फ्यूज बॉक्स, पोस्ट ऑफिस, ट्रामें तोड़ने लगे। यहाँ तक कि मिलिट्री गाड़ियों में घूमते आर्म्ड पुलिसों को भी नहीं छोड़ रहे थे। मौका पाते ही गश्ती गाड़ियों में आग लगा देते थे।

'कावर्ड डाई मेनी टाइम्स बिफोर देयर डेथ, वाइ-अ-लन्ट नेवर टेस्ट्स ऑफ डेथ बट वॅन्स।'

उस दिन पुलिस की गोली से कितनों की मृत्यु हुई थी यह खबर अखबारों में कैसे निकलती? उन्हें सख्त हिदायत थी कि आन्दोलन का समाचार छापा तो अखबार जब्त कर लिया जायगा।

प्रतिवादस्वरूप १८ अगस्त से सारे अखबार कुछ समय के लिए बन्द कर दिए गए।

अन्त में अस्पष्ट सा इशारा मुख्य मंत्री फजलुल हक़ के एक विवरण से मिला कि कलकत्ते में निहत हुए हैं २०, आहत हुए हैं १५२ और गिरफ्तार हुए हैं ३,५०० लोग।

शहर वासियों की धारणा इसके विपरीत थी। उनका कहना था मृतकों की संख्या और भी बहुत ज्यादा है।

अचानक भारतीय जनता चौंक पड़ी। जयप्रकाश नारायण को गिरफ्तार करके हजारीबाग के सेन्ट्रल जेल में रखा गया था। परन्तु वहाँ से वे गायब थे। ९ नवम्बर को गायब। अकेले नहीं—अपने साथ छह लोगों को और निकाल ले गए थे।

ढुंढाई मच गई। परन्तु उनके प्रयास असफल कर तब तक वे लम्बा रास्ता चल कर तय करते हुए बनारस पहुँच गए थे।

परन्तु बैठे नहीं। सारे भारत में चक्कर काटते रहे। क्योंकि शत्रु को कड़ी चोट पहुँचाने के लिए और भारतवासियों को इकट्ठा करना है, और अधिक संघ बनाने होंगे।

इस बीच दो गुप्त बेतार केन्द्र स्थापित किए गए, ताकि संग्राम लिप्त जनसाधारण को संदेश दिए जा सकें। एक बम्बई, एक कलकत्ते में।

बम्बई के बेतार केन्द्र का संचालन राममनोहर लोहिया के जिम्मे कर दिया गया। वहाँ से रोज नियमित समाचार प्रसारित करने लगी, तुम्हारी तरह एक लड़की उषा मेहता।

इधर बंगाल के कोने-कोने में आन्दोलन की आग फैल गई। हावड़ा, हुगली, वर्धमान, बोलपुर, बालुर घाट, नदिया, मुर्शिदाबाद, ढाका, बरिशाल, फरीदपुर, त्रिपुरा, मयमनसिंह, जशोर, खुलना, मेदिनीपुर सब जगह एक ही हाल था। चोट के बदले चोट।

ढाका में मृतकों की संख्या छह, मुन्शीगंज ४, तालतला बाजार में ३। एक कान्स्टेबिल भी क्रुद्ध जनता के हाथों मारा गया था। सरकारी सम्पत्ति के नष्ट होने का कोई हिसाब-किताब ही नहीं था।

अब पुलिस और मिलिट्री के साथ हाथ मिलाया विमानवाहिनी ने। कोई दया-माया नहीं—जहाँ किसी तरह का हो-हल्ला दिखाई दिया कि हवाई जहाज से मशीनगन चार्ज किया जायगा।

हुआ भी यही। रानाघाट रेल लाइन पर काम करते मजदूरों पर बिना सोचे-समझे मशीनगन चलाई गई। कहा गया वे आन्दोलनकारी थे।

दूसरे प्रदेशों का हाल भी सुनो।

मद्रास में १८ अगस्त को ४ लोग मारे गए पुलिस के हाथों। घायल हुए दस लोग।

इसका बदला १७ अगस्त को निकाला गया।—बहुत से सरकारी भवन और रेलवे स्टेशनों में आग लगा दी गई।

बंगलौर में १३ अगस्त को ७ व्यक्ति मारे जा चुके थे। उतने ही घायल हुए थे।

रामनद में भी ६ निहत। ५ गोदावरी जिले में मरे थे। नतीजा यह हुआ कि ट्रेजरी, जेल, सरकारी दफ्तर लूटे और तोड़-फोड़ डाले गए।

नीलगिरि में एक मरा। मैसूर और मदुरा में ३, ३ व्यक्ति। वर्धा में ५।

दिल्ली में इन सात दिनों में मरने वालों की संख्या आ पहुँची ४० पर। इसके बाद भी मिलिट्री वालों ने तीन और मारे।

१४ अगस्त को इलाहाबाद (उत्तर प्रदेश) में पहली बार गोली चली।

अलीगढ़ स्टेशन पर दो को मार डाला। बनारस में भी एक के प्राण लिए, १२ को घायल किया।

इसके बाद ही मुजफ्फरनगर के भीतरी भाग में जबरदस्त लड़ाई छिड़ गई। एक तरफ कैदी और दूसरी तरफ पुलिस। नतीजा यह हुआ कि पुलिस के हाथों ६ कैदी मारे गए। २ पुलिसों ने भी जान गँवाई।

उत्तरी भारत की क्षति का ब्यौरा सुनोगी? सरकारी रिपोर्ट के अनुसार पुलिस वाले मरे थे १६ और घायल हुए थे ३२। पन्द्रह रेलवे स्टेशन जला कर राख कर दिए गए थे। १६ जगहों की रेल की पटरियाँ उखाड़ डाली गई थीं। ४२५ तार और टेलीफोन लाइनें ध्वंस कर दी गई थीं। ११६ पोस्ट ऑफिसों का कहीं नामोनिशान तक न था।

पोस्ट और टेलीग्राम के ३२ कर्मचारी मारे गए थे। इसके अलावा सरकारी भवन और गोदाम कितने नष्ट हो गए थे, उनका कोई हिसाब नहीं था।

बिहार की दशा और भी चिन्ताजनक थी। ११ अगस्त से वहाँ आन्दोलन शुरू हुआ था। वहाँ आन्दोलन का संचालन छात्रगण कर रहे थे। एक झुण्ड हाईकोर्ट की तरफ बढ़ गया था। दूसरा विधान भवन पर हमला बोलने जा रहा था। उनका इरादा था यूनियन-जैक उतार कर अपना तिरंगा झण्डा भवन पर लगा देने का।

हाईकोर्ट का काम निर्विघ्न सम्पन्न होने पर भी विधान सभा का काम आसानी से न निपट सका। आई० सी० एस० आफिसर मिस्टर आचार्य विशाल पुलिसवाहिनी के साथ तैयार थे। किसी तरह का जुलूस यहाँ नहीं घुसेगा। पुलिस की गोली से ७ लोगों ने जान दे दी।—ये सातों थे उमाकान्त प्रसाद, रमानन्द सिंह, सतीश प्रसाद झा, जगपति कुमार, देवी प्रसाद चौधरी, राजेन्द्र सिंह और रामगोविन्द सिंह।

अब तो सम्पूर्ण बिहार बदला लेने पर उतारू हो गया। 'हम मरेंगे परन्तु तुम्हें मारे बगैर नहीं। मरना तुम्हें भी होगा। लाइफ फॉर लाइफ। ब्लड फॉर ब्लड। करेंगे या मरेंगे; डू ऑर डाई।'

मुंगेर पूरी तरह से विच्छिन्न था। भागलपुर का तो कहना ही क्या था। सियाराम सिंह के नेतृत्व में लगभग सभी पुलिस चौकियाँ आन्दोलनकारियों के कब्जे में थीं।

यद्यपि इसकी क़ीमत भी चुका रहे थे। २१८ तरोताजे प्राण दिए थे बदले में। घायलों की संख्या २८० थी।

पीरपंथी में पुलिस ने ३७ लोगों को मार गिराया, घायल किया १२६ को। सुलतानगंज में मरे ६७ और घायल १५० लोग। दरभंगा में ३८ मरे, सौ से ऊपर घायल हुए। कटिहार में ५, विदपुर में ८, शाहबाद में ८, लहरियासराय में ६ तथा चम्पारन में २ मारे गए।

फिर इसका बदला लिया गया। पहले ही रांची का जेलखाना घेर लिया। १६

अगस्त को मीनापुर थाना घेर लिया। दो सब-इन्स्पेक्टर की हत्या करके थाने में आग लगा दी।

सीतामढ़ी में जिला-हाकिम की मोटर घेर ली जनता ने और हाकिम साहब, पुलिस इन्स्पेक्टर, हेड कान्स्टेबिल, अर्दली को काट कर टुकड़े-टुकड़े कर दिए उन्होंने।

जिला पुर्निया के रूशोली थाने के सब-इन्स्पेक्टर और दो पुलिस कान्स्टेबिलों के शरीर पर मिट्टी का तेल छिड़क दिया गया फिर आग लगा दी।

उसके बाद बिहार के कटरा नामक स्थान के थाने पर आ धमके। राइफल लेकर सब-इन्स्पेक्टर और ८ पुलिस तैयार थे। वे सावधान कर रहे थे कि 'आगे बढ़ोगे तो गोली मार देंगे।'

'ऐसी बात है ?' कहते हुए क्रुद्ध जनता कूद पड़ी उन पर।

एक पुलिस तो घटनास्थल पर ही मारा गया। बाकी बेहोश होकर वहीं लुढ़क गए। मार खा कर उनकी हालत खराब थी। चलते-चलते थाने में आग लगाते गए।

१८ अगस्त को मशीन में कुछ गड़बड़ी हो जाने के कारण नारायणपुर में एक लड़ाका विमान उतरने को बाध्य हुआ। बस, फिर क्या था ? सारे हवाई कर्मचारियों को मार डाला गया। यह तो सीधी सी बात है—हत्या के बदले हत्या होगी ही।

मरहुआरात में भी ५ ब्रिटिश कर्मचारियों को मोटर से उतार कर बर्छे से मार डाला लोगों ने। एक दिन ट्रेन से खींच कर उतार लिया दो विमान विभाग के कैनेडियन अफसरों को और मार डाला।

इन्हें एक इक्के पर लाद कर सारे शहर में घुमाया गया। 'देख लो, हम भारत-वासी भी जवाब देना जानते हैं। डू ऑर डाई। करेंगे या मरेंगे।'

बाहर ही नहीं, जेल के अन्दर भी यही हंगामा था। वही 'अंग्रेज, भारत छोड़ो। कुइट इण्डिया' के नारे गूंजते रहते।

एक दिन जबरदस्त लड़ाई छिड़ गई भागलपुर जेल के भीतर। एक तरफ निहत्थे कैदी, दूसरी तरफ शासक सम्प्रदाय।

परन्तु किसकी हिम्मत थी उस दिन इन कैदियों को छूने की ? उस दिन प्राणों से हाथ धोने वालों में थे डिप्टी जेलर कार्डिङ्ग मास्टर और अन्य २८ लोग।

मुकदमा चला। कैदियों में से ३ को फांसी की सजा मिली, ६ को आजीवन कारावास। एक और मुकदमा चला जिसमें दस को फांसी और पांच को आजीवन कैद हुई।

छपरा जिले में ५ मिलिट्रीवालों और १ यूरोपियन को जनता ने मार डाला।

भागलपुर जेल में फांसी हुई विप्लवी तरुण महेन्द्र चौधरी को। आज उन्हें कोई नहीं पहचानता है पर तब तक उनका नाम अखबारों में मोटे-मोटे अक्षरों में छपा करता था।

इतिहास की रचना हुई 'सारंगबाबा' और उनकी पत्नी 'संथालमाता' से।

कौन थे ये दोनों? सारंग बाबा थे लम्बोदर मुखर्जी और माता थीं उनकी पत्नी उषारानी मुखर्जी।

सुभाष इन्हें पहचानते थे पहले से ही। जब यहाँ थे तभी उन्होंने उषारानी को संथाल इलाके के फारवर्ड ब्लाक का सभापति बना दिया था। इन दोनों पति-पत्नी ने सुभाष की इज्जत रख ली थी। संथालियों को संघबद्ध कर २५ हजार संथालियों की मदद से, लाठी पहाड़ पर ब्रिटिश मिलिट्री कैम्प के विरुद्ध अद्भुत गोरिल्ला युद्ध का संचालन किया था इन्होंने।

इसी सिलसिले में साधु बाबा कादू मुर्मु, गेहुआँ वस्त्रधारी साधु बाबा नीमचाँद, चरन मुर्मु, पाइका मुर्मु, भादो हेमरम, लाल हेमरम, वरियार हेमरम, पागल मुर्मु, सुफु मुर्मु, तलासी माझी, रसना देहारी, जमिदार बाबू भगवानचन्द्र दास, सर्वानन्द मिश्र, ब्रह्मानन्द ब्रह्मचारी, आनन्दमयी चटर्जी, डाक्टर अनिमा भट्टाचार्य, रामजीवन, हिम्मत सिंका वगैरह की भूमिकाएँ बड़ी महत्त्वपूर्ण थीं।

उस गोरिल्ला युद्ध में ८० लोग मारे गए। घायल तो अनगिनत थे।

सारा देश क्रोध से, प्रतिहिंसा से, आक्रोश से जला जा रहा था। लाखों, करोड़ों लोगों के कण्ठ से दिन-रात यही नारा सुनाई दे रहा था—'कुइट इण्डिया। भारत छोड़ो, अंग्रेजों।'

बस, कम्युनिस्ट पार्टी ही बैठे-बैठे कह रही थी, 'यह युद्ध, राष्ट्र का युद्ध है, इसलिए हमें अंग्रेजों की मदद करनी है। जो लोग 'कुइट इण्डिया' कह रहे हैं वे देशद्रोही हैं।'

कम्युनिस्ट पार्टी ने देशद्रोहियों की एक लिस्ट बनाई थी—'The groups which make up the Fifth Column are the forward Bloc, the party of the traitor Bose, the C. S. P. & the Trotskyte group....The Communist Party declare that all these three must be treated by every honest Indian as the worst enemy of the nation and driven out of polittcal life and exterminated.' [Communist Party : Facts and Fiction]

तुमने देखा मल्लिका, इन विश्वासघातकों की सूची से कांग्रेस का नाम गायब था। जनसाधारण से कहा गया था कि फारवर्ड ब्लॉक, सी० एस० पी०, ट्राटस्कीपंथी को राजनैतिक जीवन से अलग कर देना चाहिए। परन्तु कांग्रेस?

कम्युनिस्टों का कहना था कि बम्बई अधिवेशन में 'कुइट इण्डिया' प्रस्ताव पास नहीं हुआ था—बस, योजना भर बनी थी। इसीलिए इस सूची से गांधीजी और कांग्रेस का नाम निकाल दिया गया था।

मल्लिका, तुम तो जानती हो, मैंने राजनीति-शास्त्र पढ़ा नहीं है। मुझे किसी भी पार्टी से क्या लेना-देना?

बल्कि मैं तो कम्युनिस्ट पार्टी को संग्राम-प्रिय पार्टी ही समझता था। इसके लिए इन लोगों ने कम यातनाएँ नहीं सही थीं। सच पूछो तो मेरी समझ में आज तक यह बात नहीं आई कि ऐसी एक संघर्षप्रिय पार्टी ने 'भारत छोड़ो' आन्दोलन का विरोध क्यों किया ?

हालाँकि मुस्लिम लीग, हिन्दू महासभा इत्यादि ने भी कानूनी तौर से इस आन्दोलन का समर्थन नहीं किया था परन्तु इन्होंने विरोध भी नहीं किया था।

परन्तु कम्युनिस्ट पार्टी ने सारी शक्ति लगा कर विरोध किया था। इसका प्रमाण उनकी पत्र-पत्रिकाओं से मिलता है। उनमें बस अगस्त आन्दोलन और सुभाष के खिलाफ बातें लिखी हुई हैं। सुभाष के विरुद्ध नित्य नई गन्दी बातें फैला रहे थे वे। यह तो कहना कठिन है कि उनका सिद्धान्त सही था या गलत, परन्तु इसके लिए आगे चल कर उन्हें बड़ी क़ीमत चुकानी पड़ी थी। आज भी तो चुकाते चले आ रहे हैं।

१६३६ में सुभाष का विरोध कांग्रेस के साथ-साथ सोशलिस्ट पार्टी ने भी किया था, परन्तु आन्दोलन में वही सोशलिस्ट पार्टी बढ़-चढ़ कर भाग ले रही थी आज। और जिस कम्युनिस्ट पार्टी ने त्रिपुरा अधिवेशन में सुभाष को दोबारा सभापति बनाने पर ज़ोर दिया था वही कम्युनिस्ट पार्टी आज सुभाष की ही शत्रु बनी हुई है।

अगर उस समय कम्युनिस्ट पार्टी ने भी खुल कर आन्दोलन में हिस्सा लिया होता, तो ? तो भारत का नक्शा बदल गया होता।

पर एक ही पार्टी को दोषी क्यों ठहराया जाए ? कांग्रेस कह रही थी सुभाष बहक गए हैं। फासिस्ट हैं। 'I cannot accept but must oppose.'

दूसरी तरफ कम्युनिस्ट कह रहे थे वे देशद्रोही हैं। हिटलर और तोजो के हाथ की पुतली हैं। कुइसलिंग हैं।

बस, कुछ नहीं कह रहे थे तो अगस्त आन्दोलन के प्रधान नेता जयप्रकाश नारायण।

वे भाग कर छिपे हुए थे। उसी हालत में उन्होंने राष्ट्र के नाम एक सन्देश भेजा—

'नहीं, सुभाष कुइसलिंग नहीं हैं। उन्हें हम जानते हैं। जिससे देश की मर्यादा भंग होगी वैसा काम वे कभी नहीं करेंगे।'

'It is easy to denounce Subhash as a Quisling. Those who are themselves quislings of Britain find it easiest to denounce him. But nationalist India know him as a fervent patrlot and as one who has always been in the forefront of his countrys fight for freedom. It is inconceivable that he should ever be ready to sell his country.

...it is clear that he has permitted himself to accept aid from the enemies of his country's enemies in accordance with an age-old poli-

tical maxim....older than Machiavelli and older than Kautilya.

In thus accepting help from a third party he may be deceived in the end, but there can be no question as to the honesty of his purpose and the scale of his resourcefulness.' [Rebel India, P-232-233]

यह हाल था उस दिन देश का ? कांग्रेस और कम्युनिस्ट पार्टी दोनों विरोध कर रहे थे सुभाष का। कांग्रेस ने विरोध किया था १६३६ से, कम्युनिस्टों ने १६४२ से।

उस समय देखो क्या कहा जाता था—

कम्युनिस्ट कहते थे—'सुभाष वापस आएँगे तो हम उनका बुलेट से स्वागत करेंगे।'

और कांग्रेस ? वह भी तो नंगी तलवार भाँज रही थी। तलवार के बल पर रोकना चाहती थी सुभाष को।

इसका मूल्य देना पड़ा था कम्युनिस्ट पार्टी को। निर्वाचन के समय में हर पार्टी ने कहा था—आप लोग कम्युनिस्ट पार्टी को ठीक से पहचान लीजिए। याद रखिएगा यह वही पार्टी है जो सुभाष की अभ्यर्थना बुलेट द्वारा करने को कहती है।

और कांग्रेस ?

उसके खिलाफ कहाँ कोई शिकायत थी ?

आज कम्युनिस्ट पार्टी की आँखें खुल गई हैं। उनके नेता ज्योति बसु ने ही स्वीकार किया है। अखबार में निकले एक विवरण का कुछ अंश लिख रहा हूँ—

नेताजी और कम्युनिस्ट पार्टी

'नेताजी के बारे में हम लोगों ने, कम्युनिस्टों ने अतीतकाल में जो कुछ कहा था वह गलत है। हम आज अपनी वह गलती स्वीकार करते हैं। किसी के पैरों तले रहने के लिए नेताजी ने किसी से सहायता नहीं ली थी।'

बुधवार कलकत्ते में, नेताजी-प्रदर्शनी में, स्वाधीनता के आन्दोलनकारी शहीदों द्वारा प्रयोग में लाये गए विभिन्न अस्त्रों की प्रदर्शनी के एक पवेलियन का उद्घाटन करते हुए उप-मुख्यमंत्री श्री ज्योति बसु ने यह बात कही।

नेताजी के प्रति अपनी श्रद्धा अर्पित करते हुए श्री बसु ने कहा,—'नेताजी ने जापान से मदद ली थी, यह बात सच है। जापान का उद्देश्य हो सकता है खराब रहा हो, परन्तु भारत की स्वाधीनता अर्जित करने के अलावा नेताजी का दूसरा कोई उद्देश्य नहीं था। खासतौर से उन जैसा संघर्ष-प्रिय नेता कभी भी अन्यथा नहीं सोच सकता था।'

श्री बसु ने और भी कहा—'देश की स्वाधीनता प्राप्त करने के लिए गांधी जी ने जितना त्याग किया था, उतना ही विशाल त्याग नेताजी की आजाद हिन्द फौज ने किया था। नेता जी की प्रेरणा के फलस्वरूप बाद में नौ-सेना, पुलिस, और जन-साधारण के विभिन्न अंश अंग्रेज शासन के खिलाफ विद्रोह कर उठे। नेताजी के अस्त्रों

का आघात खा कर ही बाध्य हो कर अंग्रेजों को यहाँ से जाना पड़ा है ।' [आनन्दबाजार पत्रिका : २६.१.७०]

यह बात २६ जनवरी की है । दूसरे दिन संवाददाताओं के प्रश्नों का उत्तर देते हुए श्री बसु ने कहा था—'हमारी पार्टी, जापान की, 'साम्राज्यवादी' कह कर निन्दा करती है । नेता जी को गलती से कम्यूनिस्टों ने कभी 'कुइसलिंग' कहा था । नेता जी जैसे महान् देशप्रेमी को कभी भी 'कुइसलिंग' नहीं कहा जा सकता ।'

नि:सन्देह श्रीयुक्त बसु की यह स्वीकारोक्ति प्रशंसनीय है । राजनीति में मतभेद तो रहता ही है । तब भी था, आज भी है, बाद में भी रहेगा । लेकिन गलत बात कह कर गलती स्वीकार कर लेने का साहस कितनों में होता है ?

लेकिन कांग्रेस ?

कम्युनिस्ट पार्टी ने गलती की । अट्ठाइस साल के लम्बे अरसे तक इसकी कीमत चुकाई । गलती स्वीकार भी कर ली ।

परन्तु ऐसा कभी कांग्रेस ने किया ? इकतीस साल के अन्दर कभी एक बार कहा तक नहीं कि 'नेता जी के मामले में हमने गलती की थी ।'

मल्लिका—हम लोग साधारण आदमी हैं । राजनीति के दाँव-पेंच हमने कभी समझा ही नहीं । परन्तु हाँ, साधारण बुद्धि के बल पर इतना जरूर समझता हूँ कि जब लोगों ने रोज-रोज भाषण देने को ही स्वाधीनता अर्जित करने का साधन समझ लिया था, तब सारे भारत के एक ही आदमी ने बिना किसी की परवाह किए भयंकर युद्ध में कूद कर अपने को सच्चा क्षत्रिय साबित कर दिया था ।

सामने भविष्य अन्धकारमय होने पर भी, सब कुछ की उपेक्षा करके, दृढ़ कदमों से वे अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए बढ़े थे । किसी तरह की बाधा उन्हें रोक नहीं सकी । उनके सामने तो एक ही लक्ष्य था कि युद्ध का सहारा लेकर मातृभूमि की जंजीरें काटना ।

वही बहु-आकांक्षित स्वाधीनता हमने १५ अगस्त १९४७ में प्राप्त की । यद्यपि पूरी नहीं, आधी—फिर भी स्वाधीनता तो है ।

उस दिन सारा देश खुशी में डूब गया । छोटा-बड़ा, अमीर-गरीब—सभी खुशी से भरपूर । सभी के चेहरे पर नये जीवन की चमक थी । नए जीवन का स्वप्न था—स्वाधीन हैं, मुक्त हैं । दासता के अभिशाप से हम मुक्त हो गए हैं ।

उस उत्सव में कहीं नजर नहीं आए—वही एक आदमी—जो स्वप्न देखा करते थे—'अखंड भारत' का ।

उस दिन दिल्ली का आकाशवाणी-केन्द्र व्यस्तता की आखिरी मंजिल पर था । जिनके नेतृत्व के फलस्वरूप यह आजादी आई थी, उनका कितना गुणगान हो रहा था । ऋण स्वीकार किया जा रहा था । श्रद्धा प्रकट करते थक नहीं रहा था आकाशवाणी का केन्द्र ।

एक बार क्या उस केन्द्र ने सुभाष का नाम लिया था ?

जिस सुभाष और उनके आई० एन० ए० के गौरव को अपना मूलधन मान कर जिस कांग्रेस ने निर्वाचन जीता था, स्वाधीनता प्राप्त करते ही वही उन्हें भूल गया ? उनका नाम किसी जगह पर लिया गया ?

नहीं—नहीं लिया गया। भूल जाने की वजह से नहीं, जान-बूझ कर ऐसा किया गया था। क्योंकि उन्हें आत्म-प्रचार करना था। कहना था कि स्वाधीनता पाने के लिए हमने ही मूल्य चुकाया है। हम अहिंसावादियों ने। साफ बात तो यह है कि स्वाधीनता संग्राम में किसी की देन का कोई मूल्य नहीं है।

उस समय कांग्रेस बिल्कुल ही अहिंसा नीति पर चल रही थी, यह बात न थी। क्योंकि उस समय समस्त वामपंथी दल कांग्रेस से जुड़े थे। यहाँ तक कि सारी विप्लवी संस्थाएँ भी इससे अलग न थीं। उन्होंने भी स्वाधीनता प्राप्त करने में कम मूल्य नहीं चुकाया था।

परन्तु इससे क्या होता है ? उस समय जरूरत थी, तुम लोग लड़े। अब काम बन गया है, अपना-अपना रास्ता नापो।

यह बात मैं नहीं कह रहा हूँ। कहा है इतिहासकार डा० रमेश मजुमदार ने।

१९६६ साल की २३ जनवरी को, सुभाष के जन्मोत्सव पर उन्होंने यह चर्चा की थी—'What I have not been able to forget to this day, was that the name of Subhas Chandra Bose was not mentioned even once. This, I think, was not accidental. It was sought to be conveyed that independence had been won through 'non-violence' and that Netaji and the I. N. A. had not contributed anything at all to it.'

कितने दुःख के साथ एक इतिहासकार ने यह बात कही होगी—ज़रा सोचो।

आज सुभाष बुरे-भले, निन्दा-प्रशंसा से परे हैं। किसने स्वीकृति दी या नहीं दी, इससे उनका कुछ बनना-बिगड़ना नहीं। उस पर भी यह चित्त की दरिद्रता.... कितनी लज्जास्पद है !

खैर इस अप्रिय प्रसंग को यहीं समाप्त करता हूँ मल्लिका। चलो, फिर अगस्त आन्दोलन के मैदान में चलें।

उल्लेखनीय 'भारत छोड़ो' प्रस्ताव कांग्रेस का भले ही हो, आन्दोलन के संचालन की शोहरत उन्हें नहीं मिल सकती है। यह दायित्व उस दिन सोशलिस्ट पार्टी का था, फारवर्ड ब्लाक का था।

इतिहास के पोथे भरते आ रहे हैं। एक-एक घटना घटती है और इतिहास रच लिया जाता है।

२० अगस्त को सरकारी खजाना और अस्त्रागार लूटने के बाद उत्तर प्रदेश के बलिया ज़िले में स्वाधीन राष्ट्रीय सरकार की स्थापना हुई चितू पाण्डे के नेतृत्व में।

हजारों लड़के, युवक जयजयकार कर उठे—'स्वाधीन भारत की जय ! भारत माता की जय। अंग्रेज भारत छोड़ो।'

बिहार में उत्तरी भागलपुर में भी स्वाधीन सरकार बनी। ये भी अंग्रेजों को निकालने के लिए प्रतिज्ञाबद्ध हुए।

उड़ीसा के कोरापुट जिले में ६ लोग पुलिस की गोली से मरे। सौ से भी अधिक घायल हुए।

पलट कर हमला किया। परन्तु मृतकों और घायलों की संख्या बढ़ ही गई। २५ लोग और मरे गोली खाकर। दो ने लाठी से प्राण गँवाये। ५० आदमी कोरापुट के भीतर मरे। एक को प्राणदंड भी दे दिया गया, ३२ लोगों को आजीवन कारावास।

भद्रक रेल स्टेशन पर ८ लोग मारे गए। क्रुद्ध जनता ने इस पर पुरी पैसेन्जर पूरी की पूरी जला कर राख कर दी। भद्रक तथा और चार स्टेशनों की भी यही दशा हुई।

महाराष्ट्र के सतारा जिले में स्वतन्त्र 'पत्री सरकार' बनी। नाना पाटिल की इस पत्री सरकार ने लम्बे अर्से तक अंग्रेजों से लड़ाई जारी रखी थी।

नाना पाटिल के अलावा भी इस मामले में पांडु मास्टर, किसानवीर, अप्पा मास्टर, श्रीनाथ लाल, डाक्टर उत्तम राव जैसे लोगों की देन भी कम उल्लेखनीय नहीं।

पत्री सरकार में पद विभाजन इस प्रकार था—

प्रमुख अधिनायक थे—नाना पाटिल। डिक्टेटर थे—पांडु मास्टर। ग्रामराज प्रतिष्ठा के कर्णधार थे—श्रीनाथ लाल। संगठनकर्ता—डाक्टर उत्तम राव। तूफान सेना के सेनापति—अप्पा मास्टर।

अचानक पांडु मास्टर पकड़ लिए गए। उन्हें यरवदा जेल में रखा गया। मुकदमा चलेगा।

लेकिन कहाँ पांडु मास्टर ? बड़ी सफाई से वे जेल से निकल भागे थे और अपने इलाके में पहुँच गये थे।

यहाँ की तूफान सेना शीघ्र ही प्रसिद्ध हो गई और जल्द ही उसने अपने प्रान्त से काला बाजार का धंधा, बाल्य विवाह, दहेज प्रथा, शराब और चोरी-डकैती के पाँव उखाड़ दिये।

परिस्थिति गम्भीर हो उठी मध्य प्रदेश के बर्मा और चिमूर में। वहाँ १६ अगस्त को आन्दोलन शुरू हुआ था। वहाँ की हजारों जनता चिल्ला उठी—'अंग्रेज भारत छोड़ो। क्विट इन्डिया।'

इन लोगों ने पुलिस थाने पर हमला किया। और सब-इन्स्पेक्टर तथा चार पुलिस, उत्तेजित जनता के हाथों मारे गए। सब-इन्स्पेक्टर को तो ईंटों से मार-मार कर मार डाला गया। और पुलिसों पर मिट्टी का तेल छिड़क दिया गया।

वहाँ से डाक बंगले गए। वहाँ एस० डी० ओ० थे। उन्हें तथा एक नायब तहसीलदार को मार डाला गया।

चिमूर थाना। वहाँ भी एक पुलिस इन्स्पेक्टर और दो कान्स्टेबिल मारे गए। एक तरफ राइफल और मशीनगनधारी हवाई सेना के साथ पुलिस और मिलिट्री, दूसरी ओर विप्लवी जनता।

फिर भी कुछ न कर सके तो अंग्रेज सरकार ने बमवर्षक विमान बुलाए। जहाँ जनता दिखाई देती, वहाँ बम गिराया जाता। इस तरह से पाँच जगह जनता पर बम फेंका गया हवाई जहाज से। साहबगंज, मुंगेर, रानाघाट, तालेचेर और पटना के पास एक रेल लाइन पर बम गिराया गया।

'डू ऑर डाई। अंग्रेज भारत छोड़ो।'

यह नारा समुद्र की लहरों से टकराया और सुभाष ने सुना।

सुभाष सुनते ही चौकन्ने हुए। यही तो चाहते थे वे। भिक्षा माँगने से कभी आजादी मिली है? यही तो बेजोड़ मौका है और इसके लिए चाहिए और भी बेतार-केन्द्र जिससे कि आन्दोलनकारी भाइयों को निर्देश दिए जा सकें। उन्हें कठोर संग्राम के लिए तैयार किया जा सके। और भी बेतार-केन्द्र चाहिये।

अभी तक सुभाष के सभी भाषण आजाद हिन्द रेडियो द्वारा प्रसारित होते थे। अब नये केन्द्र का उद्‌घाटन हुआ इन्डियन नेशनल कांग्रेस रेडियो के नाम से। इसका काम था अत्यन्त चातुर्य के साथ भारत के समाचार प्रसारित करना, जिससे कि कोई यह न समझ सके कि यह खबर बाहर से आ रही है। सुनने से ऐसा लगे कि इसी देश के किसी गुप्त बेतार-केन्द्र से जनता को निर्देश दिये जा रहे हैं।

इसका सांकेतिक नाम रखा गया—'कंकोर्डिया सी।'

इस केन्द्र को संचालित करने का जिम्मा डाक्टर गिरिजा मुखर्जी को सौंपा गया। उनके साथ दो लोग और थे—विक्रम जौहरी और सुरेश चन्द्र।

इस केन्द्र के माध्यम से खबरें प्रसारित होतीं हूईजेन से, शार्ट वेव १६.७१ मीटर पर। यह खबर पडि ग्रेड से २०.३४ मीटर पर भी सुनी जा सकती थी।

दूसरा केन्द्र खोला गया 'आजाद मुस्लिम रेडियो' के नाम से। ऐसा जिन्ना की वजह से करना पड़ा।

जिन्ना थे बड़े भारी कूटनीतिज्ञ। वे जानते थे कि सहज सरल धार्मिक मुसलमानों के मन को उत्तेजित करने के लिए और हिन्दुओं के विरुद्ध भड़काने के लिए इससे अच्छा दूसरा रास्ता नहीं।

यहाँ भी यही हुआ। अगस्त आन्दोलन शुरू हुआ था ९ अगस्त को। १६ से २० अगस्त तक बम्बई में मुस्लिम लीग की वर्किङ्ग कमेटी की बैठक में जिन्ना ने एक नई बात कही—'यह आन्दोलन अंग्रेजों के विरुद्ध ही नहीं मुसलमानों के विरुद्ध भी है। इसका उद्देश्य है कि मुसलमान कांग्रेस की बातें मान लें। उनके आगे झुक जाएँ।'

१५ नवम्बर को जिन्ना साहब ने फिर नई बात बताई। इस बार वे जलन्धर में थे।

'कोई भी अक्लमन्द आदमी समझ सकता है कि हिन्दू नेता गांधी के इस आन्दोलन से दो इरादे हैं। पहले, युद्ध में फँसे अंग्रेजों को डरा-धमका कर कांग्रेस की अपनी बात मनवा लेना और दूसरा, उसी दावे के बल पर मुस्लिम लीग को खत्म कर देना।'

सुभाष इन बातों से अवगत थे, इसलिए उन्होंने मुस्लिमों के दिलों से भ्रम दूर करने के लिए 'आजाद मुस्लिम रेडियो' स्थापित किया।

उनका कहना था, 'देश की मुक्ति के लिए तुम सब एक हो कर जुट जाओ। स्वाधीनता न हिन्दू की है न मुसलमान की, यह तो पूरे भारतीयों की है।'

आजाद मुस्लिम रेडियो का सांकेतिक नाम रखा गया—'कंकोर्डिया एम'। इसके संचालक नियुक्त हुए हैदराबाद के तरुण युवक सुल्तान। बड़े चौकन्ने और उर्दू भाषा पर उनकी अद्भुत पकड़ थी। ह्वीजेन से इस रेडियो पर खबर भेजी जाती १६७१ वेंव लेंग्थ पर। इसका समय था तीन से चार का।

आजाद हिन्द रेडियो से कितनी भाषाओं में समाचार प्रसारित होता था, जानती हो मल्लिका? छह भाषाओं में—अंग्रेजी, बंगला, हिन्दी, फारसी, तामिल और तेलगू में।

इंडियन नेशनल कांग्रेस रेडियो से चार भाषाओं में—हिन्दी, बंगला, अंग्रेजी और तामिल। और आजाद मुस्लिम रेडियो से भारतीय मुसलमानों की विभिन्न समस्याओं पर आलोचनायें होती थीं केवल उर्दू भाषा में। यह काम सुल्तान ही करते थे।

१६४२ साल। अगस्त का महीना।

हर आदमी काम में व्यस्त। चारों तरफ काम ही काम। भारत में युद्ध शुरू हो गया है। ऑल इंडिया रेडियो का हर समाचार कैच करना है। फिर उसी समाचार को सारे संसार में प्रसारित करना है, और साथ ही साथ उन्हें ये सभी बताना होगा कि भारतवासियों ने क्या तय किया है?

'अंग्रेज भारत छोड़ो। कुइट इंडिया। डू आर डाई।'

चारो ओर यह वार्ता फैल चुकी थी।

अब हम पीठ बिछा कर मार खाने के लिए तैयार नहीं हैं। अब हम चोट के बदले चोट करेंगे, मार के बदले मार।'

३१ अगस्त को आन्दोलन के सम्बन्ध में बर्लिन से निर्देश आया—

'मैं सुभाष बोल रहा हूँ....

दोस्तों, भारत का मुक्ति संग्राम बे-रोक-टोक बढ़ता जा रहा है। शहर से गाँव तक—यह आग फैल चुकी है।

पहले ब्रिटिश साम्राज्यवादियों के निर्दयी अत्याचारों की बात दुनिया को बताना मुश्किल था। अब वह समस्या नहीं रही। भारत में क्या हो रहा है, एक-एक बात बता कर दुनिया भर के देशों से सहानुभूति और सहायता लेने की मैंने प्रतिज्ञा की है।

आप अगर देखते और सुनते तो आप को पता चलता कि ब्रिटिश साम्राज्यवाद के शत्रुओं से हमने कितनी सहासुभूति प्राप्त कर ली है।

स्वाधीनता प्राप्त करने के लिए हम जितने बलिदान देंगे, अत्याचार और उत्पीड़न सहेंगे, संसार के सामने उतनी ही हमारी मर्यादा बढ़ेगी।

इंग्लैंड में आज सचमुच दुर्दिन आया है। वहां जितने भी अमेरिकन हैं उन पर ब्रिटिश कानून लागू नहीं होता है।

अमेरिकन सैनिक भी आज ब्रिटिश सेनापतियों के अधीन युद्ध करने को तैयार नहीं हैं।

युद्ध के अन्तिम भाग में हमारी वेदना और दुःख का अन्त नहीं रहेगा। तब बे-रोक-टोक अत्याचार, हत्याएँ, यातनायें दी जाएंगी—यह कीमत हमसे वसूल कर ली जायेगी। यह तो बड़ी स्वाभाविक बात है कि ब्रिटिश आखिरी बार कस कर काटेगा ही। परन्तु यह मृतःप्राय सिंह के दांत होंगे, इसीलिये हम मरेंगे नहीं।

नेतागण जेल में हैं, परन्तु इसके लिए हताश होने या डरने की जरूरत नहीं है। स्वाधीनता संग्राम को जारी रखना ही वर्त्तमान युद्ध की नीति है। हमारी कोशिश से ही हमारी जीत होगी।

भारत तथा ब्रिटिश सरकार के गुप्तचरों की तत्परता के बावजूद मैंने अपने भारतवासियों के साथ सम्पर्क बनाए रखा है। इसका प्रमाण पिछले कुछ महीने से आप पा रहे हैं।

'आज़ाद हिन्द रेडियो' और मेरे बारे में भारत सरकार की कुछ गुप्त रिपोर्टों को मैंने देखा है। देख कर हँसे बगैर रहा नहीं गया।

ब्रिटिश सरकार अगर सोचती है कि वह मेरे बारे में सब कुछ जानती है तो मैं लाचार हूँ। परन्तु हाँ, एक दिन उनका हमारा आखिरी सामना होने ही वाला है।

भारत में इस समय जो आन्दोलन चल रहा है उसे मोटे तौर पर अहिंसात्मक गोरिल्ला-युद्ध कहा जा सकता है। इस युद्ध का कार्यकलाप ऐसा होना चाहिए और देश भर में इतना फैला होना चाहिए कि पुलिस या मिलिट्री एक जगह भी अपना हमला रोक न सके। सरकार यह न समझ सके कि अगला हमला किधर से होगा।

गोरिल्ला-युद्ध की राजनीति और क़ायदे कानून के बारे में यहां के विशेषज्ञों से मैंने सलाह की है। इसलिए मैं आपको ऐसी राय दे सकता हूँ। इसका अनुसरण करने पर आप संग्राम में अवश्य ही सफलता पा सकते हैं।

गोरिल्ला-युद्ध के दो उद्देश्य होने चाहिए। पहला—'युद्ध की चेष्टा को नष्ट करना' और दूसरा—'अंग्रेजों का शासन असफल करना।' इसके अलावा—

(१) गवर्नमेंट को हर तरह का टैक्स देना बन्द करना।

(२) कारखानों में मजदूरों की हड़ताल और नहीं तो काम में बेहद ढिलाई। इसके अलावा मशीनों के नट, बोल्ट, खोल कर या ढीले कर के ऐसा ध्वंसात्मक काम करना कि उत्पादन की भयंकर क्षति हो।

(३) देश के विभिन्न भागों में ध्वंसात्मक कार्य चलाने के लिए छात्रों की गुप्त गोरिलाल-सेना तैयार करना।

(४) गुप्त समाचार ले जाने और संग्राम से भाग कर छिपने वालों को आश्रय देने का काम महिलाओं का होगा। इस काम के लिए खासतौर से छात्राओं को आगे आना है।

(५) जो सरकारी कर्मचारी इस संग्राम में भाग लेना चाहते हैं उन्हें पदत्याग करना नहीं पड़ेगा, परन्तु उन्हें भीतर ही भीतर युद्ध सम्बन्धी गुप्त खबरें बाहर भेजनी होंगी।

इसके अलावा मैं जन-साधारण को निम्नलिखित कामों के लिए परामर्श दूंगा—

(१) ब्रिटिश द्रव्यों का इस्तेमाल न करना। साथ ही ब्रिटिश और सरकारी दूकानों को जलाना, नष्ट करना।

(२) ब्रिटिश और उनके समर्थकों का बॉयकॉट करना।

(३) सरकारी आदेशों का उल्लंघन करके आम सभाएँ बुलाना और जुलूस निकालना।

(४) गुप्त इश्तेहार बाँटना और गुप्त बेतार-केन्द्र स्थापित करना।

(५) अंग्रेजों के घर जा-जा कर उन्हें भारत छोड़ने के लिए कहना।

(६) जुलूस निकाल कर सरकारी आफिस, दफ्तर और अदालतों में घुस कर शासन-व्यवस्था को अस्त-व्यस्त करना।

(७) जो जेल अधिकारी आन्दोलनकारी कैदियों तथा जन-साधारण पर अत्याचार करते हैं उन्हें सजा देने की व्यवस्था करना।

(८) जिन रास्तों पर पुलिस या मिलिट्रीवालों के हमले की सम्भावना है उन रास्तों पर वेरीकेड लगाना।

(९) जिन फैक्टरियों में लड़ाई के अस्त्रादि बनाए जाते हैं उन्हें जला देना।

(१०) डाक, तार तथा टेलीफोन व्यवस्था को तहस-नहस कर देना।

(११) युद्ध सामग्री को एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाने की सम्भावना देख कर रेलपथ, बस और ट्राम व्यवस्था में बाधा पहुँचाना। रुकावट डालना।

(१२) थाना, रेल स्टेशन और जेलों को नष्ट करना।

दोस्तों, मैं निश्चित रूप से कह सकता हूं कि इस कार्य-सूची के अनुसार कार्य करेंगे तो शासन-व्यवस्था अचल हो जाएगी।

इसी सिलसिले में मैं आप लोगों को याद दिलाना चाहूँगा कि गोरिल्ला-युद्ध में कृषकों का भाग लेना अनिवार्य है। मैने देखा है और खुश हुआ हूँ कि बिहार तथा मध्य-

प्रदेश के कुछ किसानों ने संग्राम में प्रमुख रूप से भाग लिया है।

हमें स्वराज्य जन-साधारण के लिए चाहिए। मजदूरों के लिए, किसानों के लिए चाहिए। इसलिए जब भारत का भविष्य निर्मित होगा तथा श्रमिकों और किसानों का कर्त्तव्य होगा राष्ट्रीय सेना के आगे आ कर खड़े हों। जो युद्ध करके स्वाधीनता प्राप्त करेंगे उन्हें ही मिलेगी क्षमता और उत्तरदायित्व—यही प्रकृति का नियम भी है।

अन्त में मैं कहना चाहता हूँ कि जरूरत हुई तो यह आंदोलन हमें महीनों चलाना पड़ेगा। इसी के साथ आपको भी तैयार रहना होगा दुःख, यातना और उत्पीड़न के लिए। भोर होने से पहले ही अंधेरा ज्यादा होता है। आपकी विप्लवी वाणी हो—'या तो अभी, नहीं तो कभी नहीं। डू ऑर डाई। करेंगे या मरेंगे। जयहिन्द।'

'डू ऑर डाई। करेंगे या मरेंगे।' सारा भारत इस आग की ज्वाला की चपेट में था। बंगाल, बिहार, उत्तर प्रदेश, बम्बई, नागपुर, मद्रास, उड़ीसा, आसाम—कोई पीछे नहीं था। हर आदमी ने शपथ ली थी—करेंगे या मरेंगे।

आसाम में १५ अगस्त को लड़ाई शुरू हुई। पहली शुरुआत गोपालपाड़ा से हुई। बिना किसी तरह की चेतावनी दिए अचानक पुलिस छात्रों के एक जुलूस पर कूद पड़ी। फिर शुरू हुई लाठी और संगीन की मार। उस अमानुषिक मार से नौ छात्रों की मृत्यु हो गई।

पलट कर आक्रमण किया छात्रों ने। पुलिस की गोली की उपेक्षा कर, दरंग जिले के सभी थानों पर जन-साधारण का कब्जा हो गया।

२० अगस्त को वेजवीया गाँव के निरीह प्राणियों पर सैनिक आक्रमण हुआ। अचानक ही। ऐसा उन्होंने शायद अपने पौरुष प्रदर्शन के लिए किया था।

दो आदमी मरे, कुछ घायल हुए। फिर भी आधी रात को सैनिकों ने दोबारा हमला किया। बच्चों और स्त्रियों पर अकथनीय अत्याचार किया। उसके बाद दूसरे दिन तड़के ४०० लोगों को ६ मील दूर थाने तक भेड़-बकरियों की तरह खदेड़ कर ले गए।

जिस नारी की गोद में तीन दिन का बच्चा था, उसे भी छोड़ा नहीं गया। 'तुम्हें भी थाने चलना ही होगा।'

क्या करती बेचारी? परन्तु बचा न सकी बच्चे को। रास्ते में ही शिशु ने दम तोड़ दिया।

'इन बातों का बदला लेना ही होगा।' आसाम के तरुणों ने फिर से शपथ ली। 'आसाम की भूमि पर खड़े हो कर हम पर जुल्म चलाओ, ऐसा हम सहन नहीं करेंगे। तुम्हारी हर चेष्टा व्यर्थ कर देंगे।'

हजारों-हजारों विप्लवी कूद पड़े सरभोग के महत्त्वपूर्ण हवाई अड्डे पर। उसके बाद सब जला कर खाक कर दिया। यहाँ तक कि अफसरों के क्वार्टर भी नहीं छोड़े गए।

१६ सितम्बर को बहरमपुर में कुछ स्त्री-पुरुष इकट्ठा हुए। उनके हाथों में राष्ट्रीय झण्डा था और नारे लगा रहे थे 'क्विट इण्डिया', 'अंग्रेज, भारत छोड़ो।'

सामने की कतार में खड़ी थी किशोरी रत्नमाला और अन्य महिलायें। झण्डा सबके हाथों में था।

पुलिस और मिलिट्रीवालों ने धमकी दी—'यह सब नहीं चलेगा, फौरन बन्द करो।' परन्तु कोई हटने को तैयार नहीं। झण्डा फेंकने का तो सवाल ही नहीं उठता है।

'ह्वॉट ?' गरज उठे ब्रिटिश कमांडर। उन्होंने धक्का मार कर रत्नमाला को गिरा दिया।

'क्या ? तुम लोगों की यह हिम्मत ?' फुंफकार उठीं रत्नमाला की वृद्धा दादी भोगेश्वरी फूकूनानी। उन्होंने झण्डे के डंडे से ब्रिटिश कमाण्डर पर चोट की। देखते ही देखते वृद्धा को मार गिराया पुलिसवालों ने। वृद्धा का प्राणहीन शरीर धरती पर लोटने लगा।

दौड़ कर युवकों का झुण्ड आगे आया। महिलाओं को आड़ में करते हुए खड़ा हो गया—'इस तरह से हम नारी को अपमानित नहीं होने देंगे। प्राण दे देंगे पर नारी की मर्यादा नष्ट नहीं होने देंगे।'

गोलियाँ चलीं यह सुनते ही। दो सगे भाई बालूराम और थानूराम मारे गए। उनके साथ लक्ष्मीराम नाम का एक और युवक भी। मरते-मरते लक्ष्मीराम ने अपनी जेब से छह पैसे निकाल कर साथियों को देते हुए कहा था—'मेरे पास तुम लोगों को दे सकूं ऐसा कुछ नहीं है। यह छह पैसे हैं, इनका प्रयोग करना।'

मल्लिका, छह पैसे से होता क्या है ? उस क़ीमत से मिलता ही क्या है, पर उनका महत्त्व कहीं अधिक है। आज भी वह सिक्के तुम्हें राष्ट्रीय संग्रहालय में देखने को मिल जाएँगे।

लड़ाई की दृष्टि से आसाम का अपना भी महत्त्व था। सीमा के उधर ही जापान की खूंखार सेना थी। इधर भी तत्परता की कोई कमी नहीं थी। रोज़ झुण्ड के झुण्ड सैनिक आसाम पहुँच रहे थे। कैसे भी बने, जापानी सेना की गति अवरुद्ध करनी ही है।

गुस्से से आसामी युवक तन गए। सैनिकों को भूखा मारेंगे। ऐसी व्यवस्था करेंगे कि एक दाना अनाज न मिल सके।

जुट गए वे लोग। बाहर से सारा सामान आना बन्द हो गया। बकरे, बत्तख मुर्गी, अण्डे, दूध, चावल, फल, तरकारी सब चीजों का चालान बन्द। खाने की तलाश में पुलिस और मिलिट्री घर-घर पहुँचने लगी—खाना निकालो।

लोगों को सीख देने के नाम पर लगभग ५० आदमियों के शरीर से हाथ-पाँव-नाक-कान काट लिए। सारी उम्र के लिए उनकी अंगहानि हो गई। यह तो किया 'जोरहट' में और इसके आधे ही लोगों के शरीर छेदे, हाथ-पाँव काट लिए 'तेकथर' में। वहाँ इन पचीस लोगों के शरीर पर संगीन बेंद-बेंद कर उन्हें पंगु बना डाला।

२० सितम्बर को प्राण गँवाए आसाम की गौरव—कुमारी कनकलता ने।

हजारों नारियाँ मैदान में उतर आईं—'अंग्रेज भागो। क्विट इंडिया। चलो भाइयो, गोहपुर थाने। अब उस पर हमारा कब्जा है।'

पुलिस आगे बढ़ी—'खबरदार, एक कदम बढ़े नहीं कि गोली मार देंगे।'

'गोली मारोगे ? ठीक है मारो। हम तो अपना काम करेंगे—बन्दे मातरम्।' यह थी कनकलता की आवाज़।

धाँय ! धाँय ! धाँय ! इसी के साथ-साथ वीरांगना कनकलता का शरीर ज़मीन पर गिर पड़ा।—'बन्दे मातरम्।' आगे बढ़े मुकुन्द काकति। उन्होंने कनकलता के निर्जीव हाथों से झण्डा ले लिया। दृढ़ कदमों से थाने की ओर चले। उन्हें भी गोली का शिकार होना पड़ा।

इस बीच कुछ निडर युवकों ने थाने पर राष्ट्रीय झण्डा फहरा दिया था।

ढेकियाजूली थाना इसी दिन क्रुद्ध जनता की चपेट में आया। वहाँ झण्डा फहराने के प्रयास में २० लोग मारे गए, जिनमें १२ वर्ष की फुल्लेश्वरी नामक बालिका भी थी। घायल लोगों की संख्या गिनी न जा सकी।

मिलिट्री आ पहुँची। 'कहाँ गए जुलूस निकालने वाले ?' कोई नहीं मिला तो स्थानीय बाजार में सौदा खरीदते, घर वापस जाते निरीह लोग मारे गए।

कठोर आदेश जारी—जनता देखते ही मारो, चाहे वह आन्दोलनकारी हो या न हो। १६ लोग और मरे, उनमें से तीन महिलायें थीं।

२१ तारीख को एक 'प्रतिवाद सभा' का आयोजन हुआ—तेजपुर शहर के टाउन हॉल मैदान में।—'हम पुलिस और मिलिट्री वालों के खिलाफ आवाज उठाते हैं। इस तरह निहत्थी जनता की हत्या करने का उन्हें कोई हक़ नहीं।'

इधर सारे रास्ते रोक कर पुलिस और मिलिट्री तैयार थी। वह लोगों को टाउन हॉल मैदान तक जाने देने को तैयार न थी। फिर भी लोग भारी संख्या में उमड़ पड़े। गोली चला कर सौ से भी ज्यादा लोगों को मार डाला गया।

२५ तारीख को पत्थरकूँची थाने के दरोगा ने दो छात्र मदन बर्मन और राउत राम को मार डाला। क्योंकि जोलाहाट गाँव की एक सभा से लौटते समय वे राष्ट्रीय गान गा रहे थे।

कैदियों को ही कहाँ छोड़ दिया गया ? जोड़ाहाट जेल में बेदर्दी से लाठी चार्ज करके १८१ लोगों को घायल कर दिया गया।

बदले में आसामियों की मृत्युवाहिनी भी कम भयंकर साबित न हुई। कचहरी, रेल लाइनें, सरकारी डाक बँगले, पोस्ट ऑफिस, पी० डब्लू० डी० का ऑफिस, सैनिक छावनी, हवाई अड्डा सब तोड़-फोड़ कर जमीन से मिला दिया।

६ रेलें नष्ट कर दी गईं। २६ नवम्बर को सेना से लदी एक ट्रेन का जो हाल हुआ वह देखने लायक था। लड़ाई के सामानों, अस्त्रों, रसद भरी मालवाही ट्रेनें तो न जानें कितनी नष्ट कर दी गईं।

जेल में धीरे-धीरे मृत्यु की गोद में ढल गए वीर कमल मीरी।

पुलिस ने आदेश जारी कर रखा था—कोई भी व्यक्ति कांग्रेस से सम्पर्क नहीं रखेगा। इसके लिए वे तैयार नहीं थे। इसीलिए उन्हें सश्रम कारावास का दण्ड मिला था। अचानक वे भयंकर रूप से बीमार पड़ गए। बचना मुश्किल हो गया। फिर कूटनीतिक चाल चली गई—'बांड भर दो कि आन्दोलन में कभी भाग नहीं लोगे।'

उन्होंने इन्कार कर दिया—'नहीं, मैं हस्ताक्षर नहीं दूँगा। इससे तो मरना अच्छा है।'

यही हुआ। उनकी मृत्यु हुई। मरने से पहले कह गए—'मृत्यु तो हर मनुष्य की होनी है। मैं भाग्यवान् हूँ, क्योंकि मेरे प्राण देश के लिए निकले हैं। भगवान् का यह आशीर्वाद मैं सिर नवा कर स्वीकार करता हूँ। तुम लोग रुकना नहीं, लड़ाई जारी रखना।'

जयप्रकाश नारायण, राममनोहर लोहिया, अच्युत पटवर्धन, श्रीमती अरुणा आसफ अली जैसे सोशलिस्ट नेतागण इन तरुणों का मार्ग-प्रदर्शन कर रहे थे। इन सब का कहना था कि 'हमने बहुत मार खा लिया है, अब तो मार का जवाब मार कर ही देंगे। करेंगे या मरेंगे।'

श्रीमती अरुणा आसफ अली इन दिनों कलकत्ते में थीं और सरकार ने उनके सिर की क़ीमत पांच हज़ार रुपए लगाई थी। गुप्तचर विभाग के अफ़सर चप्पा-चप्पा ढूँढ रहे थे, पर कहाँ थीं अरुणा आसफ़ अली?

कितनी बार सामना हो चुका था, बातचीत हो चुकी थी; लेकिन बुद्धि लड़ाते तब न पकड़ते।

इसी तरह एक दिन की बात है। अचानक जरूरी निर्देश आया—अभी भागना है, पुलिस पहुँचती ही होगी।

बस, फ़ौरन अरुणा एक टैक्सी बुलवा कर नगर की एक अंग्रेज महिला के घर जा पहुँचीं—'अखबार में आपने पेइंग-गेस्ट के लिए विज्ञापन प्रकाशित किया है। उसे देख कर आई हूँ। बताइए, मुझे क्या करना होगा?'

'लेकिन मैंने तो यूरोपियन महिला चाहिए, विज्ञापन में यह बात स्पष्ट कर दी थी।'

'जानती हूँ, पर मुझे रखने से आपको कोई असुविधा नहीं होगी।'

बातचीत हुई। श्वेतांग महिला खुश और सन्तुष्ट हुई। वाह! बड़ी अच्छी लड़की है।

'ठीक है! तुम यहाँ रहो।'

सचमुच भगोड़ों का जीवन बड़ा कठिन होता है। दो दिन बाद पता लगते ही पुलिस आ धमकी—'कहाँ है वह लड़की? जल्दी निकालो।'

कोना-कोना ढूंढ़ने पर भी लड़की नहीं मिली। चिड़िया उड़ गई थी।

और एक बार, नगर के एक मित्र के घर पर बहुत बीमार पड़ी थीं। स्वास्थ्य नष्ट हो चुका था।

अचानक ही गृहस्वामी के पास एक सरकारी उच्चपदस्थ अधिकारी आ पहुँचे। विस्मित दृष्टि से देखते रह गए—यह चेहरा पहचाना लग रहा है।

'आप अरुणा आसफ अली तो नहीं?'

'हाँ, मैं ही हूँ। खड़े क्यों हैं? बैठिए न।'

विह्वल खोई-खोई मुग्ध दृष्टि से देखते रह गए वे सज्जन। न, इस जीती-जागती तस्वीर को, भारत के इतिहास को पकड़वा नहीं सकूँगा। इसकी क्षति नहीं कर सकूँगा।

जयप्रकाश नारायण दिल्ली में थे। वहीं से उन्होंने विभिन्न राज्यों के संग्रामी नेताओं को सन्देश भेजा: 'भविष्य की कार्यप्रणाली निश्चित करने की आवश्यकता है। तुम सब आओ।'

इस बैठक में जो प्रस्ताव पास हुआ उसमें तय हुआ कि दिल्ली, बम्बई, मद्रास और कलकत्ते में अब से आन्दोलन का एक ही रूप होगा।

डू ऑर डाई।

पहले टारगेट बड़े लाट साहब लिनलिथगो। जैसे भी हो उन्हें खत्म करना ही होगा। अन्त में एक मौका मिला। पता चला वे अपने लोगों के साथ सिनेमा देखने आएँगे। टिकट पहले से खरीदे जा चुके हैं।

यथासमय भयंकर विस्फोट से सारा सिनेमा हॉल काँप उठा।

परन्तु लिनलिथगो को मारना सम्भव न हो सका। किन्हीं कारणों से अन्तिम समय में प्रोग्राम बदल दिया गया था।

इन विप्लवियों के दूसरे टारगेट थे—मुख्य सेनाध्यक्ष जनरल वॉवेल। स्पेशल ट्रेन द्वारा वे बम्बई जाने वाले थे। विप्लवी युवक तैयार थे। उनका प्रण था कि वे इस स्पेशल ट्रेन को ही डिनामाइट की मदद से उड़ा देंगे।

पाइलट इंजन रवाना हो गया। उसके कुछ ही पीछे स्पेशल ट्रेन जाएगी। फौरन विप्लवी सक्रिय हो उठे। इस बीच रख देना है डिनामाइट। आ रही है स्पेशल ट्रेन भी। इससे पहले ही काम खत्म करना है।

चारों ओर भयंकर विस्फोट के कारण धरती काँप उठी।

धुँआ खत्म होने पर निराशा ही हाथ आई। यह तो एक और पाइलट इंजन था। स्पेशल तो स्टेशन पर ही खड़ी है। सावधानी बरतने के लिए दो पाइलट इंजनों की व्यवस्था की खबर थी किसे?

दिसम्बर में अपने अज्ञातवास से जयप्रकाश नारायण ने एक बड़ा लम्बा संदेश भेजा—'As a matter of fact, had the very first assault been successful and had it completely crushed imperialism, that in reality would have

been a matter for surprise. The very fact that the enemy himself has admitted that the Rebellion came pretty near destroying his power shows how successful was the first phase of our National Revolution.

....In the end, Comrades, I should like to say that it has made me inexpressibly happy and proud to be able once again to place my services at your disposal. In serving you, the last words of our leader, 'Do or Die' shall be my guiding star, your co-operation my strength and your command my pleasure.'

Jaya Prakash Narain from somewhere in India, Dec. 1942.

उन दिनों वे नेपाल में थे और वहीं से लड़ाई जारी रखना चाहते थे।

लेकिन मई के महीने में वे अचानक ही पकड़ लिए गए। उन्हें कैद करके रखा गया हनुमाननगर जेल में।

इधर विप्लवी कहाँ पीछे रहने वाले थे? उन्हें तो जयप्रकाशजी के नेतृत्व की आवश्यकता थी।

अचानक एक रात सशस्त्र आन्दोलनकारियों ने पूरी शक्ति लगा कर हनुमाननगर जेलखाने पर आक्रमण कर दिया। पहरे पर तैनात सिपाही भारी संख्या में अस्त्र-शस्त्रधारी विप्लवियों को देख प्राण बचा कर भाग खड़े हुए।

फलस्वरूप जयप्रकाश नारायण पुनः जेल से बाहर आ गए। उनके साथ अन्य कुछ विश्वस्त सहयोगी भी निकल आए।

वे कलकत्ते चले आए। दाढ़ी-मूंछ से चेहरा ढंका। मुसलमानों की पोशाक। पहचानना ही मुश्किल था। अब उनका इरादा था सीमा पार कर आजाद हिन्द फौज के साथ सम्पर्क स्थापित करने का।

परन्तु ऐसा हो न सका। इससे पहले ही १९४३ की १८ दिसम्बर को वे लाहौर में पकड़ लिए गए। मई १९४४ में राममनोहर लोहिया भी पकड़ लिए गए। इन्हें महीनों जंजीर से जकड़ कर एक छोटे से कक्ष में बन्द रखा गया था।

बस, पुलिस अगर पकड़ न सकी थी तो अरुणा आसफ अली को। कभी भी नहीं। उन्होंने तो आत्मप्रकाश किया १९४६ की २६ जनवरी को, जब सिर का मूल्य वापस ले लिया गया—उनकी गिरफ्तारी का परवाना लौटा लिया गया, तब।

इधर मेदिनीपुर का हाल सुनो। यहाँ अशान्ति बहुत पहले से थी। सरकार जापानियों के नाम पर सब लिए ले रही थी।

अंग्रेजों का कहना था—'जापानी बिल्कुल भरोसा करने योग्य नहीं होते हैं। इसलिए तुम लोगों के पास जो भी साइकिल, मोटर, नाव हैं हमारे पास जमा कर दो। और हाँ, तमलुक, पाँसकूड़ा, नन्दीग्राम, सूताहाटा, महिषादल और मयना थाने के इलाके

भी हमारे हवाले करके इन्हें खाली करके चले जाओ। इन जगहों से हम जापानियों का गतिरोध करेंगे। डरो मत, इसके लिए हम काफी मुआवजा देंगे।'

जानती हो मल्लिका, क्या मिला था लोगों को? एक-एक साइकिल के लिए आठ आने से लेकर पाँच रुपए तक। क्या तुम सोच सकती हो, उस दिन सब कुछ खो कर लोगों का क्या हाल हुआ होगा?

उसी समय बनाई गई थी 'प्रतिरोध समिति'। नेता थे सतीश सामन्त, अजय मुकर्जी, सुशील धाड़ा, वरोदा कुइली जैसे लोग।

इनका कहना था—'हमने अंग्रेजों को खूब पहचान लिया है। यहाँ से भी वे सब कुछ जला कर एक दिन नहीं भागेंगे, यह कौन जानता है? चलो, संघबद्ध होकर इनका सामना करें।'

संघर्ष आरम्भ हुआ ८ सितम्बर को। लगभग ढाई हजार ग्रामवासी दानीपुर के चावल मिल के सामने इकट्ठा हुए। इनका कहना था कि हमें भूखा रख कर, युद्ध की माँगें पूरी करने के लिए चावल बाहर हम नहीं भेजने देंगे। किसी हालत में नहीं।

पुलिस ने राइफलें उठा लीं। तीन आदमी मारे गए। पुलिस ने इनकी लाशें नदी में फेंक दीं। सुनते ही और दो हजार आदमी मिल के सामने आ गए। लाशें पानी से निकाली गईं।

'ये लोग शहीद हैं। इनका सत्कार हम शहीद की मर्यादा के अनुसार ही करेंगे।'

पुलिस फिर टूट पड़ी—'नहीं, ऐसा हम नहीं होने देंगे।'

तीनों लाशें एक ही चिता पर रख कर जला दी गईं। फिर शुरू हुई पकड़-धकड़।

१८ लोगों को डेढ़ साल की कैद की सजा दी गई।

आम जनता इधर स्वयं ही फैसला कर रही थी। उन्होंने चावल मिल-मालिकों से निहतों के परिवारों के लिए दो-दो हजार रुपए की माँग की थी। इसी के साथ वादा करने को कहा था कि छँटाक भर चावल भी तुम नहीं भेजोगे।

मिल-मालिक इन शर्तों को मान गए। रुपया भी दिया और चावल जिले से बाहर न भेजने का वचन भी दिया।

उधर चारों तरफ, 'क्विट इण्डिया। अंग्रेज, भारत छोड़ो' का नारा गूँज रहा था।

बंगाल विप्लव में मेदिनीपुर का नाम सबसे ऊपर रहा है। इस बार भी वह आगे ही था। वहाँ भी बाल-वृद्ध की जुबान पर बस एक ही बात थी—'क्विट इण्डिया', 'अंग्रेज, भारत छोड़ो', 'डू ऑर डाई'।

२७ तारीख को सभी नेता तमलुक में मिले। एक गुप्त सभा का आयोजन किया गया था।

थाना, कचहरी, डाकखाना, यूनियन बोर्ड वगैरह नष्ट करने की योजना बनी। सरकार को दिखा देना था कि मेदिनीपुर का वह बाल तक बाँका नहीं कर सकी है।

२६ सितम्बर को शुरू होगी लड़ाई। पहले रहेंगी प्रशिक्षित विद्युतवाहिनी और भगिनी शिविर की सदस्याएँ। यहाँ भी एक ही नीति होगी—'डू ऑर डाई।'

दूसरे ही दिन चारों तरफ तैयारी शुरू हो गई। समय बहुत कम है—बस, चौबीस घंटे। इसी बीच तैयार हो लेना है।

पहले तो मेदिनीपुर को बाह्य जगत् से अलग करना होगा। इस तरह से कि सहसा पुलिस या मिलिट्री न आ सके।

रात होते ही तमलुक, पाँसकूड़ा, महिषादल वगैरह के आने-जाने के रास्ते बन्द कर दिए गए, बड़े-बड़े पेड़ों के तने गिरा कर।

बत्तीस पुल तोड़ डाले गए। इसके अलावा रास्तों के बीच में बीस जगहों पर बड़े-बड़े गहरे गड्ढे खोद दिए गए। सत्ताइस मील लम्बे टेलीफोन और टेलीग्राफ के तार काट दिए गए। टेलीग्राफ के खम्भे भी एक सौ पंचानबे स्थानों में गिरा दिए गए।

रूपनारायण, कांसाई और हुगली नदी के ऊपर चलने वाली फेरी नौकाएँ तक पानी में डुबो दी गईं।

उधर शासक सम्प्रदाय परेशान था। सारे शहर में यह कैसी दबी-दबी सी उत्तेजना नजर आ रही है? लग रहा है, कुछ होने वाला है।

हुआ भी यही। २६ सितम्बर की शाम को चार बजे थे। सहसा आवाज सुनाई पड़ी। लाखों-करोड़ों कंठ-स्वरों से निकल रही थी क्रुद्ध आवाज, 'क्विट इंडिया। अंग्रेज, भारत छोड़ो।'

तुरन्त राजपथ अवरुद्ध कर शासक-वर्ग प्रस्तुत हुआ।

चारों तरफ से जुलूस बढ़ता आ रहा था तमलुक को घेरता। शासकों ने तय किया, थाने में किसी को घुसने नहीं देना है।

विद्युतवाहिनी के नेतृत्व में आठ हजार नर-नारी पश्चिम की ओर से बढ़ आए। 'थाना खाली करो। इस पर हमारा अधिकार है।'

पलक झपकते गोरखा मिलिट्री सैनिक घुटने टेक कर बैठ गए। उनके हाथों की राइफलें गरज उठीं—धाँय! धाँय!—पाँच मरे, पाँच घायल हुए।

घायल रामचन्द्र बेरा अन्तिम सांसें ले रहे थे। उन्हें घसीट कर थाने के सामने डाल दिया गया—मरो। जैसा किया है वैसा ही फल भुगतो।

पुलिस ऑफिसर मनीन्द्र बनर्जी के नेतृत्व में जुलूस निकालने वालों पर गोली तब भी चल रही थी। और इधर आहत रामचन्द्र किसी तरह से लुढ़कते, घिसटते, रगड़ते हुए थाने की ओर बढ़ते जा रहे थे। थाने पर कब्जा करके ही मरने का प्रण था—पहले कैसे मर जाते?

रामचन्द्र बेरा एकाएक चिल्ला उठे थाने के बारामदे से—'हम लोगों ने थाने पर कब्जा कर लिया है। थाना हमारा है।' इसी उल्लासमयी वाणी के साथ-साथ वे एक तरफ लुढ़क गए। हमेशा-हमेशा के लिए सो गए।

उत्तर की ओर से ७३ वर्ष की वृद्धा मातंगिनी हाजरा जुलूस लेकर आगे आई—'करेंगे या मरेंगे।'

इधर बाधा देने बढ़े पुलिस अफसर अनिल भट्टाचार्य—'नहीं, आगे कोई नहीं बढ़ेगा, वरना गोली मार दी जायगी।'

हँसी बुढ़िया।—गांधी बुढ़िया मातंगिनी हाजरा—'ठीक है, गोली ही मारो। हमें तो आगे बढ़ना ही है। तुम चाहो तो गोली मारो, चाहे तो दूसरे की दासता छोड़ कर हमारे साथ मिल जाओ।'

मृत्यु अनिवार्य है, जानते हुए भी गांधी बुढ़िया एक हाथ में शंख और दूसरे में झंडा लिए आगे बढ़ी—'बन्देमातरम्! अंग्रेज, भारत छोड़ो।'

धाँय! गोली लगते ही शंख हाथों से छूट कर दूर जा गिरा, परन्तु बुढ़िया न रुकी। शंख उठा लिया दूसरे हाथ से।

इस बार दूसरे हाथ पर निशाना साधा गया, फिर भी उठाए रही राष्ट्रीय झंडे को। लहूलुहान हाथ पर झंडा दृढ़ता से पकड़ा, मुँह से फूटते बोल—'बन्दे मातरम्'।

अभूतपूर्व दृश्य था।

धाँय! धाँय! धाँय!—लुट गई बुढ़िया मातंगिनी की प्राणहीन काया—परन्तु आश्चर्य की बात देखो, झंडा वैसा ही ऊपर था, हाथ में मजबूती से पकड़ा हुआ।

पराधीनता का यह असंख्य दुःख, कितना कष्टमय होता है, मल्लिका, तुम लोग नहीं समझ सकोगी। समझा था मातंगिनी देवी ने, तभी तो मुक्ति-यज्ञ में बलिवेदी पर हँसते-हँसते चढ़ सकीं। क्या तुम सब उन्हें याद कर शीश नवाओगी? उनका ऋण स्वीकार करोगी? क्या उनकी आत्मा की शान्ति के लिए दो मिनट का मौन धारण करोगी?

उस दिन पुलिस और मिलिट्री की गोली खा कर जान देने वालों में मातंगिनी हाजरा के अलावा पुरीमाधव प्रामाणिक, नगेन्द्रनाथ सामन्त, जीवनचन्द्र बेरा जैसे प्रमुख लोग भी थे। इसी के साथ शहीद हुआ था तेरह वर्षीय किशोर लक्ष्मी नारायण दास। उसे तो राइफल की बॉट से मार-मार कर खत्म कर दिया गया था।

इधर विद्युतवाहिनी द्वारा परिचालित दूसरा जुलूस दक्षिण की ओर से 'सकड़ा बाँध' तक पहुँचा ही था कि भयंकर रूप से गोली चलने लगी। इसमें मारे गए निरंजन जाना। घायल होने वालों में थे पुण्यचन्द्र माइती और अन्य लोग। पुण्य माइती दो दिन बाद अस्पताल में मर गए।

आहतों में से बहुत लोग प्यास से तड़प रहे थे—'पानी, पानी।'

भगिनी सेना की लड़की पानी लेकर दौड़ी आई। राइफल बढ़ा कर बीच में आ गए सैनिक—'खबरदार, पानी नहीं दिया जाएगा। हमारा हुकुम है।'

'क्या, पानी नहीं दिया जाएगा? अगर तुम लोगों ने पानी देने से रोका तो हँसुए से काट कर दो टुकड़े कर दूँगी।' कई लड़कियाँ हाथों में सब्जी काटने वाले हँसुए लेकर तन गईं।

दो कदम हट गए भौंचक सिपाही।

एक और जुलूस, जिसमें तीस हजार लोग थे, दक्षिण पश्चिम से नारे लगाता आ पहुँचा—'कुइट इंडिया। अंग्रेज, भारत छोड़ो।'

यहाँ बाधा देने बढ़ आए सेनाध्यक्ष अपूर्व घोष—'आगे एक कदम भी मत बढ़ाना। मार दिए जाओगे।'

सुनते ही कुछ महिलाएँ सीना तान कर आगे आ गईं—'लो मारो! हम तो मरने के लिए तैयार हैं।'

सेनाध्यक्ष अपूर्व घोष पिछड़ गए।

उनके सामने विशाल जनसमूह था। इसे गोली से नहीं, लाठी मार कर रोका जा सकता है। उन्होंने लाठी चार्ज का हुक्म दिया। बहुत लोग घायल हुए।

यही हाल महिषादल थाने के सामने था। वहाँ यामिनीकान्त कामिला, अनन्त-कुमार पात्र तथा और लोग मारे गए। दूसरी बार में मृत्यु की गोद में लोटने वाले थे शशिभूषण भन्ना, सुरेन्द्रनाथ कर और धीरेन्द्रनाथ भिड़ावेरा। तीसरी बार में मरने वाले थे भोलानाथ माइती, हरिचरण दास, आशुतोष कुइला, सुधीरचन्द्र हाजरा, प्रसन्न कुमार भूर्जा, पंचानन दास, राखाल चन्द्र सामन्त और खुदीराम बेरा।

बेलकानी थाने पर कब्जा करने चले तो भजहरी राउत, बंशीधर कर, चन्द्रमोहन जाना, हेमन्त कुमार दास, चैतन्य बेरा, वैश्यचरण महापात्र, शिवप्रसाद, चन्द्रमोहन दास, सर्वेश्वर प्रमाणिक और रामप्रसाद जाना मारे गये।

वृन्दापुर थाने के सामने दो जनों को मारा गया—गौरहरि कामिला और गान्धार साहू।

भगवानपुर थाने के अभियान में निहत हुए युधिष्ठिर जाना, विभूतिभूषण दास, जगन्नाथ पात्र, श्रीनाथ चन्द्र प्रधान, हरिचरण बेरा, रामकान्त दास, रघुनाथ मण्डल, हरिपद माइती, परेशचन्द्र जाना, कृष्णमोहन चक्रवर्ती, धीरेन्द्रनाथ दासपाठ, भूषण सामन्त जैसे प्रमुख तरुण।

केशपुर थाने का अभियान भी प्राणलेवा सिद्ध हुआ। शशिबाला दासी, रामकृष्ण घोष, और कुछ अन्य लोग भी मारे गए।

इसके अलावा और लोग भी मरे। अमूल्य शासमल, सुधीर माइती, केदारनाथ जाना, मूचीराम दास, भगीरथ रथ, मुरारी मोहन बेरा, बिपिन बिहारी मण्डल, चन्द्रमोहन दिन्दा, और हरिकृष्ण धर।

विद्युतवाहिनी और भगिनी सेना के सम्मिलित प्रयास से मूताहाटा थाना एक ही दिन में कब्जे में आ गया। पहले कैदी हुए एक पदस्थ पुलिस ऑफिसर। उसके बाद बाकी लोग भी पकड़े गए।

फायदा भी काफ़ी हुआ। छह राइफलें और काफी तलवारें मिलीं। असुर को उत्तर देने के लिए इन आसुरिक अस्त्रों की जरूरत थी।

थाना दखल होते ही वहाँ आग लगा दी गई।

सहसा विप्लवी चौंक उठे। यह कैसी आवाज़ है? अरे! यह तो हवाई जहाज हैं। दो बमवर्षक हवाई जहाज़। यह तो बम फेंकने आए हैं।

हाँ, ठीक, बम फेंकने का ही इरादा है इनका। देखो न; कैसे नीचे उतरते आ रहे हैं। वह देखो, तीक्ष्ण एक आवाज़ के साथ बम नीचे आ रहा है। जल्दी—फौरन सब ज़मीन पर, पेट के बल लेट जाओ।

बम विस्फोट न हो सका मल्लिका। बम पास के तालाब में गिरा था।

परन्तु जनता क्रुद्ध हो उठी। 'हमारे हाथ से बचने के लिए लड़ाकू हवाई जहाज बुला रहे हो? तो बुला लो।' देखते ही देखते खासमहल ऑफिस, यूनियन बोर्ड, रजिस्ट्री ऑफिस वगैरह जला कर खाक कर दिए गए।

उसके बाद नन्दीग्राम थाना। वहाँ मारे गए वीरेन्द्रनाथ मण्डल, भानु राय, भूतनाथ साहू, गोविन्द चन्द्र दास, शेख अलाउद्दीन और अन्य चार व्यक्ति। सोलह लोग घायल हुए।

कांथी मोहकमें की हालत भी वैसी ही थी। यहाँ आन्दोलन २२ सितम्बर को शुरू हुआ। पुलिस और सेना के साथ जिलाधीश मौजूद थे। उन्होंने आदेश दिया—सारे गाँववालों को पकड़ लिया जाए और उनसे सड़क तैयार करायी जाए। इस सड़क को उन्होंने तोड़ा है, अब वे ही ठीक करेंगे। जो न आना चाहे उसे जबरदस्ती पकड़ लाया जाए।

गाँववाले बिगड़ गए। 'हम इस हुक्म को नहीं मानेंगे। बनाना हो सड़क तो खुद बनाओ।'

यह सुनते ही जिला मजिस्ट्रेट उखड़ गए। आदेश हुआ—'फायर।'

छह आदमी मरे—सौ से ज्यादा घायल हुए।

इस चोट ने जनता को पागल बना दिया। उनका आक्रोश फूट पड़ा पटाशपुर, खेजुरी, भगवानपुर थानों पर। सब जला कर नष्ट कर दिया उन्होंने।

'अंग्रेजों के गुलाम। दासानुदास दारोगा दल। आज तुम्हारा फैसला हम लोग करते हैं।'

पटाशपुर के दारोगा साहब तो स्थिति बिगड़ती देख पहले ही खिसक गए। परन्तु खेजुरी और भगवानपुर के सर्किल ऑफिसर और ग्यारह सशस्त्र कांस्टेबिलों को सुन्दरवन में निर्वासन दण्ड दिया गया।

केशपुर, डेबरा, पिला, सबंग, गढ़बेता, खड्गपुर वगैरह स्थानों का भी वही हाल था।

जब किसी तरह से कुछ कर न सके तब असंख्य ब्रिटिश और पठान सेना लाकर इकट्ठा की गई मेदिनीपुर में।

'मेदिनीपुर की हिम्मत बहुत बढ़ गई है। रुको, इन्हें ठीक करने का तरीक़ा हमें आता है।'

मध्य-युगीन बर्बरता इसके आगे हार मान जाए—ऐसा था वह अत्याचार।

अंग्रेजों ने स्वयं बहुत कहा था कि हिटलर अत्याचारी है, जल्लाद है, डाकू है, दस्यु है। परन्तु आज अंग्रेज ! वे क्या हैं ? वे कौन से दूध के धुले हैं ?

युद्ध समाप्त होने पर हिटलर ने यहूदियों पर जो अत्याचार किया था, वह सचमुच निन्दनीय है परन्तु ब्रिटिश ! अमेरिकी !

युद्ध के अन्तिम चरण में मृतप्राय जापान के सीने पर एटमबम गिरा कर, लाखों करोड़ों निरपराध नर-नारियों और शिशुओं की हत्या कर उन्होंने कौन सा अभिनन्दनीय कार्य किया ?

याद करो, जापान ने मित्रराष्ट्रों से युद्ध रोकने की प्रार्थना की थी, जिसे उन्होंने मंजूर नहीं किया। क्योंकि अभी उन्हें एटमबम का परीक्षण करके देखना था।

जानती हो, उस दिन अंग्रेजों ने मेदिनीपुर में क्या किया था ? क्या किया था अस्ति, चिमूर, बिहार या बलिया में ?

आन्दोलनकारियों को जब न पकड़ सके तो नारी जाति पर अपना क्षोभ उतारने लगे। पशु से भी बदतर हो गए। बीसवीं शताब्दी में नारी जाति पर बलात्कार का दूसरा ऐसा उदाहरण कहीं और न मिलेगा।

जब कि ब्रिटिश प्रधान मंत्री चर्चिल उल्टी बात कहते फिर रहे थे।

'नहीं, भारत में कुछ खास नहीं हुआ है। सिर्फ ६४० लोग पुलिस और मिलिट्री वालों की गोली से मारे गए हैं। मामूली सी बात है यह तो।'

सिर्फ ६४० लोग। झूठ ! जब बाद में कांग्रेस के नेतृत्व में जाँच कमिटी गठित हुई तब पता चला मृतकों की संख्या तेरह हजार से भी कहीं ज्यादा थी।

इधर अत्याचार बन्द नहीं हुआ था मेदिनीपुर पर। पुलिस और मिलिट्री वालों की मदद से गृहदाह, नारी का बलात्कार, लूट सब हो रहा था। ऐसी शिक्षा मिलनी चाहिए मेदिनीपुर को कि भूल न सके।

इस पर भगवान् ने भी अपना रोष प्रकट किया। १६ अक्टूबर को रात में भयंकर बवंडर आया। उसके बाद ही पानी। पानी ही पानी। चारों तरफ पानी। विध्वसात्मक उस प्राकृतिक कोप ने हजारों लोगों को गृहहीन और असहाय बना दिया।

खुशी से शासक वर्ग नाच उठा। अब कहाँ बच कर जाएगा मेदिनीपुर ? कलकत्ते से बवंडर आने की सूचना सौ से अधिक तारों द्वारा भेजी जा चुकी थी, पर शासकों ने जनता को बताया न था। जाने दो—मेदिनीपुर का नामो-निशान मिट जाने दो।

परन्तु मेदिनीपुर ने सिर नहीं झुकाया। फिर भी संभल कर सिर उठा कर खड़ा हुआ। मेदिनीपुर का नामो-निशान मिटाना इतना आसान नहीं।

१७ दिसम्बर को मेदिनीपुर के लोगों ने स्वाधीन ताम्रलिप्त सरकार बनाई। 'हम स्वाधीन हैं, मुक्त हैं। यह हमारा देश है। हम इसके मालिक हैं। हम विदेशी शासकों का बनाया कानून नहीं मानेंगे।'

उस ताम्रलिप्त सरकार में कौन सा विभाग नहीं था? सब कुछ था—स्वराष्ट्र विभाग, शिक्षा, चिकित्सा, जेल, पोस्ट-ऑफिस, संवाद पत्र, बैंक, निजी सेना। किस चीज की कमी थी?

इस सिलसिले में प्रधान मंत्री जनाब फजलुल हक ने बाद में व्यवस्थापिका सभा में विवरण दिया था—

'मेदिनीपुर में एक प्रतिद्वन्द्वी सरकार बनी थी जिनकी निजी सेना थी। पुलिस और गुप्तचर विभाग था।

अपना जेल भी था, जहाँ जरूरत पड़ने पर अपराधियों को बन्द रखा जाता था। कहीं-कहीं पर वे सरकार को अचल रखने में सफल तक हुए थे।'

बड़ी कोशिशों के बावजूद मेदिनीपुर पर हुए अत्याचार की बात दबाई न जा जा सकी। यहाँ-वहाँ फैलते-फैलते सारे देश को पता चल गया। सब ने जान लिया अंग्रेजों को।

सुनते ही गरज उठे पुरुष सिंह श्यामा प्रसाद मुखोपाध्याय। प्रतिवाद स्वरूप उन्होंने मंत्री-मंडल से पद त्याग दिया और गवर्नर सर जॉन हरबर्ट को लिखा—

'...जर्मनी के अधिकांश भागों में जिस अमानुषिक अत्याचार के बारे में हम सुना करते हैं, वही चल रहा है मेदिनीपुर में। सशस्त्र सेना और पुलिस की मदद से वहाँ सैकड़ों घर जला डाले हैं। स्त्रियों पर अत्याचार किया जा रहा है। मुसलमानों को हिन्दुओं का घर लूटने के लिए उत्साहित किया जा रहा है।

'कहीं-कहीं तो पुलिस ही यह काम कर रही है। यहाँ तक कि १६ अक्टूबर के उस भयंकर तूफान के बाद भी गृहदाह और गृह-लुटना उसी तरह से चलता रहा है।

'सरकारी अफसरों का यह अत्याचार अत्यन्त घृणित है। सरकार के कार्यकर्ता काफी दिनों तक तूफान आने की बात और मदद करने की बात को छिपाए रहे जो कि क्षम्य नहीं है। तूफान-आँधी के बाद अफसरों की उदासीनता और हृदयहीनता की तुलना अन्य किसी सभ्य देश की सरकार से नहीं हो सकती।

'मैं एक ऐसे आदमी को जानता हूँ जिन्होंने कुछ नर-नारियों और शिशुओं को जल-मग्न स्थान से हटाने के इरादे से, कुछ घंटे के लिए एक नाव माँगी थी।

'यह प्रार्थना नामंजूर कर दी गई जिसके फलस्वरूप जल से घिरे लोग बह गए। उन्हें किसी ने फिर जिन्दा नहीं देखा था। इच्छा रहते हुए भी किसी बाहरी आदमी को मदद करने नहीं दिया गया था। कर्फ्यू आर्डर लगा कर वह रास्ता बन्द कर दिया था।

'उस पर एक अफसर ने सरकार के पास एक रिपोर्ट भेजी कि आन्दोलनकारी जनसाधारण को उचित शिक्षा देने के लिए यहाँ एक महीने तक हर तरह की सरकारी सहायता बन्द रहनी चाहिए।

'इच्छा के विरुद्ध भारतीयों को अब डरा-धमका कर नहीं रखा जा सकता।

'यदि अपने देश को स्वाधीन करना और विदेशी प्रभुता को खत्म करने की

आकांक्षा मन में पालना अपराध है तो आज आत्ममर्यादा सम्पन्न हर भारतवासी ही अपराधी है ।

'स्वाभाविक और न्याय-संगत ढंग से विप्लव रोकने का प्रयास न करके गवर्नमेन्ट पिछले तीन महीने से दमन नीति से शासन कर रही है । इससे इतना ही फायदा हुआ है कि भारतीयों के मन से बुलेट का डर समाप्त हो गया है ।

'निरस्त्र और असहाय जाति से लड़ना बड़ा आसान है ।

'भारतवासी निःशस्त्र हैं फिर भी ब्रिटिश सरकार कहती है कि भारतीयों ने ब्रिटिश के विरुद्ध युद्ध की घोषणा की है ।

'अगर ऐसी बात है तो भारतीयों को अस्त्र दिए जाएँ । उसके बाद बराबरी से लड़ाई हो । अत्याचारी के हाथों से छुटकारा पाने के लिए अवश्य ही भारतीय इस परिवर्तन का स्वागत करेंगे ।'

उपसंहार करते हुए श्यामाप्रसाद जी ने लिखा—

'I am sorry that our official association should end like this at this critical hour in the history of my province. I honestly feel I can be of no use to my countrymen or to you by remaining is office so long as the general all-India policy remains what it in and the province is administered by you on lines which I consider inimical to its best interest.'

यही नहीं । अब नम्बर आया प्रधानमंत्री फजलुल हक़ का । उन्हें रिवाल्वर दिखा कर स्वयं गवर्नर ने पद त्यागने के लिए मजबूर किया ।

कसूर ? कसूर था—वे मेदिनीपुर के मामले की जाँच कराने को तैयार हो गए थे ।

सरकार का कहना था कि जब हम राजी नहीं हैं तो तुम किसके हुक्म से जाँच कराने का आदेश दे रहे हो ?

इसी बात से सम्बन्धित इन दोनों के पत्रों से कुछ अंश मैं नीचे उतार रहा हूँ । इन्हें पढ़ कर तुम्हें सारी बातें स्पष्ट रूप से पता चल जाएँगी ।

प्रिय प्रधानमंत्री,

मुझे सूचना मिली है कि आपने आज कानूनी सभा में वचन दिया है कि मेदिनीपुर जिले के सरकारी कर्मचारियों के बारे में जाँच करवाएँगे ।

आप अच्छी तरह से जानते हैं कि यह विषय मेरे उत्तरदायित्व के अन्तर्गत है और आप यह भी जानते हैं कि इस विषय में मैं किसी भी तरह की जाँच करना व्यर्थ समझता हूँ ।

यह खबर सच हुई तो, सरकारी सिद्धान्त के नाम से उल्लिखित इस विषय पर आपने मुझसे पहले बात नहीं की थी ।

अगले दिन सुबह जब मुझसे मिलेंगे, मैं इस विषय पर आपकी कैफियत सुनना चाहूँगा।

भवदीय

जे० ए० हरबर्ट

पत्र पाते ही बिगड़े हुए सिंह की तरह गरज उठे शेर-ए-बंगाल हक़ साहब। दूसरे ही दिन उन्होंने उत्तर भेज दिया—

प्रिय सर जॉन,

आपके १५ फरवरी के पत्र का उत्तर देते हुए सूचित कर रहा हूँ कि आपके पास किसी तरह की कैफियत देने को मैं बाध्य हूँ, यह बात मैं स्वीकार नहीं करता। फिर भी मृदु भर्त्सना करते हुए आपको याद दिलाना मेरा कर्त्तव्य होगा कि अपने पत्र में जैसी असौजन्यपूर्ण भाषा का प्रयोग किया है, भविष्य में गवर्नर और प्रधानमंत्री के बीच पत्र व्यवहार होते समय, वह भाषा वर्जित करना ही हितकर होगा।

....आज प्रातः १० बजे आपसे मिलने की बात थी। कुछ देर पहले मैंने आपके प्राइवेट सेक्रेटरी को मौखिक रूप से सूचित कर दिया है कि आपके पास जाना या आपसे भेंट करना मेरे लिए संभव नहीं है। क्योंकि मैं समझता हूँ कि अपने पत्र की भाषा के लिए अगर आप क्षमा नहीं माँगें तो क्रुद्ध मनोभावों से की गई बातचीत से कोई लाभ न होगा।

भवदीय

ए० के० फजलुल हक़

पहले पदत्याग किया श्यामाप्रसाद ने, फिर हक़ साहब ने। यही मेदिनीपुर के लिए।

मेदिनीपुर के लिए किसी तरह की जांच कमिटी बने, सरकार की यह इच्छा नहीं थी। समय अच्छा नहीं। सारा देश गुस्से से उबल रहा है। इस हालत में जितनी बातें दबी रहें उतना ही अच्छा है।

पर कहाँ, छिपा सके वे अपनी गन्दी हरकतों को ?

सच कहीं छिपा है जो आज छिप जाता ?

बाद में कांग्रेस के जाँच कमीशन के सामने मेदिनीपुर की असंख्य सताई गई नारियों ने अपनी सफाई पेश करते हुए जो कुछ कहा उसका कुछ अंश यहाँ प्रस्तुत है—

पहले सिन्धुबाला दासी की बात सुनो—'१६ वर्ष की हूँ। मेरे एक सन्तान भी है। ६ जनवरी को करीब साढ़े नौ बजे स्थानीय अफसर, झुण्ड भर सेना के साथ हमारे घर में घुस आए। वे मेरे पति को दूसरी जगह ले गये और मेरे साथ बलपूर्वक बलात्कार किया। मैं बेहोश हो गई। दुबारा फिर बलात्कार किया गया।'

सन्तान सम्भाविता खुदीबाला पंडित ने बताया—'मैं २१ वर्ष की हूँ और तीन बच्चों की माँ हूँ। ६ तारीख की नौ बजे एक स्थानीय व्यक्ति कुछ सैनिकों के साथ आया और मेरे पति को गिरफ्तार करके ले गया। फिर एक इशारे पर दो सैनिकों ने

मेरा मुँह कपड़े से बाँध कर गिरा दिया। उसके बाद मेरे साथ बलात्कार किया। मैं बेहोश हो गई। होश आने पर मैंने पाया कि मेरे पति के शरीर से कई जगहों से खून बह रहा है।'

एक अस्वस्थ महिला सुहासिनी दासी ने बताया—'मैं २० साल की हूँ, पर मेरे बच्चे नहीं हैं। ६ तारीख को एक स्थानीय आदमी सैनिकों के साथ आया और मेरे पति को पकड़ कर दूसरी जगह ले गया। इसी आदमी के कहने पर दो सैनिकों ने कपड़े से मेरा मुँह बाँध दिया और कहा कि चिल्लायी तो गोली मार देंगे। इसके बाद इन दोनों ने मेरे साथ बलात्कार किया। मैं शर्म और घृणा से संज्ञा खो बैठी। मुझे मर्यादा के आसन पर प्रतिष्ठित कीजिए।'

एक-आध नहीं, इस तरह की अनगिनत घटनायें हुईं जिन्हें सुनो तो शर्म से सिर झुक जाता है।

परन्तु खुशी की बात तो यह थी कि इन सताई महिलाओं को समाज में प्रतिष्ठित करने में मेदिनीपुर के जनसाधारण ने प्रशंसनीय कदम उठाया।

फिर भी एक बात है, मल्लिका। उस दिन अंग्रेजों ने जो कुछ भी किया था अपनी प्रतिष्ठा और अपने साम्राज्य को बचाए रखने के लिए किया था। लेकिन उनके इन मुसाहिबों ने क्यों ऐसा किया? मालिकों की स्नेहमयी छाया में पलने वाले इन मुसाहिबों ने स्वराज्यद्रोहिता नहीं की थी? पुरस्कार और उपाधि की लालच में आकर इन चापलूसों ने ही तो देशवासियों पर अत्याचार किया था।

आज वे पहचाने नहीं जाते हैं। क्योंकि आज इस अभागे देश के उच्चासन पर वे ही बैठे हैं। हमारा तो परम धर्म रहा है क्षमा—इसीलिए भेष बदल कर देशसेवक बनते इन अधमों को कहाँ देर लगी?

उधर पुलिस मेदिनीपुर में उस समय भी घूमती फिर रही थी। जैसे होगा सारे नेताओं को पकड़ना है, वरना यह आन्दोलन रुकेगा नहीं।

हर व्यक्ति के नाम पर पुरस्कार घोषित था। जिन्दा पकड़ सको तो ठीक, वरना सिर काट कर दिखाने पर भी काम बन जाएगा। हाथों-हाथ पैसा, बिल्कुल नए नोट।

लेकिन काम इतना आसान नहीं था। चारो तरफ विद्युतवाहिनी के चौकस सैनिक, उस पर जनता का पहरा। इन लोगों की नजर बचा कर नेताओं को पकड़ ले जाना आसान नहीं था।

इतनी सतर्कता के बावजूद एक दिन अचानक ही अजय मुखर्जी पकड़ लिए गए। उस दिन वे तमलुक के पास संगठन के सिलसिले में गए हुए थे। वहीं के चपरासी ने पुरस्कार की लालच में आकर उन्हें पकड़वा दिया।

मुकदमें में फैसला हुआ—६ साल का कारादंड।

सतीश सामन्त, सतीशचन्द्र साहू और वरदा कुइती। सतीश सामन्त ढाई साल के लिए जेल भेज दिए गए।

सुशील धाड़ा ने स्वेच्छापूर्वक आत्मसमर्पण किया, क्योंकि गांधीजी असन्तुष्ट हुए

थे। उन्होंने कहा था कि आंदोलनकारियों ने अहिंसा नीति का पालन नहीं किया है, इसलिए वे फौरन पुलिस के आगे आत्मसमर्पण कर दें।

अर्थात् वही १६२२ से १६३० वाले असहयोग आन्दोलन की पुनरावृत्ति हुई। देशबन्धु के शब्दों में—

'The Mahatma opens campaign in brilliant fashion, he works it up with unerring skill, he moves from the success to success till reaches zenith of his campaign, but after that he loses his nerve and begins to falter.

'महात्माजी अपना आंदोलन चमत्कारी ढंग से आरम्भ करते हैं। अचूक और असाधारण निपुणता के साथ वे सफलता की सीढ़ियाँ चढ़ते हुए मंजिल तक बढ़ जाते हैं, लेकिन उसके बाद ही उनकी इंद्रियाँ कमज़ोर पड़ जाती हैं और वे डगमगाना शुरू कर देते हैं।'

अब ज़रा मेदिनीपुर के नुकसान और मनुष्यों के मरने की सूची पर भी नज़र डाल ली जाए। हक़ साहब के बाद बने प्रधानमंत्री सर नज़ीमुद्दीन ने जो बयान 'पत्रिका' को दिया था वही वैसा का वैसा लिख रहा हूँ—

बंगीय व्यवस्था परिषद में एक प्रश्न का उत्तर देते हुए प्रधानमंत्री सर नज़ीमुद्दीन ने कहा कि १६४२ के आंदोलन से पहले और बाद में, तमलुक तथा काँथी मोहकमें में सरकार के आदमियों ने १६३ कांग्रेस भवनों और कैम्पों को जला डाला है। इन दिनों कांग्रेस सदस्यों ने ८१ थाने, सरकारी घर-द्वार और दफ्तर नष्ट किए और जलाए हैं।

१६४२ साल के अगस्त, सितम्बर, अक्टूबर, नवम्बर तथा दिसम्बर महीनों में काँथी तथा तमलुक में लोगों की समस्त स्थायी तथा अस्थायी संपत्ति तथा स्थानीय आदिवासियों के कच्चे-पक्के मकानों को जला दिया गया था या नहीं—यह प्रश्न पूछा मेदिनीपुर के सदस्य श्री ईश्वरचंद्र माल ने और इसके उत्तर में प्रधानमंत्री ने इस सच्चाई को स्वीकार किया था। अर्थात् सरकार के लोगों ने सिर्फ कांग्रेस के भवनों और कैम्पों को ही नष्ट नहीं किया था, स्थानीय आदिवासियों के सम्पत्ति समेत बहुत घर भी जला कर बरबाद कर दिये थे।

जिस व्यापक रूप से सरकार के लोग हर चीज़ में आग लगा रहे हैं उस विषय पर सरकार जाँच करने को तैयार है या नहीं, पूछे जाने पर सर नज़ीमुद्दीन नाराज़ हुए।

[प्रवासी]

मुसीबत कभी अकेले नहीं आई। देखते ही देखते बंगाल में अकाल पड़ा। ऐसा सरकार की इच्छाकृत अव्यवस्था के कारण ही हुआ, इसमें कोई सन्देह नहीं।

जानती हो, उस दुर्भिक्ष में कितने लोगों ने प्राण गँवाए थे?

लगभग ६० लाख लोगों ने।

रास्ता, फुटपाथ, पार्क—जिधर देखो उधर ही लाशें। अधिकांश क्षत-विक्षत। भूखे गिद्ध और कुत्ते पहले से ही खा-खा कर उन्हें समाप्त कर देते थे।

मल्लिका, युद्ध हुआ राजाओं के बीच, जिसमें हम लोगों की कोई प्रत्यक्ष भूमिका नहीं थी। इसके अलावा हमारे देश में कभी युद्ध नहीं हुआ था और हम लोगों ने ही अपने खून से वह ऋण चुकाया। हमें ही चुकाना पड़ा कर्ज।

पर जो साम्राज्यवादी ब्रिटिश राज्य मुख्य रूप से इस युद्ध से जुड़ा था, उसके देश में कितने लोग बिना खाए तिल-तिल कर के मरे थे ?

एक नहीं। एक आदमी इस तरह से नहीं मरा। यही तो फर्क था।

मल्लिका, सन् १९४२ की कहानी यहीं खत्म करता हूँ।

कोई भी विप्लव व्यर्थ नहीं जाता है। अगस्त आंदोलन भी व्यर्थ नहीं हुआ। भिक्षा माँगने से आजादी नहीं मिलती है। मिलती है क़ीमत देने से और इसके लिए मृत्यु का डर दिल से निकालना होता है।

जिस देश के लोगों ने मृत्यु-भय पर विजय नहीं पाई है उस देश के लिए स्वाधीनता नहीं होती है।

उस दिन भारत के साधारण लोगों ने, जनता ने भी साबित कर दिया था कि आजादी की कीमत चुकाना उन्हें भी आता है।

सुभाष के शब्दों में—'In the history of India's struggle, 1942 will remain an unforgetable landmark, indicating the psychological transition from passive to active resistance.'

चलो फिर पीछे लौट चलें, मल्लिका।

'भारत छोड़ो' आन्दोलन शुरू हुआ था अगस्त में और यह बात है सितम्बर की। सुभाष के मन में नाना प्रकार की चिन्ता थी जिसमें से प्रधान थी आर्थिक चिन्ता।

कभी जहाँ १५ लोग थे वहीं अब उनकी संख्या जा पहुँची थी तीन हजार। इसके अलावा भी लोग चलते चले आ रहे थे—झुण्ड के झुण्ड।

परन्तु रुपया? रुपया चाहिये। सैनिक बढ़ाने के अर्थ थे और भी रुपया चाहिए। दो-चार रुपया नहीं। इतनी सी ही बात न थी। उनकी तन्खवाह, आहार, पोशाक, रहने की व्यवस्था तथा अन्य अनेकों चीजों के लिए और भी रुपयों की जरूरत थी। कहाँ से आए इतना रुपया? कौन देगा सुभाष को?

जर्मन सरकार से हर महीने जो कुछ मिलता है वह ऋण के रूप में मिलता है। देश स्वाधीन होते ही यह धन ब्याज सहित वापस कर देना होगा। भारत एक गरीब देश है, इसीलिए उसकी क्षमता भी तो सीमाबद्ध है।

इधर तीसरी बेटेलियन बन गई थी। अब चौथी बेटेलियन बननी थी। परन्तु रुपया कहाँ है इस काम के लिए?

जर्मनी ने ही इसके लिए रास्ता बना दिया। 'रुपये की जिम्मेदारी हमारी है, लेकिन एक शर्त है। अब से तुम्हारी सेना को समान रूप से दोनों राष्ट्रों के प्रति वफादार रहना होगा।'

सुभाष भी कम कूटनीतिज्ञ नहीं थे। वे कैसे तीन महाशक्तिशाली प्रधानों से—हिटलर, मुसोलिनी और तोजो से अकेले पंजा लड़ा रहे थे, सोचते हुए भी आश्चर्य लगता है।

इस बार भी उन्होंने इसके उत्तर में कहा—'ठीक है। यही होगा, पर मेरी भी एक शर्त है। जहाँ तक दोनों राष्ट्रों का एक ही लक्ष्य होगा, वहाँ तक तो मैं सहयोग देने को बाध्य हूँ, दूसरे मामलों में कदापि नहीं।' 'Only where common Indo-German interests were at stake.'

जर्मनी राजी हुआ और उस दिन से सेना का सारा खर्च उठाने लगा। सितम्बर माह में नए सिरे से शपथ ग्रहण करने की तैयारी शुरू हुई।

इस अनुष्ठान में मुख्य अतिथि के रूप में उपस्थित हुए जापानी दूतावास के कर्नल ईयामामातो। इन ईयाभामातो की बात बाद में बताऊँगा।

अब एक छोटी पर महत्वपूर्ण बात बताता हूँ।

सारी दुनिया जानती है कि सुभाष ने जर्मनी से रुपया लिया था, पर यह बात कितने लोग जानते हैं कि यह ऋण उन्होंने दक्षिण पूर्वी एशिया से चुका भी दिया था।

आज यह कहना कठिन है कि कितना ऋण लिया था और पूरा का पूरा चुका

पाये थे या नहीं, परन्तु चेष्टा उन्होंने की थी, इसमें जरा भी शक नहीं।

संग्रामी भारत के एकमात्र प्रतिनिधि के रूप में उन्होंने यह ऋण स्वयं ग्रहण किया था। देश को मुक्त करने के लिये लिया गया ऋण उन्होंने स्वयं ही चुकाया भी था।

जर्मनी का अस्तित्व उस समय खतरे में था। उस हालत में ऋण चुकाने का सवाल ही पैदा नहीं होता था परन्तु सुभाष ने उनकी परेशानी का कभी फायदा नहीं उठाया, बल्कि स्वयं ही कुछ ऋण उन्होंने जबरदस्ती चुका दिया था।

प्रमाण मिलता है डाक्टर अलेक्जेन्डर वर्थ के कथन से—

'In 1944, 5,00,000 yen were handed over by the Japanese Government to the German Ambassador in Tokyo in the name of Netaji, to serve as the first partial repayment of loan which had been paid to the Free India Centre by the German government.

This amount was made of voluntary contributions made by Indians living in East Asia.' [Dr. Werth. P-19]

अर्थात् १९४४ में जापान सरकार ने जर्मन राजदूत को सुभाष की ओर से ५ लाख येन दिया था जो कि ऋण चुकाने की पहली किस्त के रूप की थी। यह धनराशि दक्षिण पूर्व एशिया के भारतीयों ने इकट्ठा कर के दिया था।

इधर भारत में क्षोभ की आग चारो तरफ धधक रही थी। सारा बंगाल जल रहा था। मेदिनीपुर जल रहा था, पर होठों पर सभी के एक ही बात थी—'डू ऑर डाई। करेंगे या मरेंगे।'

दूसरा दल ही कहाँ शान्त बैठा था? जलता जा रहा था सारा देश। मेदिनीपुर के असंख्य गाँव जला डाले।

सुन कर सुभाष का तन-बदन जल उठा। उन्होंने राष्ट्र के नाम संदेश प्रसारित किया—

'मैं सुभाष बोल रहा हूँ...

१९३० में जब मेदिनीपुर में 'टैक्स बन्द आन्दोलन' शुरू हुआ था तब घर के घर, गाँव के गाँव जला कर राख कर दिये गए थे, स्त्रियों पर अकथनीय अत्याचार हुये थे—क्या भारतवर्ष उस बात को भूल गया है?

१९३१ में हिजली जेल में, ढाका तथा चट्टगाँव शहर में जो निदर्यतापूर्ण घटनाएँ हुई थीं उसका सबूत आज भी बंगाल के एक-एक घर में मौजूद है।

युद्ध शुरू होने पर, बर्मा के ब्रिटिश टॉमियों ने, लोगों के परिवार वालों के पास कटे सिर वाले कैदियों की जो तस्वीरें भेजी थीं उन्हें मैंने स्वयं देखा है। ऐसा तो केवल ब्रिटिश टॉमी ही कर सकते हैं।

स्वाधीनता की माँग करने के अपराध में आज ब्रिटिश टॉमी जो अत्याचार निरस्त्र जनता पर कर रहे हैं वैसा उदाहरण सारे संसार में नहीं मिलेगा।

जो निर्दयता में इतने पटु हों उनके मुँह से निर्दयता का अभियोग सुन कर हँसी नहीं आती है ?

अन्त में मैं बंगालवासियों को यह कह कर सावधान करना चाहता हूँ कि जल्द ही इनके बुरे दिन आने वाले हैं। पूर्वांचल में खून-खराबा होगा ही। उसके लिए डरने से काम नहीं चलेगा। बंगाल में ही सबसे पहले ब्रिटिश शासन की नींव पड़ी थी, अब वही नींव उखाड़ने का काम भी बंगाल से ही शुरू होगा।

....इसके लिये बंगाल को गर्व अनुभव करना चाहिये।....मेरा दृढ़ विश्वास है कि बंगाल अपने को कर्त्तव्य के उपयुक्त बना सकेगा और ऐतिहासिक भूमिका को सही ढंग से निभायेगा।

स्वाधीनता का सूर्य पूर्वांचल में उगेगा। इनक्लाब ज़िन्दाबाद। जयहिन्द।'

अक्टूबर, फिर नवम्बर बीत गया। धीरे-धीरे सुभाष के मन में एक सन्देह जागा। अचानक जापान इतना खामोश क्यों हो गया है ? बात क्या है ?

यही प्रश्न भारतीयों के मन में जागा था। क्या बात है ? जापानी चुप क्यों हैं ? इनका अगला कदम किधर उठने वाला है ? आस्ट्रेलिया या भारत की ओर ?

कोई उत्तर नहीं।

बर्मा का पतन मई के महीने में हो चुका था। १९४२ में। तब से आज तक जापान चुप है।

यद्यपि प्रशान्त महासागर में स्थित न्यूवे, किस्को, न्यूगिनी, गुयादाल कैनाल जैसे द्वीपों पर छुट-पुट हमले न किये हों, ऐसा नहीं था।

वर्ष शुरू होते ही १९ फरवरी को आस्ट्रेलिया के डरविन बन्दरगाह पर बम भी गिराया था एक बार, परन्तु इससे यह नहीं कहा जा सकता था कि अगला हमला वे आस्ट्रेलिया पर ही करने जा रहे हैं।

क्योंकि इसके बाद उन्होंने कभी भी आस्ट्रेलिया पर हमला नहीं किया।

भारत अंग्रेजों का बड़ा मजबूत अड्डा था। उधर अमेरिकन सेनापति जनरल मैकार्थर उस समय आस्ट्रेलिया में थे। उनका हेडक्वार्टर इस समय वहीं था, जब से वे फिलिपाइन्स से भगाए गये थे।

यह दोनों अड्डे जब तक रहेंगे तब तक एशिया की ओर से निश्चिन्त होना कहाँ सम्भव था ? काम इतना आसान भी नहीं था। आज के युद्ध में सफलता प्राप्त करने के लिए सब कुछ निर्भर करता है उचित सप्लाई व सम्पर्क-व्यवस्था पर। उसमें ज़रा भी हेर-फेर हुआ नहीं कि मुसीबत आई।

जापानी पूरी तरह से समुद्र पर निर्भर रहने वाली जाति है। एशिया का विस्तृत भूखण्ड उनके अधिकार में था उस समय। उस विशाल भूखण्ड में सम्पर्क बनाये रखते हुए, सप्लाई व्यवस्था कायम रख, आस्ट्रेलिया या भारतवर्ष जैसे महादेश पर हमला करने

के लिए उनके पास नौकाएँ या हवाई जहाज़ हैं क्या ?

इतने आदमी ही कहाँ हैं जापान के पास ?

तब क्या हमला करने का काम यहीं समाप्त हो गया है ?

बगल में ब्रिटिश और अमेरिका जैसे शक्तिशाली राष्ट्रों के रहते हुए चुपचाप बैठना क्या ठीक होगा ?

२० दिसम्बर—मध्यरात्रि में इन प्रश्नों का उत्तर मिल गया।

भयंकर जाड़ा। रास्ते पर एक मनुष्य नहीं। आस-पास जीवन का कोई चिन्ह नहीं। केवल कतार से टिमटिमा कर जलते लैम्पपोस्ट निर्जीव से खड़े थे।

सहसा कलकत्ता में सारे विपत्तिसूचक सायरन एक साथ बज उठे।

हर आदमी जग कर बैठ गया। क्या हुआ ? अचानक इस समय सायरन क्यों ? किसी तरह का रिहर्सल है क्या ? जरूर यही बात होगी।

पर इसी के साथ ही साथ, कान के पर्दे फट जाएँ, ऐसी भयंकर आवाज़ हुई.... बुम्मम्म....! बुम्मम्मम् !

इस विस्फोट से हर कोई चौंक पड़ा। जापान के हवाई जहाजों ने कलकत्ते पर चढ़ाई कर दी है। लम्बी खामोशी के बाद सचमुच शेर भेड़ों के झुण्ड पर टूट पड़ा है।

दूसरे ही दिन अखबारों में मुख्य पृष्ठ पर यह समाचार प्रकाशित हुआ। जापानी हवाई जहाज द्वारा कलकत्ते पर बम वर्षा। क्षति सामान्य।

सुभाष भविष्यवक्ता नहीं थे, लेकिन अंग्रेजी में जिसे 'इन्ट्यूशन' कहते हैं, वह उनमें हमेशा ही जबरदस्त था। न कोई कारण होता, न कोई बताता, परन्तु कहीं कोई बड़ी मुसीबत आने को होती कि उनका मन पहले से इस बात के लिए आग्रह करने लग जाता।

सुभाष कलकत्ते से ६ हजार मील दूर बर्लिन में थे। उन्हें तभी लगा कि कलकत्ते में कुछ हो रहा है।

इस विषय पर उनके सहयोगी डाक्टर गिरिजा मुखर्जी ने अपनी पुस्तक 'दिस यूरोप' में लिखा है....'एक दिन पता चला कलकत्ते में जापानी हवाई जहाजों ने हमला किया है। दूसरे ही दिन प्रातःकाल मैं सुभाष से मिलने गया।

'क्रिसमस के दिन थे। बाहर बेहद जाड़ा था। मैं लाइब्रेरी-कक्ष में प्रतीक्षा करने लगा। खबर सुनते ही कुछ देर में सुभाष नीचे उतर आए। देखा, चेहरा उतर कर इतना-सा हो रहा है।

घबड़ा कर मैंने पूछा—'क्या हुआ ? बीमार हैं क्या ?'

'नहीं।' चिन्तित भाव से सुभाष बोले—'कल सारी रात कलकत्ते का सपना देखता रहा हूँ। क्या देखा यह नहीं बता सकूँगा। बस, यही लग रहा है....कि मँझले भइया और दूसरे कुछ लोगों को देखा है। तुम कलकत्ते की खबर कुछ बता सकते हो

गिरिजा ? कोई खबर तुम्हें मिली है क्या ?'

मैं समझ गया कि कलकत्ते पर जापानियों का हवाई हमला हुआ है यह बात वह नहीं जानते हैं ।'

पहला हवाई हमला हुआ था २० दिसम्बर १९४२ में । वास्तव में पिछले विश्वयुद्ध के समय कलकत्ते पर कुल आठ बार बम गिराया गया था । हालाँकि नुकसान बहुत कम हुआ था ।

बात बढ़ा कर नहीं कह रहा हूँ, मल्लिका । जर्मन और जापान के बम से किसी का नुकसान नहीं होता है, खासतौर से ब्रिटिश वाहिनी का बिल्कुल ही नहीं । हुआ भी तो बहुत मामूली ।

जैसे कि अगले साल ५ दिसम्बर को । उस बार दिन में जापानी हवाई जहाज आए । दो-दो दफा ।

नतीजा—दो जापानी जहाज नष्ट हुए । इधर अंग्रेजों का नुकसान बहुत मामूली हुआ था । एक मरा था, १३ घायल हुए थे ।

कॉरपोरेशन की कॉपी पर चढ़ा है—

'५ दिसम्बर को कलकत्ते पर हवाई हमले के फलस्वरूप ३७० लोग मरे हैं । बहुतों की हालत बड़ी चिन्ताजनक है ।'

तुम्हीं बताओ मल्लिका, क्षति क्या बहुत मामूली हुई थी ?

पर इस मामले में न तो ब्रिटिश प्रधान मंत्री विश्वास करने योग्य थे और न जर्मनी के प्रचार सचिव डाक्टर गोयेबल्स । बल्कि इनसे कहीं ज्यादा विश्वसनीय थे सोवियत सामरिक इश्तेहार । क्योंकि शत्रुओं का ही नहीं, अपने नुकसान का भी स्पष्ट उल्लेख करते थे वे लोग ।

कभी-कभी इस बात को लेकर मजाक भी होता । लोग कहते, जापानियों ने बम नहीं फेंका है । फेंका है स्वयं अंग्रेजों ने, ताकि आन्दोलन का रुख फेरा जा सके ।

पर वास्तव में बम जापान ही फेंक रहा था, अंग्रेज नहीं । उनका उद्देश्य था जनता में घबड़ाहट पैदा करके सरकार को परेशान करने का, जैसा कि पोलैण्ड, पेरिस और सिंगापुर में हुआ था । लाखों शरणार्थियों ने इन जगहों की सामरिक व्यवस्था को अस्त-व्यस्त कर दिया था, यह तो मानना ही पड़ेगा ।

यहाँ भी यही हुआ । देखते ही देखते कलकत्ता शहर खाली हो गया । चारों तरफ चीख-पुकार मची थी—'भागो भागो—जापानी आ गए हैं, भागो ।'

सुबह-शाम, जब देखो तब, डरे-घबड़ाए नागरिक भाग रहे थे । लेकिन कैसे भागें ? ट्रेनों में जगह की बात छोड़ दो, स्टेशन के करीब पहुँचना मुश्किल था । दूसरी सवारियों का भी वही हाल था । बस, पैदल जा सकता था आदमी ।

डर और घबड़ाहट के कारण लोगों की आँखों के आगे अँधेरा छा गया था । न जाने कब क्या हो । चारो तरफ से मृत्यु मुंह बाए चली आ रही है । पीछे मुड़ कर ताकने का समय तक नहीं था ।

नाना जाति के लोग पर सभी के मन में एक ही बात थी। जैसे भी हो, जीना है।

मैं पहले ही बता चुका हूँ कि जापानियों का पहला हमला ६ अप्रैल १९४२ में विशाखापट्टम और कोकनद पर हुआ था।

८ मई को चट्टगाँव पर बम फेंका गया। बम ही नहीं, उस दिन हवाई जहाज से मशीनगन से भी गोलियाँ चलीं। उस दिन हवाई अड्डे पर काम करते हुए १०५ कुली और कार्यरत व्यक्ति मारे गए।

दूसरे दिन ९ मई को, शनिवार के दिन फिर सुबह यहाँ बम गिरा। न जाने क्या-क्या क्षति हुई उस बार।

१०, १६ और १८ मई को दूसरी जगहों पर। आसाम में।

फिर पाँच महीने की लम्बी खामोशी। उसके बाद २५ अक्टूबर को फिर आ पहुँचे।

लगभग ९५ जापानी हवाई जहाज उस दिन डिब्रूगढ़ के अमेरिकी हवाई अड्डे पर आ धमके।

दोनों तरफ से भयानक युद्ध छिड़ गया। कम से कम १० जापानी विमान मार गिराए गए। अमेरिका का एक नष्ट हुआ।

उसी दिन चट्टगाँव के हवाई अड्डे पर भी हमला हुआ।

२६ तथा २८ तारीखों में आसाम के अन्य भागों में। ५, १० तथा १५ दिसम्बर को फिर चट्टगाँव। १५ तारीख को तो दो बार हमले हुए।

बर्मा हाथों से निकल जाने के कारण अंग्रेजों को इस बात का डर था कि अब जापान भारत पर हाथ लगाएगा। इसीलिए आसाम और पूर्वी बंगाल के चट्टगाँव, फेनी, अगरतल्ला, सिंगारबिल वगैरह स्थानों में हवाई अड्डा बनाया गया था। युद्ध का ध्यान रखते हुए।

परन्तु जापान की दृष्टि से कुछ भी बचा नहीं सके थे। इसका फिर प्रमाण मिला १६ दिसम्बर को। उस दिन फेनी हवाई अड्डे पर बम फेंका गया और उसी के साथ चट्टगाँव पर भी।

२०, २१, २२ दिसम्बर को कलकत्ते पर। २२ तारीख को बम गिरा था कलकत्ते के हाथीबागान के बाजार और एक बस्ती पर। तीन दिन के इस हमले में २५ व्यक्ति मरे थे, घायल हुए थे १०० व्यक्ति। अनुमान लगाया जाता है कि उसमें दो जापानी हवाई जहाज मार गिराए गए थे।

तीन दिन बाद फिर २७ तारीख को कलकत्ते पर और फेनी व चट्टगाँव पर हमला हुआ।

१५ जनवरी १९४३ साल। पुनः झुण्ड के झुण्ड बमवर्षक हवाई जहाज कलकत्ते पर चढ़ आए।

इधर से हवाई हमला हुआ। युद्ध विभाग के शब्दों में—'ब्रिटिश हवाई सेना

के फ्लाइट लेफ्टिनेन्ट मिस्टर स्प्रिग की असाधारण कीर्ति का परिणाम था ५ मिनट में ३ जापानी जहाज नष्ट कर दिये गये। अपनी तरफ एक कुली बस्ती के कुछ लोगों के घायल होने की सूचना मिली है।'

१७ जनवरी को फेनी, चट्टगाँव और पूर्वी बंगाल के एक इलाके पर हमला हुआ। १६ तारीख को कलकत्ता पर। दो जापानी जहाज मार गिराये गये। इधर का एक नष्ट हुआ। नुकसान का कोई उल्लेख नहीं किया गया।

२२ जनवरी को पूर्वी बंगाल की एक जगह पर हमला हुआ। २३ तारीख को चट्टगाँव। इसके एक महीने बाद २३ फरवरी को आसाम के एक अमेरिकी हवाई अड्डे पर बम गिरा। इसी हवाई अड्डे पर दो दिन बाद फिर हमला हुआ।

२ मार्च को चट्टगाँव पर। २१ मार्च—फेनी। २४ मार्च—चट्टगाँव। २३ मार्च को एक और जगह हमला हो चुका था। २५ मार्च को एक और जगह। २७ को पहली बार काक्स बाजार पर हमला हुआ। दोबारा २६ मार्च को फिर। और ३० तारीख को बम गिरा दक्षिण पूर्वी बंगाल के एक और हवाई अड्डे पर।

१ली अप्रैल—फेनी हवाई अड्डा। ४ तारीख को चट्टगाँव। ५ तारीख को ५० से भी अधिक जापानी हवाई जहाजों ने दक्षिण पूर्वी बंगाल के एक दूसरे अड्डे पर चढ़ाई की। ६ तारीख को फिर—वहीं।

८ तारीख को चट्टगाँव हवाई अड्डे पर। ६ तारीख को दूसरे हवाई अड्डे पर। २० अप्रैल को पहली बार इम्फाल पर आक्रमण हुआ। दोबारा २२ को। २ और ५ मई को दक्षिण पूर्वी बंगाल के एक हवाई अड्डे पर।

२२ मई को आकाश-युद्ध देखने को मिला काक्स बाजार और फेनी में। काक्स बाजार के युद्ध में चार तथा फेनी में तीन जापानी हवाई जहाज नष्ट कर दिए गए।

२२ और २६ मई को चट्टगाँव के उसी हवाई अड्डे पर फिर जापानी हमला हुआ और उसके बाद कुछ महीने के लिए शान्ति छा गई।

बम गिरने का आतंक जनसाधारण के हृदय से जाता रहा। लोग निश्चिन्त हो कर चलने-फिरने लगे।

लेकिन ११ अक्टूबर को पुनः जापान के हवाई जहाज भारत के आकाश पर दृष्टिगोचर हुए। इस बार उनका लक्ष्य मद्रास था।

२० को वापस चट्टगाँव को निशाना बनाया। २५ अक्टूबर काक्स बाजार। ६ नवम्बर को इम्फाल।

११ नवम्बर को फिर मद्रास। २८ को फेनी के हवाई अड्डे पर और २६ को पूर्वी बंगाल के एक अन्य स्थान पर।

५ दिसम्बर को, दिन में खिदीरपुर डाक एरिया उनका निशाना बना—दो-दो बार।

सामरिक विभाग ने कहा—'एक मृत। १३ घायल।' किन्तु कॉर्पोरेशन के खाते के मुताबिक ३७० लोग मारे गए थे उस दिन, और इससे दुगनी संख्या में लोग

घायल हुए थे। हल्ला मच गया। विभिन्न समाचार पत्रों में इस बात पर बड़ी आलोचनाएँ प्रकाशित हुईं।

'स्टेट्समैन' के सम्पादकीय में लिखा गया—

'यही है क्या हमारी जनप्रिय सरकार की नीति? यही उनका प्रत्यक्ष देखा गया काम का नमूना है? दिन दहाड़े, झुण्ड-के-झुण्ड शत्रु के हवाई जहाज कलकत्ते पर आकर बिना सोच-विचार किए बमों की वर्षा कर रहे हैं और हमारी तरफ से मामूली सा विरोध, प्रतिरोध तक करने का प्रयास नहीं किया जा रहा है! यही अगर सुरक्षा का नमूना है तो ऐसी सरकार पर हम भरोसा कैसे करें....'

एक राष्ट्रीय समाचार पत्र ने क्या लिखा, पढ़ो—

'पिछले दिनों, बहुत दिनों बाद, दो झुण्डों में जापानी हवाई जहाजों ने कलकत्ते पर, दिन में, चढ़ाई की।

यह हमला अचानक भले ही हो, अप्रत्याशित नहीं था। कलकत्ते का क्षेत्र जापानी हमले के दायरे में आता है, परन्तु विशेष रूप से सतर्क रहा जाए तो इस तरह के आक्रमण रोके जा सकते हैं।

सरकारी विवरण देखने से पता चलता है कि एक मिलिट्री का आदमी मारा गया है और १३ लोग घायल हुए हैं। जब कि गैर-सरकारी मतानुसार मृतक और घायलों की मिली-जुली संख्या लगभग ५०० है....' [देश]

१३ दिसम्बर को आसाम के उत्तर पूर्वी क्षेत्र के एक अमेरिकन हवाई अड्डे पर हमला हुआ। २० और २६ तारीख को फिर चट्टगाँव पर।

कुल मिला कर अभी तक चट्टगाँव पर जापानियों ने बीस बार बम गिराया था। कलकत्ते पर ८ बार। फेनी पर ७ बार। इम्फाल और काक्स बाजार पर ३ बार।

१९४४ में हवाई हमले पिछले दो सालों की तुलना में कम ही हुए।

३ फरवरी को उड़ीसा के तटीय भाग पर। १३ मार्च को सिलचर इलाके में, १६ मार्च को इम्फॉल और २५ मार्च को काक्स बाजार।

उसके उपरान्त ९ माह की चुप्पी। दिसम्बर में फिर दिखाई दिए जापानी हवाई जहाज।

८ दिसम्बर को उड़ीसा के तटीय भाग पर, २५ दिसम्बर को पूर्वी बंगाल के एक हवाई अड्डे पर हमला हुआ।

२५ दिसम्बर को उनका आखिरी हवाई हमला था। उसके बाद उन्होंने भारत पर कोई हमला नहीं किया।

कवि सुकान्त की एक रचना अपने वीर विप्लवियों के उद्देश्य में लिखी गई थी, जिन्होंने अपने खून से इतिहास लिखने में मदद की थी, जिनसे अंग्रेज भी डरते थे।

परन्तु आज उनके त्याग की क्या क़ीमत है? अगर होती तो इतिहास दूसरी तरह से रचा गया होता।

कौन जानता है सत्येन वर्धन, एम० ए० कादेर, एस० ए० आनन्दम्, मानकुमार

बसु, फौज सिंह को ? इनके बारे में तुम्हें कुछ पता है, मल्लिका ? नहीं जानती हो न ? तुम क्या, दूसरे लोग भी नहीं जानते हैं।

इसमें तुम्हारी नहीं, गलती हम लोगों की है, जिन्होंने तुम लोगों को जानने नहीं दिया। हम लोगों ने जानबूझ कर इनका नाम इतिहास के पृष्ठों से मिटा दिया है। क्योंकि हम तो झुकने की नीति के विश्वासी हैं। एक गाल पर थप्पड़ पड़ा तो दूसरा आगे कर दिया। हाथ उठाना हमने सीखा ही नहीं। फिर ऐसा करेंगे तो हम आदर्शच्युत हो जाएँगे, इस बात का डर भी तो है।

इन लोगों की नीति भिन्न थी। देश के लिए मरना भी जानते थे और मारना भी।

दुःख, कष्ट, मृत्यु से ५० साल से अधिक लड़ कर उन्होंने इतिहास रचा था—क्या इस बात को अस्वीकार करोगी ?

इन्हें पहचानने के लिए चलो हम दक्षिण-पूर्वी एशिया लौट चलें।

१९४२ साल। युद्ध की आग में सारा संसार धधक रहा था।

महानायक रासबिहारी बोस और मोहनसिंह के नेतृत्व और प्रेरणा के फलस्वरूप वहाँ भारतीयों के हृदय में देश-प्रेम की धारा बह रही थी। वे दृढ़प्रतिज्ञ थे।

ब्रिटिश सिंह आज घायल होकर कराह रहा है। बर्मा का पतन हो चुका है। यही अवसर है। इस बार भयंकर आघात करना है जिससे कि पर-राजग्रासी खून चूसने वाली यह जाति भारत से सदा-सदा के लिए विदा ले ले।

वे जानते थे कि इसके लिए लाखों तरुणों के ताजे खून की जरूरत पड़ेगी। देने को तैयार थे वे। इस छोटी सी बात के लिए मौका हाथों से निकल जाए यह कोई नहीं चाहता था।

इससे पहले कुछ दुःसाहसी युवकों को उपयुक्त बेतार ट्रांसमीटर के साथ गुप्तरूप से भारत चले जाना है। वहाँ पहुँच कर ट्रांसमीटर की मदद से लोगों को बताना होगा, शत्रु की सामरिक शक्ति की बात। भारत की राजनैतिक परिस्थिति की बात भी बतानी है।

मौका मिलते ही अपने ही आदर्शों पर विश्वास करने वाले नेताओं के साथ सम्पर्क बनाना होगा। उसके बाद जन साधारण में घुल-मिल कर उन्हें बताना होगा कि दक्षिण-पूर्व एशिया में लड़ाई की तैयारी कैसी है। उन्हें कहना होगा कि अब समय नहीं है। लड़ाई पास आ गई है। तैयार हो जाओ।

परन्तु इस महत्त्वपूर्ण काम का उत्तरदायित्व कन्धों पर लेगा कौन ? कौन जाएगा भारत ?

सभी तैयार थे। यह तो आखिरी लड़ाई थी। कोई पीछे रहने को तैयार नहीं था। बस, प्रतीक्षा थी आदेश प्राप्ति की।

मोहन सिंह के निर्देश पर सब कुछ करने का दायित्व संभाला कर्नल एन० एम० गिल ने। तय हुआ, अलग-अलग दलों में बँट कर कुल १४ आदमी भारत आएँगे।

मोहन सिंह के परम मित्र मेजर महावीर सिंह ढिल्लन के नेतृत्व में एक दल जाएगा कालेया और चीन पहाड़ के रास्ते—इम्फॉल। उनके साथ रहेंगे कैप्टन बलवन्त सिंह, रामसिंह, परब वगैरह सैनिक।

दूसरा दल अराकान, आकियाब, काक्स बाजार होता हुआ सीधे बंगाल पहुँचेगा।

बाकी सब आएँगे सबमेरीन द्वारा।

पृथ्वी के कोने-कोने में विश्वासघातक रहते हैं। इंगलैण्ड, रूस, अमेरिका, जापान, जर्मनी—कहाँ नहीं हैं? यहाँ भी यही हुआ।

सहसा एक विश्वासघातक सिर उठा कर चुपचाप खड़ा हुआ। 'सब कुछ, सारी योजना, ध्वस्त कर दूँगा। सरकार बहादुर से इसके लिए मोटी रकम मिलेगी। पुरस्कृत होऊँगा। नौकरी के जीवन में इससे बड़ी सफलता और क्या होगी, जब उपाधि मिलेगी? यह मौका नहीं छोड़ूँगा।'

जानती हो, कौन था यह विश्वासघाती देशद्रोही? ढिल्लन। मेजर महावीर सिंह ढिल्लन और उनके साथी कैप्टन बलवन्त सिंह, रामसिंह तथा परब।

इसी को अकृतज्ञ कहते हैं। वरना यही परब जब घायल होकर इलाज के लिए ब्रिटिश अस्पताल में पहुँचा था तो गली के कुत्ते की तरह खदेड़ कर भगा दिया गया था।

लेकिन इससे क्या आता जाता है? जिस खून में विश्वासघात का बीज छिपा हो, उसे यह बातें कहीं याद रह सकती हैं? इसीलिए तो वह बेखटके बेईमानों में जा मिला।

यथासमय यह जत्था रंगून से रवाना हुआ। पहले ट्रेन द्वारा, उसके बाद हाथी पर सवार होकर। जाना था चीन पहाड़ पार कर इम्फाल।

उसके बाद वही हुआ। सीमा पार करते ही ये देशद्रोही सारे कागजात लेकर पहुँचे ब्रिटिश शिविर में। उनके पास थे आजाद हिन्द फौज के बहुत सारे अत्यन्त गुप्त कागजात। हाथ जोड़ कर खड़े हो गए—'आपकी सेवा करने के लिए बहुत तकलीफ उठा कर लौट आए हैं, साहब। आपके लिए बहुत सी जरूरी फाइल वगैरह साथ लाए हैं। यह देखिए साहब।'

उसके बाद तो बातों का जाल फैला कर बैठ गए। सिंगापुर से कैसे अपनी चालाकी से भाग निकलने में सफल हुए हैं। किस तरह से गोली कान की बगल से सांय-सांय निकल रही थी...वगैरह वगैरह।

यह बातें मेरी मनगढ़न्त नहीं हैं, मल्लिका। यह कलंकित गाथा, आजाद हिन्द फौज के प्रथम श्रेणी के एक आफिसर मेजर जनरल ए० सी० चटर्जी ने खुद कही थी। सुनो—

The Kalewar party led by Major M. S. Dhillon went up to North Burma from Rangoon first by train and then by elephants,

crossed the China Hills and surrendered to the British in that region.

Before starting from Rangoon Major Dhillon took with him some other officers (Captains Balwant Singh, Ram Singh, Parab) also who had escaped from Malaya but had been captured in Burma on the pretext that they must form a group in his party and go with him. All of them deserted.' [India's Struggle for Freedom : Major General A. C. Chatterji; P-45]

उधर आकियाव जाने वाला जत्था निकल चुका था। पहले नाव द्वारा मायू नदी पार किया फिर पैदल चलते रहे। किसी तरह सीमा पार होते ही भारत पहुँच जाएँगे।

रात बिताई बुथिडंग इलाके के एक ग्रामीण जमींदार के यहाँ।

उसके बाद नाव पर यात्रा। काक्स बाजार पहुँचने में अब देर नहीं है। उसके बाद ही सामान के साथ फैल जाना पड़ेगा बंगाल भर में।

परन्तु यह क्या ? विप्लवी तरुण दल चौंक पड़ा। पुलिस ? चारों तरफ से जल-पुलिस और मिलिट्री की सेना द्वारा वे लोग घिर चुके थे। उस मजबूत घेरे को तोड़ कर भागना संभव नहीं था।

पर यह हुआ कैसे ? कैसे किसी को पता चला कि वे आ रहे हैं। अवश्य ही किसी ने विश्वासघात किया है। कौन हो सकता है ? २०वीं सदी का मीर जाफर कौन है ?

मेजर महावीर सिंह ढिल्लन। पुरस्कार और उपाधि की लालच में उसी घृणित देशद्रोही ने ब्रिटिश सेना के आगे सब कुछ उगल दिया है। मेजर जनरल चटर्जी के शब्दों में—

'......they were surrounded and captured by the British forces who must have received previously all the necessary information from those who had deserted under the leadership of Maj. M. S. Dhillon to the British.' [Ibid : P-46]

अब सुनो, जो लोग सबमेरीन द्वारा आए थे उनका क्या हाल हुआ ?

सबसे पहले कालिकट के समुद्रीतट पर एम० ए० कादेर, एस० ए० आनन्दम् और तीन जने आ पहुँचे।

दूसरे दल में थे बेतार विज्ञान के ज्ञाता तरुण सत्येन वर्धन और अन्य चार लोग। इन्हें पहुँचना था काठियावाड़ के समुद्री तट पर।

अरब सागर—ओर-छोर दिखाई नहीं पड़ रहा था। लगातार लहरें उठ रही थीं—एक के बाद एक।

सहसा उस दिन एक सबमेरीन का पेरिस्कोप धीरे-धीरे पानी के बाहर निकला। बाद में पूरा जहाज।

न, आस-पास शत्रु तो क्या, एक मछुआरा भी नहीं। यही मौका है, पाँच मील की दूरी आसानी से तय हो सकती है।

बेतार ट्रान्समीटर के साथ रबर की डोंगी पर बैठ कर पाँचों चल पड़े किनारे की तरफ।

मन में कितनी आशायें, कितना साहस। हम आगे बढ़ेंगे—हम स्वाधीनता सेनानी हैं। हमें कौन रोक सकता है?

इधर सबमेरीन गायब हो चुका था। दोपहर बीती। शाम आई, फिर रात। ऊँची-ऊँची लहरों से जूझते हुए यह डोंगी धीरे-धीरे किनारे की तरफ बढ़ रही थी। बस, एक मील का रास्ता और होगा।

अचानक आकाश काला होने लगा। ठंडी हवा चलने लगी। सत्येन वर्धन का मुँह उतर गया। यह तो अच्छे लक्षण नहीं। लगता है तूफान आने वाला है।

अनुमान गलत नहीं था। सहसा जोरों से हवा का एक झोंका आकर झपट पड़ा। बस, फिर क्या था? समुद्र की शक्ल देखने लायक हो गई। लहरें आकाश छूने को तड़पने लगीं।

तूफान से जी-जान से लड़ते-जूझते पाँचों आगे बढ़ते रहे। परन्तु कहाँ किनारा? किनारे का तो नामोनिशान भी नहीं था। भयंकर हवा की चपेट में आकर कहाँ से कहाँ जा पहुँची थी डोंगी।

फलस्वरूप सारी रात पानी पर बिताना पड़ गया। पाँच मील का रास्ता इक्कीस घंटे में तय हुआ। पौ फट रही थी....रास्ते पर इक्का-दुक्का लोग चलने लगे थे।

सहसा एक ग्रामवासी कुछ देख कर ठिठका—वाह! बड़ी सुन्दर डोंगी है यह तो? लेकिन यह लकड़ी की नहीं, रबर की है। हमारे यहाँ तो ऐसी चीज मिलती नहीं है।

तब फिर यह डोंगी आई कहाँ से? यह लोग कौन हैं? कहाँ से आए हैं? बात फैलते देर ही कितनी लगती है? बात कुछ ही देर में थाने तक पहुँच गई। एक आदमी दौड़ा-दौड़ा पहुँचा—'रबर की डोंगी में कुछ लोग आये हैं, बाबू। देखो, न जाने कौन हैं?'

सुनते ही पुलिस आँधी के वेग से वहाँ जा पहुँची।

'कहाँ? कहाँ हैं वे लोग?'

एक सतर्क वाणी आई तो थी लेकिन वह लोग यहीं आ पहुँचेंगे, यह कौन जानता था।

सत्येन ने बड़ी कोशिश की कि जल्दी से आम लोगों के बीच घुल-मिल कर छिप जाएँ पर सारी कोशिश व्यर्थ हुई। जिन्हें मुक्त करने के लिये यह जान की बाजी लगा कर लड़ने आये थे, उन्हीं लोगों ने उन्हें पुलिस द्वारा पकड़वा दिया।

पहला जत्था जिसमें कादेर, आनन्दम् वगैरह थे वे भी अचानक ही पुलिस द्वारा पकड़े गये। पकड़ लिये गये फौज सिंह और दूसरे लोग भी। ये लोग आये थे पैदल।

इन सब को मद्रास कोर्ट में ले जाया गया। यहीं मुकद्दमा चलेगा, क्योंकि इनका अपराध था सम्राट् के विरुद्ध युद्ध करने का यत्न।

८ मार्च १६४३। सभी के अनजाने, बड़ी सावधानी और सतर्कता का ध्यान रखते हुए मुकद्दमा शुरू हुआ। एक भी भारतवासी जान न सके। अभी भी आन्दोलन की आग यहाँ-वहाँ भड़क रही है। ऐसी हालत में इन्हें अगर मालूम हो गया कि दक्षिण-पूर्वी एशिया में लोग तैयार हैं तब तो गजब हो जायेगा।

फैसला १ली अप्रैल को सुनाया गया। सत्येन वर्धन, अब्दुल कादेर, आनन्दम् और फौज सिंह को दिया गया मृत्युदण्ड। अपील करने पर एक जने को आजीवन कारावास।

कैदियों को इसकी परवाह नहीं थी। मानो मृत्यु उनके लिये खेल हो।

कन्डेम्ड सेल में कैद सत्येन ने अपने बड़े भाई को पत्र में लिखा :

'स्वाधीनता के लिये प्राण देना बंगाली के लिये कोई नई बात नहीं है। मुझे गर्व है कि भगवान् ने वह मौका मुझे दिया है।'

सत्येन पहले काम करते थे मलय में—डाक-तार विभाग में। परन्तु सुभाष की पुकार सुन कर सब छोड़-छाड़ कर मुक्ति-संग्राम में कूद पड़े थे। वहीं से ट्रेनिंग के लिए पेनांग गये।

वहीं इनका परिचय हुआ अब्दुल कादेर, फौज सिंह वगैरह से। १६ सितम्बर फांसी का दिन तय हुआ।

उस दिन शाम होते ही गाने की महफिल जमी। खूब गाने गाये गये। बीच-बीच में कविता-पाठ हुआ। भाषण दिये गये।

देखते-देखते पूरब की ओर लाली फूटने लगी। दूर से बूट की खट्-खट् सुनाई पड़ी....धीरे-धीरे पास आ रही थी।

'तैयार हो जाओ—चलना है।'

'हाँ, हम तैयार हैं। हम ठहरे आजादी के सिपाही—हम मृत्यु से कहाँ डरते हैं ? बोलो सब मिल कर—इनक्लाब जिन्दाबाद ! हिन्दुस्तान जिन्दाबाद।'

उसके बाद ही जैसा जहाँ था वैसा ही हो गया। मानो कुछ हुआ ही न हो।

सत्येन वर्धन, अब्दुल कादेर, आनन्दम्, फौज सिंह अपना कर्तव्य निभा कर चले गये।

और मेजर ढिल्लन ? वह घृणित देशद्रोही ? उसका क्या हुआ ?

नहीं, अंग्रेज इतने बेईमान नहीं। उसे विश्वासघातकता के लिए पुरस्कार स्वरूप 'ब्रिटिश साम्राज्य सदस्य' की उपाधि दी गई।

मेजर जनरल शाहनवाज के शब्दों में—

'On arrival at the front, however, a very prominent member of the party and a close and a trusted friend of Gen. Mohan Singh, betrayed the rest of the party by communicating with the British Forces and going over to them.

On arrival in India, this officer is said to have concocted hair-

raising stories about his heroic escape from Singapore. He also brought away with him some very secret I. N. A. documents and records, and he was rewarded for his treachery to his Comrades and country by being awarded the much-coveted honour of being made a Member of the British Empire.' [My Memories of I. N. A. and its Netaji : Maj. Gen. Shahanawaz Khan : P–49]

जानती हो, सर्फ ब्रिटिश सरकार ही नहीं, बाद में स्वाधीन भारत की सरकार ने भी इस प्रभुभक्त को खूब सम्मानित किया। भाई, भारत ठहरा गणतांत्रिक देश—यहाँ तो शत्रु-मित्र, धोखेबाज-बेईमान, सभी को बराबरी का हक है।

अगर एतराज किसी बात पर था तो बस आई० एन० ए० को स्वीकृति देने में था। इसका कारण बताया गया कि इन्होंने नेताजी के नेतृत्व में अंग्रेजों के विरुद्ध लड़ाई की थी। अपने खून से इम्फॉल की ज़मीन रंग दी थी। यह तो वही नेता जी हैं न, जिन्होंने गांधीजी का विरोध किया था और कांग्रेस से निकाल दिए गए थे। इसलिए उनके आई० एन० ए० को स्वीकृति देने का प्रश्न ही नहीं उठता है।

सोच कर आश्चर्य नहीं लगता, मल्लिका ? हम तो यही जानते हैं कि देश की स्वाधीनता के लिए जितनों ने प्राण दिए, प्रयास किया, लड़े—वे सभी हमारी श्रद्धा के हक़दार हैं।

लेकिन यहाँ तो इसी बात की दलबन्दी है। वह हमारा शहीद है, उसे सम्मान मिलना चाहिए। वह दूसरी पार्टी का है, उसे छोड़ो, उसकी बात भूल जाओ।

छोटा सा एक उदाहरण ले लो—

१९४९ के अप्रैल माह की बात है। तय हुआ, मुजफ्फरपुर निवासियों की चेष्टा से वहाँ शहीद खुदीराम का एक स्मारक-स्तम्भ स्थापित किया जाएगा। परन्तु नींव रखेगा कौन ?

खुदीराम पहले शहीद थे जिन्होंने फाँसी की सजा पाई थी। नींव रखने के लिए उपयुक्त व्यक्ति भारत के प्रधानमंत्री संग्रामी पुरुष जवाहरलाल को समझा गया।

आश्चर्य, उन्होंने इस आमंत्रण को यह कहते हुए अस्वीकार कर दिया कि खुदीराम फाँसी के मंच पर प्राण देने वाले प्रथम शहीद हो सकते हैं किन्तु वे कांग्रेस की अहिंसावादी नीति पर विश्वास नहीं करते थे, इसलिए उनके लिए यह सम्भव न था कि खुदीराम-समारोह में भाग लें।

कितने शर्म की बात है। छि: ! इसके बाद हमें क्या हक है खुदीराम का नाम लेने का ?

जवाहरलाल तो विप्लवी नहीं थे। वे क्या जानें मृत्यु या आजीवन कारावास का स्वाद क्या होता है ? मनोबल कितना अधिक होता होगा कि आदमी स्वेच्छा से हँसते-हँसते स्वयं अपने हाथों से फाँसी का फन्दा अपने गले में पहन लेता है। उन्हें यह अनुभूति क्यों होगी !

गलती तो स्मृति-रक्षा कमिटी की थी ? वे गए क्यों जवाहरलाल के पास ? बंगाल में तब भी —त्रैलोक्य महाराज, हेमचन्द्र घोष, डाक्टर यदु गोपाल जैसे महान् विप्लवी नेता जीवित थे । वे ही तो थे खुदीराम के सच्चे उत्तराधिकारी ।

'जिनका मृत्युंजय है प्राण
सारी तुच्छता से उठ कर
जिन्होंने अमर ज्योति है जलाई ।
उन्हीं के बीच तुम्हारा
हो नित्य परिचय ।
अगर उन्हें छोटा किया
तो आजीवन छोटेपन के अपमान
के हाथों बन्दी बने रहोगे ।'

कविगुरु की इन बातों को क्या हमने दिल से ग्रहण किया है ? आज जो लोग हर तरह की तुच्छता से ऊपर उठ चुके हैं, उनके प्रति हमारे राष्ट्रनायकों के मन में क्या जरा-सी भी श्रद्धा बची है ?

इसी सिलसिले में बुजुर्ग विप्लवी नेता श्रद्धेय प्रभासचन्द्र लाहिड़ी ने बड़े दुःख के साथ कहा था—

'खद्दरधारी कर्मियों में सभी को मैंने देखा है कि वे अतीत के विप्लवी युग के स्वतन्त्रता संग्रामियों के प्रति एक अकारण की घृणा और ईर्ष्याभाव तथा मानसिक अवहेलना का भाव मन में रखते थे । भूतपूर्व स्वर्गीय प्रधानमंत्री नेहरूजी, डाक्टर प्रफुल्ल घोष और श्री प्रफुल्ल सेन और दूसरे अनेकों तथाकथित गांधीवादी नेताओं में मैंने यह मानसिक दीन-भाव देखा है ।

वे खुले तौर पर भाषणों में, इन विप्लवी युग के स्वतन्त्रता संग्रामियों के लिए भले ही उच्छ्वासपूर्ण प्रशंसात्मक भाषा का प्रयोग करते हैं किन्तु व्यक्तिगत रूप से जब आपस में बातचीत करते हैं तब इनके मन का असली रूप भी मैंने देखा है ।

इसीलिए तो नेताजी सुभाष आज भी कांग्रेस के तथा वर्त्तमान कांग्रेस (क्षमतावान) के नेताओं के बीच स्थान नहीं पा सके हैं । काम निकालने के लिए यही कांग्रेसी नेताजी की जनप्रियता की बात कहते थकते नहीं हैं और भाषण समाप्त करते समय 'जयहिन्द' के नारे लगाते हैं, परन्तु उन्हीं 'जयहिन्द' ध्वनि के जन्मदाता को स्वाधीनता संग्राम का सेनानी मानने को तैयार नहीं हैं ।' [पाक भारत की रूपरेखा : साप्ताहिक वसुमती : ३० नवम्बर १९६७]

खैर, छोड़ो इन बातों को । चलो, पिछली बातों को देखें ।

उन चारों की फांसी हुई केवल विश्वासघातकता के कारण, परन्तु क्या किसी को पता नहीं था कि वह आदमी सन्देहजनक है ?

इस बात का उत्तर मेजर जनरल चटर्जी के वक्तव्य से मिलता है—

'Towards the end of the Conference in Bankok, a big dinner

was given in honour of the delegates attending the Indian Independence Conference.

I was sitting at one of the tables and overheard a confidential conversation between two high ranking officers, both of whom tried to sabotage the Movement and one of whom has been actually reinstated in the British India Army.

This was Major Mahabir Singh Dhillon, who then acting as the Quarter Master General of the supreme Command of the I. N. A. I reported the matter later to Rash Behari Bose. [India's Struggle for Freedom : P–23]

तो फिर बैंकांक सम्मेलन के समय से ही ढिल्लन का असली रूप दिखाई पड़ गया था—पहले श्री चटर्जी को, उसके बाद श्री रासबिहारी को। प्रश्न उठता है कि फिर भी जान-बूझ कर इसी आदमी को क्यों इतने बड़े काम का उत्तरदायित्व सौंपा गया ?

रासबिहारी ने मोहन सिंह को सतर्क नहीं किया था क्या ? किया था परन्तु व्यर्थ—'The G. O. C. did not care to receive 'instruction from the President.' [Rash Behari Bose—his struggle for India's Independence ; P–564]

परन्तु क्यों ? क्यों नहीं ध्यान दिया मोहन सिंह ने ?

अभी आगे चल कर बताऊँगा, पहले यह प्रसंग समाप्त हो जाए।

ये चार ही नहीं, ऐसे कितने मौत के घाट उतार दिए गए। किसी को पता तक नहीं चल पाया। खास कर तुरन्त। कोई बात मालूम हुई तो स्वाधीनता के बाद। कभी-कभी दो-तीन साल बाद पता चलता कि कितने विप्लवी चुपचाप, दुनिया की नजर और कान बचा कर फाँसी के फन्दों से लटका दिए गए हैं।

जैसा कि मद्रास समुद्री-तट की सुरक्षा-वाहिनी के विद्रोह करने पर हुआ था।

किसी को पता तक नहीं चल पाया था कि इतनी बड़ी घटना घटित हो गई है। पता चला था तीन साल बाद १६४६ में—मार्च के महीने में।

एक प्रश्न के उत्तर में समर-विभाग के सेक्रेटरी ने उस दिन केन्द्रीय परिषद् के सामने स्वीकार किया था कि—हाँ, ऐसी एक घटना घटित हुई थी।

बात ऐसी थी, मल्लिका—

१६४३ साल की बात थी। दूर बर्लिन से सुभाष की वाणी सुनने को मिली थी—'प्रस्तुत रहो, संग्राम शुरू होने वाला है।'

तटवर्ती सुरक्षा दल के सैनिकों ने भी यह पुकार सुनी। अलग-अलग ढंग से, अलग-अलग समय पर—

'Countrymen, when the British Empire is disappearing, the day

of India's deliverance approches. I want to remind you that in the year 1857 began India's first war of Independence. In May, 1942 has begun her last war of Independence. Gird up your loins. The hour of India's salvation is at hand.

अपने हाथों बनाई हुई सेना को सम्बोधित करते हुए कहा था—Brave soldiers, today you have taken an oath that you will give fight to the enemy till the last breath of your life under the National Tricolour. From today you are the soldiers of the Indian National Army of Free India. You have volunteered to shoulder the responsibility of forty crores of Indians. From today your mind, might and money belongs to the Indian Nation.

Oh Friends ! You have the honour to be the pioneer soldiers of Azad Hind Fauj, your name will be written in golden letters in the history of Free India.

दूसरे छोर से महान् नायक रासबिहारी के ओजस्वी स्वर गूंजे—

Independence India must have. Because her independence is essential for the regeneration of the whole world. It is not the end in itself, but it is a means to an end and that end is the destruction of imperialism and militarism and the creation of a better world for all to live in.

यह सब सुनते और रक्षादल के तरुण सिपाही उत्तेजित हो उठते ।

'साम्राज्यवाद का सर्वनाश हो । स्वाधीनता की इस लड़ाई में हम पीछे नहीं रहेंगे ।'

१८ अप्रैल की बात है । कुछ समझ में नहीं आया, न ही कुछ पता चला, परन्तु अस्पष्ट-सी एक खबर उड़ी कि कुछ बंगाली युवकों की गिरफ्तारी हुई है । मानकुमार बसु ठाकुर उनमें से एक हैं ।

मानकुमार बसु ठाकुर ?

रक्षावाहिनी के आश्चर्य का अन्त न रहा । यह तो विश्वास ही नहीं होता । उनकी तरह मेधावी सैनिक दूसरा नहीं था । तेरह बार सामरिक परीक्षा हुई थी और तेरहों बार वह प्रथम आए थे । उन्हें गिरफ्तार कर लिया गया ? परन्तु क्यों ?

अपराध ? वही, अंग्रेजों के विरुद्ध विद्रोह करने की चेष्टा—और क्या ?

कुल १२ अपराधी थे—मानकुमार बसु ठाकुर, दुर्गादास राय चौधरी, नन्द कुमार दे, चित्तरंजन मुखर्जी, फणीभूषण चक्रवर्ती, निरंजन बड़ुआ, सुनील मुखर्जी, कालीपद आइच, नीरेन मुखर्जी, अब्दुल रहमान, आर० एन० घोष और ए० के० दे ।

६ जुलाई को मुकदमा शुरू हुआ, परन्तु खुली अदालत में नहीं । बंगलोर के सेंट

एन्ड्रूज चर्च के अन्दर मिलिट्री कोर्ट में। आँख बचा कर, चुपचाप।

बाद में ऐसा ही हुआ था पवित्र राय, अमर सिंह गिल, हरिदास मित्र और यतीश बसु के साथ। उनके लिए अदालत बैठी थी कैमॉक स्ट्रीट के एक घर में। खैर, यह बाद की बात है।

५ अगस्त को राय प्रकाशित हुई। पहले ६ लोगों को मृत्युदण्ड। अब्दुल रहमान और आर० एन० घोष को आजीवन क़ैद। ए० के० डे को सात साल की सश्रम क़ैद।

२७ सितम्बर १९४३—इन देशप्रेमियों को अपने प्रेम-प्रदर्शन का दण्ड स्वीकार करना पड़ा। लटकना पड़ा फाँसी के फंदे से। कहा जाता है कि कैदियों के चेहरे पर एक शिकन तक नहीं थी। उन्होंने एक दूसरे को गले से लगाया और एक साथ बोले—'वन्देमातरम्। विप्लव दीर्घायु हो। आजाद हिन्द जिन्दाबाद, नेताजी सुभाष बोस जिन्दाबाद।'

पलक झपकते ६ तरुण युवकों के प्राण ले लिए गए और किसी को मालूम तक नहीं हुआ। यहाँ तक कि अखबारवाले भी नहीं जान सके।

पूरे ३ साल बाद, १८ मार्च १९४६ को केन्द्रीय व्यवस्था परिषद् को बताया गया।

उस समय के समाचार दैनिक का अंश है यह—

'१८ मार्च—आज केन्द्रीय व्यवस्था परिषद् में प्रश्नोत्तर देते हुए स्वराष्ट्र सचिव सर जॉन थार्न ने बताया कि 'पिछले युद्ध के समय शत्रु-गुप्तचर आर्डिनेन्स में, मद्रास, दिल्ली और कलकत्ते में ४२ व्यक्ति गिरफ्तार हुए थे।

जिनमें से २७ को मृत्युदण्ड, १ को ५ वर्ष का कारावास और १४ को छोड़ दिया गया था। २७ मृत्युदण्ड प्राप्त लोगों में से १४ को बाद में आजीवन कारावास हुआ। केवल १३ को फाँसी।'

इस समाचार ने सारे भारतीयों को स्तब्ध कर दिया। इतने लड़के उस दिन फाँसी पर टाँग दिए गए और किसी को पता तक नहीं चला? यह बात तो विश्वास करने लायक नहीं।

बंगाल की एक समकालीन पत्रिका के सम्पादकीय में लिखा था—

'युद्ध के दिनों में मद्रास के क़िले में भारतीय गोलंदाज सेना के नौ सैनिक—जमादार मानकुमार बसु ठाकुर, एन० के० डे, हवलदार डी० डी० राय चौधरी, हवलदार एस० के० मुखर्जी, हवलदार एन० बरुआ, नायक पी० चक्रवर्ती, नायक सी० मुखर्जी, गनर के० पी० आइच—वगैरह को फाँसी दे दी गई।

और गनर अब्दुल रहमान, गनर आर० एन० घोष को आजीवन कारावास और गनर ए० के० डे को सात साल का सश्रम कारादण्ड हुआ है, यह खबर नई दिल्ली से मिली है।

यह सभी लोग किशोर वयस्क थे या उनसे कुछ अधिक। १७ से २४ वर्ष की

आयु होगी इनकी। प्रकाशित नामों की सूची से ज्ञात होता है ये सभी बंगाली थे।

सुनने में आता है कि मिलिट्री अदालत में सीधे मुकदमा चला और राय दी गई है कि उन्हें अपने पक्ष में कहने का कोई अवसर नहीं दिया गया है।

यह भी नहीं लगता है कि इस मामले में इनके रिश्तेदारों को भेंट-मुलाकात का मौका भी मिला होगा। इसलिए लोगों की आड़ ले कर क़ैदखाने में ही सारी बातें निपटा दी गईं।

इन्होंने कौन सा कुसूर किया था यह निश्चित रूप से कहना मुश्किल है, जानना भी मुश्किल ही है, परन्तु खबर पढ़ कर लगता है कि पराधीन देश में जो सबसे बड़ा अपराध है उसी तरह का अपराध किया होगा, क्योंकि खबर से पता चलता है कि फाँसी का फंदा गले में डालने से पहले प्राणदंड प्राप्त युवकों ने एक दूसरे को गले लगाया था और राष्ट्रीय गान गाते हुए फाँसी के मंच पर जा कर खड़े हो गए थे।

इतने सारे बंगालियों की अकालमृत्यु से समस्त बंगाली समाज स्तब्ध रह गया है। यह बात छिपी रहने का दुःख और भी दुःखदायी था।

जेल के अन्दर जो घटनायें घट रही हैं, उन्हें गुप्त रखने का सरकार का यह आग्रह क्यों, समझ में नहीं आता। ऐसा आग्रह वे प्रायः दिखाते हैं।

....कारागार के गुप्त कक्षों में भारतीय स्वदेश-प्रेमी सन्तानों को बंधन, पीड़ा का अन्त करने का भारतीयों ने संकल्प किया है। सरकार अगर इस सत्य को अभी तक नहीं समझ सकी है तो वे अपनी मुसीबत आप बुला रहे हैं। मानवधर्म की जलन भरी वेदना अब ढँकने-तोपने से जाने की नहीं।' [साप्ताहिक देश : ३० मार्च, १९४६]

भारत गणतन्त्रात्मक देश है, मल्लिका। बाहर वाले कहते हैं भिखारी देश है। क्योंकि भिक्षा ही आज हमारा एकमात्र सहारा है--ऐसा कहा जाता है।

परन्तु उसी भिक्षा से मिले धन में से करोड़ों रुपए खर्च कर के प्रचार किया जा रहा है—'बिना युद्ध किए, खून बहाए, बिल्कुल अहिंसा के रास्ते पर चल कर हमने स्वाधीनता पाई है।'

अगर ऐसी बात है तो विप्लवियों के अर्द्ध-शताब्दी व्याप्त विप्लव का, इतिहास में लिखी सैकड़ों शहीदों की गाथा का, अर्थ क्या है? ये लोग थे कौन? ये जो लोग मरे, प्राण-दान दिया, रक्तपात किया—वह सब किसलिए?

दो यन्त्र अगर अलग-अलग स्वरों में बँधे हों तो एक ही राग अलापना मुश्किल होता है।

इसके प्रमाण थे रासबिहारी बोस और मोहन सिंह।

रासबिहारी लम्बे अरसे से जापान में रह रहे थे। जापानियों का सब कुछ वे बारीकी से जानते-समझते थे। इसके अलावा वे एक उच्चकोटि के राजनीतिज्ञ थे। वे जानते थे कि कैसे कूटनीतिज्ञ चाल चलने पर काम बन सकता है।

दूसरी तरफ मोहन सिंह एक योद्धा-मात्र थे। उनको कूटनीति का कोई ज्ञान न था। फलस्वरूप वही हुआ जो स्वाभाविक था। देखते ही देखते दोनों के बीच विरोध की दीवाल उठ खड़ी हुई।

शुरुआत इतनी अच्छी हुई थी। बैंकाक सम्मेलन हुआ था जून के महीने में। उसके बाद शुरू हुआ था काम ही काम। स्वाधीनता का स्वप्न देख रहा है दक्षिण-पूर्व एशिया का हर प्राणी।

सम्मेलन के प्रस्ताव के अनुसार शहरों और बन्दरगाहों में, हर जगह लीग की शाखाएँ स्थापित हो गईं। इसी के साथ शुरू हुआ प्रचार-कार्य।

इनका प्रमुख प्रचार का साधन था सिंगापुर और सॉइगाम रेडियो। सिंगापुर रेडियो से लीग के प्रत्येक कार्य का संचालन करते थे मेजर इर्शाद अली साहबजादा। कर्नल ईशान कादिर, कर्नल नागर, कर्नल हसन पर था साइगॉन रेडियो का भार।

इसके अलावा समाचार-पत्र भी माध्यम था। सिंगापुर से भारत की विभिन्न भाषाओं में प्रकाशित होने वाला दैनिक 'आजाद हिन्द' एक-एक हिन्दू पढ़ता था। इसी के साथ असंख्य पुस्तकें पुस्तिकाएँ भी थीं।

सेना की प्रमुख तीन टुकड़ियाँ थीं—गांधी रेजीमेन्ट, आजाद रेजीमेन्ट और नेहरू रेजीमेन्ट। इसी के साथ था स्पेशल सर्विस ग्रुप, इन्टेलिजेन्स ग्रुप, री-इन्फार्मेशन ग्रुप, रेजीमेन्ट ऑफ फील्ड फोर्स, आर्टिलरी यूनिट, सॉजोया गाड़ी यूनिट, इन्जीनियरिंग यूनिट, मेडिकल एड पार्टी, बेस हॉस्पिटल इत्यादि।

आफिसर्स ट्रेनिंग स्कूल की स्थापना हुई। भविष्य में आजाद हिन्द फौज में और ऑफिसरों की जरूरत को ध्यान में रख कर यह व्यवस्था की गई।

१ली सितम्बर १९४२ में आजाद हिन्द फौज का आनुष्ठानिक ढंग से संगठन हुआ। यह निश्चित हुआ कि सेना परिचालित होगी एक कौंसिल ऑफ एक्शन या संग्राम-परिषद् के निर्देश पर, जिसका संचालन करेंगे मोहन सिंह, एम० राघवन, के० पी० के० मेनन, क्यू गिलानी वगैरह। सभापति रासबिहारी बोस ही रहेंगे।

इन्होंने समस्त ब्रिटिश रैंकों का परित्याग किया और इन्हें नई पदवियाँ दी गईं। सभापति के आदेश पर मोहन सिंह को 'जनरल' पद पर सुशोभित किया गया। आजाद हिन्द फौज के जी० ओ० सी०।

कैप्टन से जनरल—ऐसा उदाहरण मिलना दुर्लभ है। यद्यपि मोहन सिंह से कहीं ज्यादा सीनियर लोग थे आजाद हिन्द फौज में। जैसे—कर्नल गिल थे, कर्नल भोंसले, मेजर मेहताब सिंह, मेजर भगत जैसे प्रमुख अफसर थे परन्तु किसी ने इस बात पर कोई एतराज नहीं किया था। सभी के सामने एक ही लक्ष्य था—आजादी—उसमें छोटे-बड़े का सवाल नहीं उठता था।

परन्तु यही पतन का कारण बना।

कुछ दिनों बाद सभी ने महसूस किया कि मोहन सिंह अब पहले वाले मोहन सिंह नहीं रहे। शक्ति और क्षमता हाथों में आते ही उनके मिजाज बदल चुके थे।

पहला विरोध आरम्भ हुआ एक फैसले पर।

अचानक पता चला कि परिषद् से पूछे बगैर उन्होंने जापानी कर्नल याकूरो की इच्छा पर सैनिकों की एक टुकड़ी बर्मा भेज दी है।

इस खबर से रासबिहारी बोस तथा संग्राम-परिषद् के सदस्यगण बड़े दुःखी हुए। जी० ओ० सी० होते हुए भी किसी तरह का सैनिक सम्बन्धी सैद्धान्तिक निर्णय मोहन सिंह अकेले नहीं ले सकते थे। यह काम संग्राम परिषद् का था। इनसे बिना पूछे उन्होंने बर्मा में सैनिक क्यों भेज दिए ?

रासबिहारी के शब्दों में—'In the latter part of November, it came to light that Mr. Mohan Singh as G. O. C. of the I. N. A. had arranged with the Iwakweo Kikan for the transport of some I. N. A. troops to Burma for the purpose of training. As advance party was sent by the G. O. C. to Rangoon without the consent of the Council of Action, naturally the Council of Action wished to know about the move in greater detail and was not prepared to sanction movement of troops without its knowledge.

...I regret to have to say that in matters connected with the I. N. A., the G. O. C. arrived at important decisions without reference to the Council of Action. In fact the Council was kept almost in darkness with regard to various important activities of the I. N. A.—a state of affairs which were tried to rectify.

I thought it was vitally important that the Council of Action should immediately take control of the policy regarding the army and all questions of major importance should be decided by the council and not by the G. O. C. I had to write to Col. Iwakweo to that effect so that no further mistakes would be committed.' [Rash Behari Bose—his struggle for India's Independence, P—228]

अपनी गलती जी० ओ० सी० मोहन सिंह ने स्वीकार कर ली और वचन दिया कि भविष्य में बिना संग्राम-परिषद् से पूछे कोई काम नहीं करेंगे।

General Mohan Singh could give no satisfactory reply and apologised for not informing the Council of Action and promised in future to refer such matters to the Council.' [My memories of I.N.A. & its Netaji : Maj. Gen. Shahnawaz Khan, P—51]

उस पर भी बैंकाक सम्मेलन में पास हुए एक प्रस्ताव को लेकर मनमुटाव शुरू हुआ। जून में बैंकाक सम्मेलन हो चुका था, फिर भी जापान सरकार के पास से कोई सन्देश नहीं आया था। जो कुछ पता चल रहा था वह अस्पष्ट था। देर होते देख कर्नल

याकूरो को एक पत्र लिखा गया। उनसे पूछा गया कि जापान सरकार ने क्या तय किया इसकी शीघ्र सूचना चाहते हैं।

कर्नल याकूरो ने भारतीयों को समझाने का प्रयत्न किया। उन्होंने कहा—'यह पत्र टोकियो गया तो दोनों पक्षों के बीच गलतफहमी पैदा होगी। इससे अच्छा होगा कि यह पत्र आप वापस ले लें। मैं देखता हूँ क्या बात है।'

संग्राम-परिषद् ने यह बात मान ली। ठीक है, हम थोड़े दिनों तक और प्रतीक्षा कर लेंगे।

नवम्बर तक चुप रहने के बाद फिर यह प्रश्न सिर उठाने लगा। फिर परिषद् स्पष्ट उत्तर की माँग करने के लिए उत्तेजित हो उठी।

रासबिहारी ने मना किया—'धैर्य मत खोओ। बड़ी कठिनाई से यह संस्था बन कर तैयार हुई है। दिमाग़ ठंडा नहीं रखा तो सब कुछ मिट्टी में मिल जाएगा। ज़रा सोचो, हमारे पास है ही क्या? हमारी ताक़त ही कितनी है? हमारे पास लड़ाई की सामग्री ही कहाँ है? उनके पास शक्ति है। वे चाहते तो बर्मा जीतने के साथ-साथ भारत में घुस सकते थे। ऐसा न करने का केवल हम ही कारण हैं।'

'They can even smash Britain's inadequate defences in India without as much as crossing the borders. But they are holding their hands in the hope that Indians themselves will rise and drive the alien forces out of the country and establish a free India without their intervention.' [Rash Behari Bose—his struggle for India's Independence : P—188]

अर्थात् रासबिहारी का कहना था, 'शान्त रहो, जापान हमारी मदद करेगा ही। हमारे लिए नहीं भी करे, अपनी गरज से तो करेगा ही, क्योंकि दुश्मन तो उनका और हमारा एक ही है। उसे मारे बगैर कैसे निश्चिन्त हो सकेगा? इस समय बुद्धि से, कूट-नीति से काम लो। इस समय जापान दूसरी जगह लड़ाई में व्यस्त है, इसीलिए इतने बड़े मसले पर विचार करने में उसे समय लग रहा है। तुम लोग परेशान न हो, जरूरत होगी तो मैं स्वयं जाऊँगा जापानी मन्त्रि-परिषद् से बातचीत करने। मैं राघवन के साथ टोकियो जाऊँगा।'

२६ तारीख को कर्नल योकूरा को पत्र भेजा गया—'हमारी ओर से कोई बात नहीं कहनी है। तुम्हें कुछ कहना हो तो कहो वरना यहीं सब खत्म।'

४ दिसम्बर को जनरल मोहन सिंह, कर्नल गिलानी, राघवन, मेनन, कर्नल एन० एस० गिल जैसे उच्च स्थानीय सेनानी रासबिहारी के बुलाने पर सिंगापुर के सी व्यू होटल में एकत्रित हुए।

वहाँ भी यही कहा गया कि जापान को १ली जनवरी तक उत्तर दे देना है वरना हम सभी आई० एन० ए० से पदत्याग करेंगे।

यहाँ फिर रासबिहारी ने समझाया—'याद रखो, तोड़ना आसान होता है,

बनाना मुश्किल। आई० एन० ए० के टूटने से उनकी नहीं, हमारी क्षति होगी। इसलिए तुम लोग मुझे जनवरी के अन्त तक का समय दो। इस बीच कुछ न कुछ समझौता मैं कर ही लूंगा।'

सभी मान गए कि ठीक है, जनवरी तक हम कुछ नहीं करेंगे।

लेकिन दूसरे ही दिन कुछ और सुनने में आया। ये लोग कहने लगे कि हमें १ली जनवरी को ही जवाब चाहिये। वरना आई० एन० ए० के किसी मामले में हम नहीं हैं।

रासबिहारी के शब्दों में—'On the 4th December, at my request the members of the Council agreed to give me time till the end of January 1949, to enable assurance from the Japanese Government. I was glad that I was given further time to attempt at solution of those difficult questions before my colleagues resigned.

The next morning, that is on 5th December, I was surprised, therefore, to hear from Mohan Singh, Col. Gillani and Sri K. P. K. Menon that not withstanding the previous day's decision they were not prepared to carry on the movement unless an assurance was immediately given that a reply to Bankok resolutions in detail would be obtained on or before 1st January, 1943.

As far as I know there was no one in Malaya capable of giving such an assurance. Moreover it was ultimatum to the Japans Government which would have offended them. I then realized that an attempt was being made to obstruct the sowving of the question in issue in order to reck the movement. This I was not prepared to agree to. [Ibid : P—229]

८ दिसम्बर को अचानक ही सारी बातों का अवसान हो गया। अचानक ही कर्नल गिल के पास जापानी मिलिट्री पुलिस जा पहुँची—'गुप्तचरी और षड्यन्त्र के अपराध में तुम्हें क़ैद किया जाता है। चलो जेल।'

कुछ तुम्हारी समझ में आया, मल्लिका ? इसके पीछे भी मेजर महावीर सिंह ढिल्लन ही का हाथ था। उसने भारत पहुँच कर अंग्रेजों के सामने आत्म-समर्पण ही नहीं किया था, अपने सभी सहयोगियों को पकड़वा भी रहा था।

उस दिन इसी मेजर ढिल्लन को भारत भेजने के लिए किसने चुना था ? इन्हीं कर्नल गिल ने—अब इसका फल भोगो।

इसका परिणाम भयंकर हुआ। तुरन्त जनरल मोहन सिंह तथा संग्राम-परिषद् के अन्य सभी सदस्यों ने रासबिहारी के समक्ष अपना त्यागपत्र भेज दिया। गिल की गिरफ्तारी ने उन्हें चौंका दिया था। वे आई० एन० ए० से किसी तरह का सम्बन्ध बनाए

नहीं रखना चाहते थे।

मोहन सिंह स्थानीय जापानी अफसर मेजर फुजियारा से कैफियत तलब करने जा पहुँचे—'आपने कर्नल गिल को क्यों पकड़ा है ? वे एक सच्चे देशभक्त हैं, यह मैं जानता हूँ। वे ब्रिटिश गुप्तचर हैं, आपके पास इसका कोई सबूत है ?'

मेजर फुजियारा ने विनम्र भाव से बताया—'है। हमें खेद है कि यह अप्रिय काम हमें करना पड़ा, परन्तु विश्वास मानो, इस मामले में हम निरुपाय हैं।'

मेजर फुजियारा के दिए हुये तथ्यों में से कितने सच्चे थे, कितने झूठे या गलत, यह मैं नहीं बता सकूँगा मल्लिका, परन्तु यह सच है कि कुछ अभियोग बड़े गम्भीर थे।

एक नहीं— अनेकों अभियोग थे—असंख्य। और भी आश्चर्य की बात थी कि निर्देश टोकियो से आए थे। वह भी कई बार—एक ही बात जिसमें कही गई थी कि कर्नल गिल पर कड़ी नजर रखी जाए।

जब कर्नल गिल टोकियो, साइगॉन, बैंकाक, पेनांग, बर्मा वगैरह में थे तो वहाँ जो भी सन्देहजनक काम किए या उनमें लिप्त रहे उसकी सूची भी थी।

बाद में मलय से प्रकाशित ग्रन्थ 'चलो दिल्ली' (Chalo Delhi) में इस बारे में लिखा था—

'On the 18th November, 6 British officers landed by parachutes on Pegu and they were arrested. From investigation made after deciphering the British code, the Japanese authorities had come to the conclusion that Col. Gill was a British agent. Those six parachutists confessed that they had three objects : (1) to contact Col. Gill and Major Dhillon;(2) to spread confusion and distrust between the Ja anese and the I. N. A.; (3) to find the movement of the Japanese for cs.

Under these charges Col. Gill was taken for invest tion.'
[Chalo Delhi : S. A. Das & K. B. Subbaih, P.-82]

अर्थात् १८ नवम्बर को छह पैराशूटवाही ब्रिटिश ऑफिसर जापानियों के हाथों पकड़ लिए गए। उनके साथ सांकेतिक भाषा में लिखित कुछ गुप्त कागजात थे। सांकेतिक शब्दों को विशेषज्ञों द्वारा पढ़े जाने पर पता चला कि कर्नल गिल अंग्रेजों के एजेन्ट हैं। उन छह पैराशूटधारियों ने स्वीकार किया कि उनके आगे तीन ध्येय थे—(१) कर्नल गिल और मेजर ढिल्लन से सम्पर्क स्थापित करना, (२) जापानियों और आई० एन० ए० के बीच मतभेद और भ्रान्ति उत्पन्न करना और (३) जापानी सेना की गतिविधि का पता करना।

इन चार्जों के साथ कर्नल गिल को छानबीन के लिए ले जाया गया था।

बस, अब प्रचार, अपयश के साथ शुरू हो गया। जापानियों के विरुद्ध ही नहीं, रासबिहारी के विरुद्ध भी। रासबिहारी जापानियों के हाथ में कठपुतली हैं। लम्बे अरसे

तक जापान में रहने के कारण वे स्वयं भी जापानी हो गए हैं। वे क्या भारत के प्रति वफादार होंगे ?

परिस्थिति की जटिलता देख कर रासबिहारी का हृदय टूट गया। उन्होंने बड़े ही मार्मिक शब्दों में देशवासियों से कहा—'ये लोग मुझे जापानियों के हाथ का कठपुतला कह रहे हैं। ठीक है—यही कहें।

मैं बूढ़ा हो गया हूँ। अस्वस्थ हूँ। बहुत दिन हुए मातृभूमि से निर्वासित हूँ। विश्वास मानो, स्वाधीनता प्राप्त करने के बाद मातृभूमि के एक कोने में चुपचाप पड़े-पड़े मृत्यु का वरण करूँ, इसके सिवा मेरी और कोई इच्छा नहीं। आन्तरिक इच्छा है कि व्यर्थ ही गलत समझ कर स्वाधीनता प्राप्त करने के पवित्र प्रयास को तुम सब असफल मत कर देना।'

'If my opponents call me a puppet, let them do so. But let me assure them that they are sinning against a man whose only end, and aim in life is to see his country free, absolutely free and independent, who is as proud of his birth-right as any Indian alive and who has staked his all and who will stake the last drop of his blood in upholding the honour and integrity of Hindustan.

I seek nothing from life except the success of our mission. If once it is accomplished I shall retire into seclusion in some nook or corner of our beautiful homeland.

The full and complete independence of Hindusthan is our objective and let no differences, personal or otherwise, colour or creed obstruct the issue.' [Chalo Delhi : P-12]

उन्होंने १२ दिसम्बर को मोहन सिंह को लिखा कि सारे उच्चाधिकारियों के साथ तुम मेरे पास आओ। मैं तुम सब को सारी बातें समझा देना चाहता हूँ।

उत्तर दूसरे ही दिन मिल गया। १३ दिसम्बर को। परन्तु उत्तर देख कर आश्चर्यचकित रह गए वे। वे ठहरे संग्राम-परिषद् के सभापति, मोहन सिंह एक सदस्य मात्र—उन्होंने क्या उत्तर दिया, यह पढ़ो—

मेजर जनरल शाहनवाज ने अपने ग्रन्थ में लिखा है—'He wrote a letter to Gen. Mohan Singh and asked him to send some senior officers to meet him at his residence in Singapore so that he could explain the situation to them.

Gen. Mohan Singh, however, sent a very curt reply stating that no officer liked to see him and Gen. Mohan Singh would allow no one to go and see him.' [P-55]

और आगे क्या लिखा था सुनो........'it is apparent from your corres-

pondence that you are not only totally ignorant of anything pertaining to an army but have some foolish and misguided notions about it.......

....It is merely written as a courtesy and to avoid future unnecessary instructions by you to the army. Needless to say that, if you still persist in writing anything, it will not be answered,' [Chalo Delhi, P-90-91]

हाँ, उस दिन महान् विप्लवी नेता रासबिहारी बोस को मोहन सिंह ने यही लिखा था। उस मोहन सिंह ने जिसे रासबिहारी ने तीन महीने पहले कैप्टन के मामूली से पद से जनरल के उच्चस्थान पर बैठा दिया था। वही मोहन सिंह कह रहा था कि उनकी धारणाएँ मूर्खतापूर्ण और विभ्रान्त हैं। उसी ने लिखने का दुःसाहस किया कि भद्रतावश यह पत्रोत्तर दे रहा हूँ ताकि भविष्य में अवांछित हिदायतें वह सेना को न दें।

दो सप्ताह बीत गए, परन्तु स्थिति में कोई सुधार न हुआ।

सभापति रासबिहारी का कहना था कि—दक्षिण-पूर्व एशिया की संग्रामी जनता की एक ही संस्था है—'इण्डियन इन्डीपेन्डेन्स लीग'। १९२४ से यह लीग दक्षिण-पूर्व एशिया के कोने-कोने से लड़ती आ रही है। यह लीग ही यहाँ की भारतीय जनता की अस्थाई स्वाधीन सरकार है।

बेंकाक सम्मेलन में स्वीकार प्रस्ताव के मुताबिक नवसंगठित आजाद हिन्द फौज इस अस्थाई स्वाधीन सरकार की एक बलिष्ठ भुजा है। इसका संचालन करेगी कौंसिल ऑफ एक्शन। व्यक्तिगत इच्छा या मनमौजीपन का यहाँ प्रश्न नहीं उठता है। उनके ही शब्दों में—

'In accordance with the resolutions of the Bankok conference Indian National Army is a part of the Indian Independence League and every officer and man of the I. N. A. is a member of the Indian Independence League and owes allegiance to the League.

It must be understood that an army is an army of a Country and not of an individual; so it was wrong of I. N. A. personnel to give allegiance to an individual, without raising an objection.' [Rash Behari Bose : his struggle for India's Independence : P-226]

मोहन सिंह इस बात को मानने को तैयार नहीं थे—वे ठहरे आजाद हिन्द फौज के जी० ओ० सी०—बहुसंख्यक सैनिक उनके प्रति वफादार थे। इसीलिए उनका कहना था कि वे ही संस्था के सर्वेसर्वा हैं। इस मामले में परिषद् या सभापति की राय का प्रश्न ही नहीं उठता है। आजाद हिन्द फौज तोड़ देनी पड़े तब भी वे किसी और के अधिकार को नहीं मानेंगे।

रासबिहारी के शब्दों में—'He wanted to have a free hand in his

undertaking and as such, he would not bear the idea of being interfered with by others in his work, but constitutionally he had to work under the Council of Actian.

In order to sweep away this restriction, he intensified his exercise of dictatorial influence over the I. N. A. and infused wrong ideas into the minds of his officers and men that the army belonged to him, and that he was its master. [Ibid : P-231]

इस मामले मे सबसे पहले टोकियो सम्मेलन में तय हुआ था :

'The Council of Action shall be responsible for the working out of the general policy and in such working out they shall appoint departmental officers for the purpose of administration.' [Chalo Delhi : S. A. Das & K. B. Subbaiah : P-16]

उसके बाद बैंकाक सम्मेलन। वहाँ पैंतीस प्रस्ताव पास हुए थे। कौंसिल ऑफ एक्शन के बारे में कहा गया था—

'The Council of Action shall have general superintendence and control over all branches of the Indian Independence League in all territories mentioned in article (vi) and over the Indian National Army.' [Rash Behari Bose—his struggle for India's Independence, P-88]

और एक जगह पर इससे भी ज्यादा स्पष्ट कर दिया गया था—'Resolved that the Indian National Army shall be under the direct control of the Council of Action and that the said Army shall be organized and commanded by the General Officer Commanding, Indian National Army in accordance with the directions of the Council of Action.' [Ibid : P-89]

इससे स्पष्ट है कि कौंसिल ऑफ एक्शन ही सब कुछ थी। जी० ओ० सी० सेना का संचालन जरूर करेंगे लेकिन वहाँ भी वे जो कुछ करेंगे इसी कौंसिल के निर्देश पर ही करेंगे।

२१ दिसम्बर को मोहन सिंह ने सेना के पास निर्देश भेजा—

'. . A confirmatory order will be sent out as soon as arrangements with the Japanese are complete. In the event of my being deported from you before such an order is issued, the disolution will take place automatically and immediately.

Also at the same time the resignation of all the members of the I. N. A. and their release from obligations and undertakings to

me and the I. N. A. will be taken for granted....' [Chalo Delhi : P–92]

अब क्या करेंगे रासबिहारी ?

क्या वे बैठे-बैठे इस राष्ट्रीय संस्था को टूटते हुए देखें ? ऐसा नहीं हो सकता—जिस संस्था को तिल-तिल जोड़ कर बनाया था, उसको मिटते हुए कैसे देख सकते हैं ? इसे वे नष्ट नहीं होने देंगे—जैसे भी होगा, बाधा देंगे ही ।

मोहन सिंह ने आई० एन० ए० के निर्माण के मामले में कम उल्लेखनीय भूमिका नहीं निभाई थी, लेकिन आज उनके मनोभाव को प्रश्रय देना उचित न होगा ।

स्वाधीनता सर्वोपरि है । इसके लिए गलतफहमी पैदा हो सकती है । कड़ आहट होगी । किसी-किसी को लगेगा कि अधिक कठोरता बरती जा रही है । परन्तु वे निरुपाय हैं । युद्ध-स्थल पर खड़े होकर मिलिट्री डिसिप्लिन तो मानना ही पड़ेगा ।

२६ दिसम्बर को प्रातःकाल निर्णय लिया गया ।

सेक्रेटरी बी० के० दास के साथ रासबिहारी तथा अन्य प्रमुख व्यक्ति उस दिन जापान-भारत संयुक्त रक्षाकारी 'याकूरो किकान' के दफ्तर में उपस्थित थे ।

मोहन सिंह की प्रतीक्षा हो रही थी । कर्नल याकूरो ने फोन द्वारा उन्हें बुलाया था ।

कुछ ही देर में मोहन सिंह लेफ्टिनेन्ट इकबाल के साथ आ पहुँचे ।

'क्यों बुलाया गया है ?'

कर्नल याकूरो ने चुपचाप एक पत्र उनकी ओर बढ़ा दिया—सेना के जी० ओ० सी० होने के नाते आगे से आपको इन नियमों को हू-बहू मानना पड़ेगा ।

'राजी हैं ?'

'नहीं'—मोहन सिंह का संक्षिप्त उत्तर था ।

दूसरी चिट्ठी बढ़ा दी इस बार कर्नल याकुरो ने—सभापति रासबिहारी के आदेश से तुम्हें जी० ओ० सी० के पद से हटाया जा रहा है । आज से तुम कैद हुये । परन्तु कैदी जीवन में भी तुम्हें पूरा सम्मान दिया जाए यह सभापति का आदेश है ।

क़ैद हुए । उन्हें सात ऑफिसर, दो अंगरक्षक और अरदली, खाना बनाने के लिए बावर्ची वगैरह के साथ समुद्र के किनारे, एक बंगले में रखा गया । दो महीने बाद सेन्ट जॉन द्वीप में । साल भर बाद सुमात्रा और वहीं से ब्रिटिश के हाथ लगे ।

उधर जो मुसीबत आनी थी वह आ ही गई । मोहन सिंह को शक हो गया था, इसीलिए चलते समय एक बन्द लिफाफा सहयोगियों को दे गए थे । 'मेरे साथ कुछ होते ही फौरन आई० एन० ए० भंग कर देना और फिर कभी इसमें भाग न लेना । सारे परिचय पत्र नष्ट कर देना । यह मेरा जी० ओ० सी० की हैसियत से अन्तिम आदेश है ।'

यही हुआ । उनके क़ैद होने की सूचना मिलते ही अधिकतम सदस्य अलग हो गए संस्था से । उन्होंने यूनिफार्म और बैज वापस कर दिये ।

परन्तु ऐसा दगाबाज हर कोई नहीं था । मेजर जनरल चटर्जी ने मोहन सिंह की

इस हरकत का बिल्कुल ही समर्थन नहीं किया था—

'General Mohan Singh wrote a most unfortunate letter to the President of the Council of Action and issued an order to the Army which he left in a sealed cover. In this order he wrote that if he was arrested the officers should dissolve the Army and destroy all documents.

He also enjoined on the officers and men to take an oath not to join any Indian National Army if it were formed again. This action was beyond his powers, and was against the discipline of the Army.' [India's struggle for freedom : P–49]

रासबिहारी का भी यही कहना था—'नीति की दृष्टि में अगर मतभेद हो तो किसी को भी पद त्याग करने का अधिकार है। मोहन सिंह या मैं—दोनों के लिए एक ही नियम है। परन्तु आई० एन० ए० राष्ट्रीय सम्पत्ति है। इसे तोड़ने का अधिकार किसी को नहीं है। यह अपराध क्षम्य नहीं।'

फिर भी संस्था टूट ही गई। सेना का एक विशाल अंश कुछ समय के लिए अलग हो ही गया। परिणाम-स्वरूप हर काम में देर होने लगी। उस समय घायल ब्रिटिश सिंह आखिरी साँसें ले रहा था—बस, एक चोट भर की जरूरत थी। वह पड़ जाती तो हमेशा-हमेशा के लिए भारत छोड़ कर भाग गया होता।

लेकिन इस देर ने उसे संभलने का मौका दे दिया। अमेरिका की मदद से वह धीरे-धीरे उठ कर बैठ गया।

जापान का भी यही विचार था। बेमतलब की गलतफहमी के कारण एक साल बरबाद हो गया, वरना इम्फॉल न जीत सकने का कोई प्रश्न ही नहीं उठता है।

इस बारे में जापानी लेखक Tatsuo Hayashida की पुस्तक 'Netaji Subash Chandra Bose' में, मेजर फुजियारा ने कहा था—'I am certain that the incident retarded the growth of the I. N. A. and, to a great extent, the independence movement. That resulted in delaying by over one year the advance of the I. N. A. into Burma, which was planned as a preliminary to its operations for the liberation of India.

If its advance to Imphal had materialized a year earlier, it could have succeeded in liberating India, which was then in a defenceless and unprepared state, as admitted by the Allied Powers and the British India authorities in particular, after the war.' [Netaji Subhas Chandra Bose : Tatsuo Hayashida, P–155]

इसमें गलती किसकी है?

किसकी गलती का हरजाना भरना पड़ा भारतवासियों को? किसकी वजह से

ऐसे गौरवमय इतिहास से वे वंचित हो गए ? मैं इन प्रश्नों का उत्तर देने का भार तुम्हीं पर छोड़ रहा हूँ, मल्लिका।

विप्लवी जीवन बड़ा कठिन और कठोर होता है परन्तु इसमें हताश होने या हार मानने से काम नहीं चलता। अस्वस्थ रासबिहारी भी सब कुछ भूल कर अन्तिम बार सीधे होकर खड़े हुए। रात दिन लगे अमानुषिक परिश्रम करने। शरीर टूटने लगा। वजन १५० पाउन्ड से घट कर १०० पाउन्ड ही रह गया, परन्तु ये बैठे नहीं। अपनी ओर देखने का समय कहाँ था उनके पास ? एकमात्र लक्ष्य लिए वे एक-एक शिविर का द्वार खटखटा रहे थे।

'I may die to-morrow but one of you should be ready to take my place and when he dies there should be another to take over the responsibilities. It is the most sacred duty of every Indian to sacrifice his all for the complete independence of Inddia and the Hindustan of tomorrow will be proud of you. If you survive in this struggle, you shall be called herces and if you die in the attempt, you shall be martyrs.

I therefore appeal to you in the name of our motherland to set aside all petty differences, make one unit and brotherhood and move forward as one team and the freedom of our country is assured.

Remember, you are born only once and will die only once, whether it is on sick bed or whether it is on the battlefield. Come forward as men, live as men and die as men, so that the India of tomorrow can be proud of you,' [Rash Behari Bose : his struggle for India's Independence, P–236]

उनकी यह पुकार अनसुनी न रही। आगे आए मेजर ए० सी० चटर्जी। उसके बाद आए मेजर जनरल भोंसले, एम० जेड० कियानी, शाहनवाज खाँ, लोकनाथन, अलागाम्मान, सहगल, ईशान कादिर जैसे वीर सेनानीगण।

इन्डीपेन्डेन्स लीग की तरफ से आये देवनाथ दास, जे० ए० थिवी, रघुनाथ शर्मा, एन० राघवन जैसे लोग।

इन लोगों ने हजारों तरह की बाधाएँ झेलीं। प्रतिकूल परिस्थितियों का सामना जिस बहादुरी के साथ किया वह प्रशंसनीय था। आई० एन० ए० का पुनर्गठन करने में उनकी देन अतुलनीय थी।

परन्तु काम इतना आसान नहीं था; तथापि इनमें से किसी ने हिम्मत न हारी। पीछे मुड़ कर नहीं देखा। कई बार सेना ने, परिषद् में कठिन प्रश्न पूछ कर लोगों ने सच्चाई जाननी चाही— इन्होंने उत्तर देने में कभी विलम्ब नहीं किया।

जैसा कि उदाहरण देने पर स्पष्ट हो जायेगा। एक बार सेना की ओर से

रासबिहारी से प्रश्न पूछा गया—'भारतीय होते हुये भी आपका लड़का जापानी सेना में क्यों भरती हुआ है, बताइये ?'

उन्होंने कहा—'तब वह कहाँ जाता, बताओ ? वह जापान का नागरिक है। यहीं पैदा हुआ है, इसलिए कानूनी तौर पर तो जापान की सेना में भर्ती होने के लिए वह बाध्य है। हमारी अपनी सरकार बन जाने दो, तब देखो, वह हमारे देश की स्वाधीनता के लिए लड़ता है या नहीं ?'

एक बार और सिंगापुर में अधिवेशन-काल में उनसे एक प्रश्न पूछा गया—

'अगर सभापति अपने कर्त्तव्यपालन में अयोग्य हो तो उसके साथ कैसा व्यवहार करना चाहिये ?'

'तुरन्त गोली मार कर उसकी हत्या कर दोगे।'

उत्तर सुन कर सभी सन्नाटे में आ गए। किसी ने यह नहीं सोचा था कि इतना स्पष्ट उत्तर मिलेगा। मेजर जनरल चटर्जी ने लिखा है—

'Rash Behari Bose's reply was characteristic and at once showed his frank honesty, sincerity, of purpose and typical revolutionary spirit. This frank and bold assertion of the president had a very satisfactory effect on the whole gathering.' [India's struggle for freedom. : P-74]

दोबारा आई० एन० ए० संगठित हुआ। एक ही आदमी के हाथों में सारी क्षमता न रहे—इस बात का रासबिहारी ने विशेष रूप से ध्यान रखा। जिम्मेदारी दो हिस्सों में बाँट दी गई।

एक नया विभाग बना, जिसका नाम था 'मिलिट्री ब्यूरो'—इसका मुख्य रूप से काम था आज़ाद हिन्द फौज की साधारण नीति और आर्थिक मामलों की देख-भाल करना।

ब्यूरो के डाइरेक्टर नियुक्त हुये मेजर जनरल भोंसले। ले० मिर्जा इनाएत अली बेग—ए० डी० सी०। और चीफ ऑफ दी स्टॉफ—मेजर जनरल शाहनवाज खान।

दूसरा विभाग था—'आर्मी कमाण्डर'। इसका प्रमुख काम था शासन, सामरिक प्रशिक्षण, अनुशासन और युद्ध-स्थल पर सैन्य-संचालन। इसके सुप्रीम कमाण्डर थे मेजर जनरल एम० जेड० कियानी, ए० डी० सी०-अब्दुल मजीद।

ले० कर्नल ईशान कादेर के नेतृत्व में स्वेच्छासेवकों को प्रशिक्षित करने के लिये सिंगापुर में एक केन्द्र बनाया गया। हेड ऑफिस भी बैंकाक से सिंगापुर ले आया गया।

प्रचार विभाग खूब शक्तिशाली बनाया गया। प्रचार अधिकारी एस० एन० अय्यर के नेतृत्व में यह काम भी जोरों से चल निकला।

अंग्रेजी का अखबार 'वायस ऑफ इंडिया' और 'आज़ाद हिन्द' प्रकाशित हुआ। हिन्दी में छपने लगा 'आवाज़-ए-हिन्द' और 'आज़ाद हिन्द', तामिल में 'स्वतन्त्र भारत।'

दो और पत्रिकाएँ प्रकाशित करने की व्यवस्था हुई कुआलालमपुर और पेनांग से।

रासबिहारी पर कुछ और ही सोच रहे थे। उनका शरीर और स्वास्थ्य टूट चुका था। डर था मृत्यु कभी भी सिरहाने आकर खड़ी हो सकती है। फिर तब होगा क्या ?

इस आज़ाद हिन्द फौज का क्या होगा ?

इतनी मुश्किलों से बनी इन्डीपेन्डेन्स लीग—इसका क्या होगा ?

उनकी मृत्यु के साथ-साथ क्या ये सब भी समाप्त हो जाएगा ?

ये तो सैनिक हैं। इन्हें सक्रिय बनाए रखने के लिए रोज़ नया काम चाहिए।

कौन इन्हें वह काम देगा ? देगा प्रेरणा ? किसका आदेश पाकर सब कुछ तुच्छ कर, शत्रु पर टूट पड़ेंगे वे ?

—सुभाष ? सुभाष...विप्लवी वीर सुभाष। हाँ....सुभाष। वही एकमात्र व्यक्ति है जिसमें क्षमता है, यह जिम्मेदारी संभालने की।

सरकारी तौर पर सुभाष को पहले ही बुलाया गया है। अब अपनी तरफ से बुलाना होगा। उन्हें लिखेंगे—'भाई सुभाष, तुम आओ। मैं अस्वस्थ हूँ। यहाँ आकर मेरी सारी जिम्मेदारी समझ लो—मुझे इस कठिन बंधन से मुक्त करो।'

इधर जापान के सेनानायक तथा सरकार भी यही सोच रही थी। रासबिहारी अब बहुत बीमार रहने लगे हैं....हालत जब-तब है। इनके बाद क्या होगा ? क्या होगा नई संगठित आज़ाद हिन्द फ़ौज का ? कौन इसकी जिम्मेदारी संभालेगा ?

जापान के ग्राउन्ड सेल्फ डिफेन्स फोर्स के ले० जनरल Seizo Arisue ने क्या कहा था, सुनो—

'....Regarding this matter, Mr. Rash Behari called me to a special room and while taking Indian rice curry, requested me to make a speedy arrangement to bring Mr. Subhas Chandra Bose.

Myself and my colleagues had no objection to comply with it, but we were much worried as to the seniority positions between the two Boses after the arrival of Mr. Chandra Bose. So I asked his frank opinion in the matter. In reply he assured me that we should have no worry on this point, and that he would subordinate himself to Mr. Subhas Chandra Bose.

This impressed me very much and I felt great respect towards him since I saw very plainly that he felt no hesitation to work under the other Bose ignoring himself, for the success of the Indian freedom movement. Further, I could clearly under-stand how much he was devoted to the independence of India.' [Rash Behari Bose–his struggle for India's Independence. P–50–51]

संक्षेप में उपर्युक्त कथन का अर्थ यह था—'एक दिन रासबिहारी बोस ने बुला-

कर मुझसे कहा कि सुभाष को लाने की व्यवस्था करो। इसमें हमें कोई एतराज नहीं था, परन्तु हम चिन्तित थे कि दोनों ही बड़े हैं। उच्चपद के लिए फिर कलह होगी। परन्तु इस बात का उत्तर देते हुए रासबिहारी ने कहा कि दुःचिन्ता करने की आवश्यकता नहीं—वे सुभाष के अधीन काम करेंगे। इससे उनके प्रति श्रद्धा से मेरा दिल भर आया। भारत की स्वाधीनता के आगे अपनी सत्ता की भी उन्हें परवाह नहीं।'

एक दूसरे जापानी कर्नल Hideo Jwakure ने लिखा है—

'....I had consulted with Mr. Bose regarding the above matter and whether to appoint Netaji Bose as new chairman of executive committee of the league to which Mr. Rash Behari Bose agreed at once and told me to welcome him from the bottom of his heart, making additional remarks that Netaji was a remarkable man of merits of the Indian Independence movement with noble character and extensive knowledge....

Not only myself but also all staff of Iwakura Special Detachment were deeply moved by Mr. Rash Behari Bose's noble character.' [Ibid · P-57-58]

'मेरे पूछने पर कि नेताजी यहाँ आए तो क्या वे ही चेयरमैन होंगे इन्डीपेन्डेन्स लीग के? रासबिहारी ने तुरन्त समर्थन किया और उनका हृदय से स्वागत करने के लिए कहते हुए आगे कहा कि सुभाष एक महान् गुणवान व्यक्ति हैं। भारत के स्वतन्त्रता आन्दोलन के महानतम् व्यक्तित्व तथा उनके ज्ञान की परिधि विस्तृत और विशद है। यह सुन कर हम सब अभिभूत हो गए।'

सुभाष के प्रति रासबिहारी का यह आकर्षण कुछ नया नहीं है।

देखा नहीं कभी। कोई परिचय तक नहीं फिर भी टोकियो से उन्होंने बार-बार सुभाष को ही बुलाया। कभी देवनाथ दास के जरिए पत्र भिजवाया। कभी इस काम के लिए मदद ली जतीन्द्र लोचन मित्र और जे० डी० दास की।

निर्वासित जीवन में भी वे चन्दननगर के अपने संघ से सम्पर्क बनाए हुए थे हमेशा। वहाँ भी उन्होंने पत्र लिख कर सुभाष के बारे में जानना चाहा था। पूछा था —सुभाष एक बार यहाँ नहीं आ सकते हैं क्या?

अन्त में वीर सावरकर को पत्र लिखा था। उसमें भी लिखा था—एक बार सुभाष को यहाँ आने के लिए कहो। साम्राज्यवादी शक्ति को देश से खदेड़ने के लिए एक-तरफा लड़ाई से कुछ नहीं होगा। चोट दोनों तरफ से पहुँचाई जाए, इसके लिए सुभाष का आना बहुत जरूरी है।

२२ जून १६४० की बात है। सुभाष को यह बात सावरकरजी ने बताई थी।

रासबिहारी की चिट्ठी भी दिखाई थी और अपनी राय भी स्पष्ट रूप से बताई थी।

'हमारे यहाँ तो जितने मुँह उतनी बातें होती हैं। अपने आप तो कोई कुछ करेगा नहीं, बल्कि जो करना चाहेगा उसे जी-जान से बाधा ही देंगे। इसलिए युद्ध का फायदा उठाते हुए कुछ करना चाहते हो तो देर मत करो। कब सरकारी अतिथिशाला से बुलावा आ जाए, कौन कह सकता है?'

'To impress this point Savarkarji showed to Subhas Basu a letter from Sri Bose to Savarkarji written just on the eve of Japanese declaration of war.' [Two Great Indian revolutionaries : Uma Mukerji P-159]

मल्लिका, ऐसे थे रासबिहारी। उनके जीवन की एकमात्र इच्छा थी—जन्मभूमि में जाकर मरें। उनका दुर्भाग्य था कि वह इच्छा पूरी नहीं हुई। भारत स्वाधीन होने से पहले ही वे चल बसे।

और उनके पुत्र? नहीं, वे भी ज्यादा दिनों तक जीवित नहीं थे। कुछ महीने बाद ही वीर पिता के वीर पुत्र शहीद हुए। जहाज पर टर्पेडो लगने से जहाज डूबा तो जल-समाधि ले ली सब के साथ।

आज देश स्वाधीन हुआ है। स्वाधीनता संग्राम में किसी की क्या देन है, कितना किसने त्याग किया है, लाखों रुपये खर्च करके ऐसा इतिहास रचा जा रहा है।

कहाँ है उन्हीं रासबिहारी का उसमें स्थान? देश के कितने बच्चे उनके बारे में जानते हैं? कौन जानता है इसी आजादी के लिए वे आजीवन काल लड़ते ही रहे?

इसमें गलती किसकी है? बच्चों की कि हमारी?

हमारे स्वाधीनता संग्राम के दो इतिहास हैं। एक मार खाने का, एक मारने का। एक लिखित, दूसरा आज तक लिखा ही नहीं गया। शायद ही कभी लिखा जाए।

लाखों-करोड़ों रुपए खर्च कर के जो इतिहास रचित हुआ है और हो रहा है उसमें बस यही दिखाया गया है कि हम ही मार खाते रहे हैं, विदेशियों के हाथों से, हमने किसी को मारा नहीं।

रासबिहारी इस दल में नहीं रहे कभी। दुःख के साथ लड़े, मृत्यु को तुच्छ समझा और हँसते-हँसते जिन्होंने जीवन दे दिया, रासबिहारी उन्हीं अल्प-संख्यक पथिकों में से एक थे।

एतराज तो यही है कि राष्ट्रीय चरित्र बनाने के लिए यह कहने की क्या जरूरत है कि कितनी गोलियाँ खाई थीं? देश के बच्चों को तो बतानी और सुनानी चाहिए थी, बादल-विनय-दिनेश, बाघा जतीन, खुदीराम, सूर्य सेन, सुभाष, रासबिहारी की वीरता की, साहस की कहानी।

इधर सुभाष के दिमाग में भी यही एक चिन्ता थी—हमें दक्षिण-पूर्वी एशिया

जाना ही होगा। जापान सरकार ने बुलाया है। लम्बी प्रतीक्षा के बाद राजदूत जनरल ओसीमा को उन्होंने बताया है—'महामान्य बोस अत्यन्त दायित्वशील व्यक्ति हैं। तुम लोग अगर उनकी सुरक्षा के बारे में जिम्मेदारी लो तो उन्हें भेजने की व्यवस्था करो।'

इसी के साथ रासबिहारी ने भी बुलाया—'सुभाष, तुम आओ। न सिर्फ मैं, दक्षिण-पूर्वी एशिया के तीस लाख भारतीय आज तुम्हारा रास्ता देख रहे हैं। मैं बीमार हूँ, बूढ़ा हूँ। तुम आकर मेरी सारी जिम्मेदारी सम्भाल लो और मुझे मुक्ति दो।'

इसीलिए अब देर नहीं करना है। जैसे भी हो, किसी भी कीमत पर, वहाँ जाना ही होगा।

काम आसान नहीं था। बहुत खतरनाक था, इसमें शक नहीं। असम्भव भी कहा जा सकता है। समस्त संसार युद्ध में लिप्त है। स्थल, जल, अन्तरिक्ष—सर्वत्र मृत्यु का इशारा है। इस अवस्था में यहाँ से चलने पर अन्त तक वहाँ पहुँच जाएँगे—इस बात का कोई निश्चय नहीं। बल्कि मृत्यु का भय ही अधिक है।

जापान सरकार भी इसी खतरे की बात बार-बार कह रही थी। बस, उम्मीद पाँच प्रतिशत ही है, बाकी तो अनिश्चितता है।

सुभाष सोच रहे थे—कितनी भी बाधायें क्यों न सिर उठाएँ, चाहे मौत ही आ आए, वे तो जाएँगे ही। मातृभूमि की शृङ्खला तोड़ने के लिए मिला यह मौका जाने न देंगे।

सुभाष ने ५ दिसम्बर को जर्मन सरकार के पास एक नोट भेजा—

....'मैं विश्वास करता हूँ कि अभी भी हवाई जहाज, जहाज या सबमेरीन द्वारा मेरे जाने की व्यवस्था की जा सकती है। मैं जानता हूँ, इस काम में काफी खतरा है, परन्तु मैं स्वेच्छा और स्वच्छन्दता के साथ वह खतरा मोल लेने को तैयार हूँ। मैं भाग्य पर विश्वास करता हूँ। मैं जानता हूँ कि मेरी चेष्टा सफल होगी।

किसी तरह की मुसीबत, कैसा भी खतरा, कोई भी असुविधा क्यों न हो, इस विषय में मेरी मदद करने पर मैं कृतज्ञ रहूँगा। मैं जितनी जल्दी जा सकूँगा उतना ही भारत और हम सब के लिए मंगलमय होगा।' [Indian Struggle : Subhas Chandra Bose]

कुछ दिन और बीते। सुभाष अपने संकल्प पर अडिग थे। 'जाना है ही मुझे यहाँ से। युद्ध की हालत आशाप्रद नहीं है।'

रूस के भीतर भयंकर जर्मन सेना लगातार बढ़ती जा रही थी। हिटलर ने कहा था कि जाड़े से पहले ही युद्ध समाप्त करना होगा। इसलिए बढ़ते चलो।

यह सिद्धान्त बड़ा भ्रमपूर्ण होता है। रणनीति की पहली शर्त ही यह होती है कि सप्लाई की व्यवस्था मजबूत हो और सेना के दोनों किनारों की रक्षा की व्यवस्था ठीक हो। इन बातों का ध्यान न रख कर जिस तरह से जर्मन सेना बढ़ती जा रही है उससे खतरे की सम्भावना बहुत अधिक है। आज या कल, इस गलती का परिणाम भोगना ही होगा।

हिटलर उस समय विजय की खुशी में पागल हो रहे थे—इस हालत में वह कहीं कुछ समझने को तैयार कहाँ थे ?

इस मामले में सेनापतियों की बात भी वह सुनने को तैयार नहीं थे। उनकी एक ही ज़िद थी—'आगे बढ़ो, पीछे मुड़ कर देखने की जरूरत नहीं। किसी बात का हिसाब भी नहीं रखना है। सिर्फ़ आगे बढ़ो।'

सुभाष ने एक दिन यह बात स्पष्ट रूप से कही थी जर्मन एडमिरल कैनारिस को।

१९४२ साल। जर्मनी की बृहस्पति की दशा अच्छी चल रही थी। सिर्फ़ जय, जय और जय। सर्वत्र जय।

हिटलर दीवाना हो रहा था। दीवानगी गोयेरिंग, गोयेबल्स, रिबेनट्रप, काइटेल वगैरह पर भी सवार थी। बस, अब देर नहीं रही, युद्ध समाप्त होने ही वाला है।

सुभाष ही अकेले ऐसे व्यक्ति थे जो इस विजय से प्रसन्न नहीं थे। उन्हें जर्मनों के आन्तरिक दोष, त्रुटियाँ दृष्टिगोचर हो रही थीं। इसीलिए उन्होंने एडमिरल कैनारिस से कहा था—'मेरी तरह तुम भी जानते ही होगे कि इस युद्ध में तुम्हारी पराजय निश्चित है। परन्तु इस बार ब्रिटिश सरकार भी भारत से हाथ धोयेगी।'

'You know as well as I do that Germany cannot win this war. But this time victorious Britain will loose India.' [An extract from Nachrichteenlieust i. e. the German Military Intelligence service for Far East in the charge of Paul Leverkuehn : Netaji in Germany : N. G. Ganpuley : P-182]

मल्लिका, तुम्हें मैं जर्मनी के वीर सेनापति फील्डमार्शल रोमेल के बारे में पहले ही बता चुका हूँ। इन दिनों वे अफ्रीका में थे। मिस्र की सीमा के निकट एल-आलामिन से वे बार बार हिटलर के पास निवेदन कर रहे थे।—'ज्यादा नहीं, केवल ३०० हवाई जहाज दीजिए। इनकी मदद से मैं मिस्र से एक-एक ब्रिटिश सैनिकों को मार भगाने में सफल हो जाऊँगा।'

हिटलर ने 'हाँ' कह दिया। एक बार नहीं, कई बार। लेकिन हवाई जहाज की बात तो दूर, उसके लिए जरूरत भर को तेल तक नहीं भेजा अफ्रीका। क्योंकि उसके सामने इस समय रूस था—अफ्रीका नहीं। रूस में उस समय जीवन-मरण के लिए युद्ध चल रहा था। वहाँ फैसला हुए बगैर किसी और तरफ देखना सम्भव नहीं था।

इधर ब्रिटिश की तरफ जनरल रिची की जगह बदल कर सेनापति होकर आये थे जनरल अलेक्जेन्डर।

मौका देख २३ अक्टूबर को जनरल मान्टगोमरी ने रोमेल के विरुद्ध हमला किया। 'मल्लाई तो बन्द है, जाओगे कहाँ भाग कर ?'

रोमेल अस्पताल में थे। सुनते ही बीमारी की बात भूल कर युद्ध-स्थल पर जा

पहुँचे। परन्तु सब व्यर्थ था। मशीन-युग में हवाई जहाज और तेल दोनों न रहने पर और क्या हो सकता था? एल-आलामिन से पीछे हटना पड़ा।

८ नवम्बर को अमेरिका के सेनापति जनरल आइसन हावर के नेतृत्व में पाँच सौ सैन्यवाही तथा साढ़े तीन सौ युद्धपोत की सम्मिलित सेना उत्तर-पश्चिमी अफ्रीका में अलजीरिया के तटवर्ती इलाके में जा पहुँची। अफ्रीका को जब सभी लूट रहे हैं तब लूट के माल में हिस्सा अमेरिका भी लेगा!

अन्तिम बार प्रयास किया रोमेल ने। पर एक ओर जनरल आइसन हावर, दूसरी तरफ जनरल अलेक्जेन्डर और जनरल मान्टगोमरी। बिना उचित युद्ध सामग्री के इन शक्तियों का सामना रोमेल कैसे करते?

फलस्वरूप जिस रोमेल ने कभी जनरल वॉवेल को दिन में तारे दिखा दिये थे, जनरल रिची और उनकी सम्पूर्ण ब्रिटिश सेना को जो नील नदी तक धकेलते ले गये थे, वही सिर झुकाये बर्लिन वापस आ गये।

इधर रूस में क्या हुआ, सुनो। विजय की खुशी से झूमती जर्मन सेना बढ़ती चली जा रही थी। २७ जुलाई को रोस्टॅव जीता। अगस्त के पहले हफ्ते में जर्मन सेना बढ़ चली काकेशस की तरफ। इसका उद्देश्य था एक तेल की खान और काले सागर के किनारे स्थित रूस के दो उल्लेखनीय बन्दरगाह—नवोरोसिस्क और तुआप्से जीतना।

१ली अगस्त को कुशचेवका जीत लिया गया। ५ को टिखोरयॅस्क और ६ अगस्त को आरमावी पार कर मैकोप के तेल की खान की तरफ बढ़े।

रूसियों ने जब यह देखा तो मैकोप के तेल की खान तथा क्रासनोडार तेलशोधक केन्द्र के यन्त्रादि जला कर नष्ट कर दिए।

मार्शल स्टालिन का आदेश था—कोई भी ऐसी चीज पीछे न छोड़ी जाए जिससे शत्रुओं को लाभ हो। मिल तथा कारखाने यथासंभव पीछे हटा लिये जायें। बाकी चीजें जला डाली जायें। इन्हें हमारे देश में एक दाना अन्न तक नहीं मिलना चाहिए।

२१ अगस्त को क्यूबन नदी पार करके पहुँचे क्रिमस्काया और ६ सितम्बर को नवोरोसिस्क बन्दरगाह जर्मनी के कब्जे में चला गया।

२८ अक्टूबर को नये सि[illegible]स हमले शुरू हुये। सीधे बाटुम के पास।

नवम्बर के पहले हफ्ते [illegible] जाड़े की अधिकता के कारण गति धीमी पड़ गई। रूस जाड़े की गिरफ्त में जकड़ता चला गया।

मार्शल वॉन बोके इधर जी-जान से इस कोशिश में लगे थे कि किसी तरह डॉन नदी पार कर लें।

लाल-फौज अब अड़ गई थी। डॉन नदी पार करने के मतलब थे स्टालिनग्राड पर मुसीबत का आना। यह मौका वान बोके को किसी हालत में नहीं दिया जा सकता।

दिन बीतने लगे, पर स्थिति में जरा भी अन्तर नहीं आया। एक तरफ मार्शल बोके दृढ़ संकल्प थे, तो दूसरी ओर लाल-फौज भी अटल। कोई भी पीछे हटने को तैयार नहीं।

भयंकर युद्ध और रक्तपात के पश्चात् १७ दिन बाद डॉन नदी पार कर सके मार्शल वान बोके।—'चलो कलाकारों की नगरी स्टालिनग्राड।'

स्टालिनग्राड अभियान के संचालक थे जनरल वॉन हुथ परन्तु उनकी जगह बुलाये गये वॉन पॉउलस। क्योंकि अब तगड़ा आक्रमण करना था।

२६ अगस्त को उत्तर-पश्चिम से शहर स्टालिनग्राड के तलहटी पर पहुँच गई वॉन पॉउलस की सेना। २ सितम्बर को वोलगा नदी के किनारे और ४ को शहर की सीमा पर। १२ सितम्बर को भयंकर हमला हुआ—स्थल और आकाश—दोनों ओर से।

विशाल आयोजन। व्यापक तैयारी। कुल दस लाख सैनिक, तीन हजार हवाई जहाज और तीन हजार टैंक प्रयोग में लाये गये, ताकि स्टालिनग्राड पर अधिकार प्राप्त किया जा सके। फ्यूरेर का आदेश है, जैसे भी हो स्टालिनग्राड जीतना ही होगा।

असली हमला १५ सितम्बर को हुआ। स्टालिनग्राड तीन तरफ से घिरा था। पीछे हटने तक का रास्ता बन्द हो चुका था, क्योंकि जिधर सैनिक नहीं थे उधर थी वोल्गा नदी।

देखते ही देखते तीन चौथाई स्टालिनग्राड ध्वंस स्तूप में बदल गया।

नीचे भयंकर जर्मन सेना थी जो बार-बार पूरी ताकत के साथ स्टालिनग्राड की मजबूत दीवाल पर हमला कर रही थी। ऊपर से बमवर्षक हवाई जहाज—लगातार चले ही आ रहे थे। एक दल आता। बम बरसाता और लौट जाता। उतने में दूसरा दल आ जाता। इस आने-जाने के जुलूस का कहीं अन्त न था।

उसी के साथ दूर तक गोले बरसाने वाले तोपों की मार भी।

'स्टालिनग्राड चाहिए।' नात्सी पार्टी के एक अधिवेशन में बहुत जबरदस्त शब्दों में हिटलर ने कहा था—'Wir Werden Stalingrad nehmen, sie Koennen dessen versichert sein.'

अर्थात्—'निश्चित रहो, हम स्टालिनग्राड विजय करेंगे ही।'

और हाँ, जो ऑफिसर और सैनिक सबसे पहले स्टालिनग्राड में प्रवेश करेंगे उन्हें वेतन सहित पूरे साठ दिनों की छुट्टी दी जाएगी।

जनरल चेकोव और जनरल जेरेमेस्को के नेतृत्व में उस समय लाल-फौज आत्म-रक्षा में व्यस्त थी। इसी के साथ श्रमिक और मजदूर आ मिले। एक-एक साधारण जनता ने सेना की मदद करने का बीड़ा उठा लिया। यहाँ तक कि महिलाओं ने भी बन्दूकें उठा लीं। हर किसी ने शपथ ग्रहण की कि इस पवित्र भूमि को शत्रु के हाथों नहीं जाने देंगे।

हर घर, गलियाँ, एक-एक कारखाने, मानो अभेद्य दुर्ग हों। घर की निचली

मंजिल में जर्मन सैनिक हैं तो ऊपरी मंजिल पर लाल-फौज परन्तु आत्म-समर्पण नहीं करेगी।

२१ और २२ सितम्बर को सबसे जबरदस्त हमले हुए। रास्ते में, घरों में, सीढ़ियों पर, कॉरीडोर, छत—हर जगह युद्ध हो रहा था। भयंकर मार-पीट। अन्त तक हालत यह हो गई कि कौन शत्रु है कौन मित्र, पहचानना मुश्किल हो गया।

मास्को से बेतार द्वारा बड़ी ही मर्मस्पर्शी वार्ता प्रसारित हुई। इसमें स्टालिनग्राद की रक्षावाहिनी को ही सम्बोधित करते हुए कहा गया था—'The whole world is watching; Russia will never acknowledge the defenders as her sons and daughters if for one instant they should flinch and show themselves not worthy of what they really are.' अर्थात्—आज सारी दुनिया देख रही है। रूस कभी तुम्हें अपना पुत्र या कन्या कह कर स्वीकार नहीं करेगा अगर ऐसे मौके पर तुम पिछड़ गए या अपने को इसके उपयुक्त होने का प्रमाण न दे सको।

रक्षावाहिनी ने नये सिरे से शपथ ग्रहण की—'हम आवश्यकता पड़ने पर अपनी जान दे देंगे, परन्तु शत्रु से हार नहीं मानेंगे।'

पृथ्वी पर बहुत युद्ध हुए हैं, होते रहेंगे परन्तु ऐसा उदाहरण कहीं देखने को नहीं मिलेगा। उस दिन पितृभूमि की रक्षा के लिए स्टालिनग्राड के एक-एक आदमी ने, चाहे वह सैनिक हो चाहे साधारण नागरिक, जैसी वीरता और देशप्रेम का उदाहरण पेश किया था वह बिरले ही कर सकते हैं।

सम्पूर्ण स्टालिनग्राड ध्वस्त होकर खण्डहरों में परिवर्तित हो गया....रसद पहुँचाने की व्यवस्था अस्त-व्यस्त हो गई। टेलीफोन व्यवस्था नष्ट थी। यहाँ तक कि सायरन बजने भी बन्द हो गए थे। वर्षा की बूंदों की तरह जहाँ बम-वर्षा हो रही हो, वहाँ सायरन बजा कर करना क्या है?

लेकिन आश्चर्य तो इस बात का था कि इतने पर भी रक्षावाहिनी स्थिर थी। उनका निश्चय अटल था। सेनाध्यक्ष का कोई निर्देश नहीं था। निर्देश देने का उपाय ही नहीं था...सब कुछ जहाँ नष्ट हो चुका हो, वहाँ कैसे निर्देश दिए जा सकते थे?

परन्तु रक्षावाहिनी या सुरक्षासेना को इसकी परवाह ही कहाँ थी? वे तो स्वयं ही एक-एक सेनापति थे। स्वयं ही सैनिक, सेनापति, सब कुछ थे। बस, उनका तो एक ही उद्देश्य था कि पितृभूमि की रक्षा करेंगे।

हटते-हटते सुरक्षा सेना वोल्गा नदी के किनारे पहुँच चुकी थी, लेकिन जर्मन के आगे सिर नहीं झुकाया।

इसी को कहते हैं—'जनता का युद्ध' या 'People's War'।—देश पर संकट आया हुआ है, अतएव यह युद्ध हमारा, तुम्हारा, देश के एक-एक प्राणी का है—चाहे वह बच्चा हो या बूढ़ा—स्त्री हो या पुरुष। इस मुसीबत की घड़ी को टालने के लिए एक होना जरूरी है। कन्धे से कन्धा मिला कर लड़ना होगा।

मल्लिका, यह किया उन्होंने। स्टालिनग्राड की रक्षा करने में उन्होंने जान की

बाजी लगा दी।

उल्लेखनीय बात तो यह थी कि मित्र-पक्ष के साथ सन्धि के बावजूद रूस को ब्रिटिश अथवा अमेरिका से अभी तक किसी तरह की मदद नहीं मिली थी।

इस बात की कम आलोचना नहीं हुई थी। इंगलेण्ड की जनता थू-थू कर रही थी—उस समय तो रूस को आपने भी सहायता करने का वचन दिया था—अब क्या हो गया? कहाँ गया सेकेन्ड-फ्रन्ट? लगता है डॉनकार्क का घाव अभी तक सूखा नहीं है।

फिर भी टाल-मटोल होता रहा।

चर्चिल बोले—'What can we do to help Russia? There is nothing that we should not do.'

'रूस की सहायता करने के लिए हम क्या कर सकते हैं? ऐसा कुछ नहीं है जो हम नहीं करेंगे।'

फलस्वरूप सम्पूर्ण यूरोप में रूस अकेले लड़ता रहा। बिल्कुल अकेले।

१२ सितम्बर को एक बार और अन्तिम प्रयास किया गया। जर्मन सेना झुण्ड की झुण्ड झपट पड़ी वोल्गा नदी के किनारे। लेकिन कुछ न कर सकी। स्टालिनग्राड को जीतना इतना सरल काम नहीं था।

अगली कहानी और भी अविश्वसनीय और कल्पना के बाहर थी।

तीनों तरफ से घिरा स्टालिनग्राड परन्तु अन्दर लाल-फौज की शाखायें शान्त बैठी हों ऐसा नहीं था। चुपचाप दूसरी दो शाखायें एक संकल्प और योजना के साथ बढ़ती जा रही थीं।

जर्मन युद्ध करने में व्यस्त। उनका लक्ष्य था स्टालिनग्राड। उनके किनारे की रक्षा का भार था अपेक्षाकृत कमजोर इटली, हंगरी और रूमानिया की सेना पर। उनमें कितनी शक्ति है? अचानक अगर हमला करके पूरी जर्मन सेना घेर ली जाए तो? एक बार कोशिश करने में हर्ज क्या है।

१९ नवम्बर १९४२ साल। रात्रि का अन्तिम प्रहर बीत रहा था।

अचानक लाल-फौज की दो शाखायें दोनों तरफ से जर्मन सेना पर कूद पड़ीं। सब की नजर बचा कर।

एक तरफ से आक्रमण किया जनरल रकोसावस्की ने और दूसरी तरफ से जनरल भातूतिन ने। इनका लक्ष्य था, सारी बाधायें और विघ्न भेदते हुए जर्मन सेना को पीस कर कुचल डालना।

हुआ भी यही। इटली, हंगरी तथा रूमानिया की सेना इतनी दक्ष तो थी नहीं, जितनी जर्मन सेना। इसीलिए इस जबरदस्त हमले का सामना न कर सकी और तूफान के सामने पड़े तिनके की तरह छिन्न-भिन्न होकर बिखर गई।

विपत्ति आते देख जर्मन सेना पलट कर खड़ी हुई, परन्तु लाल-फौज के भयंकर विनाशकारी रूप का सामना कर सके—वह शक्ति जर्मन सैनिकों में अवशिष्ट न थी।

उनका गतिरोध करना असम्भव था ।

तुरन्त जनरल वॉन पाउल्स ने जर्मन हाई कमाण्ड के पास संदेश भेजा । 'हम किसी भी समय घिर सकते हैं फिर भी अभी वक्त है । अगर आदेश हो तो किनारे से निकल सकते हैं । इस बारे में निर्देश चाहिए ।'

हिटलर इसके लिए तैयार न हुए— 'नहीं, पीछे हटने का कोई प्रश्न ही नहीं है । इससे कॉकेशस इलाके की सारी जर्मन सेना विच्छिन्न हो जाएगी । इसलिए धैर्य रखो, परेशान होने की जरूरत नहीं है । मैं इन्तजाम कर रहा हूँ ।'

योजना कारगर हुई २० नवम्बर को । दिन को एक बजे थे । एकाएक रूस के सभी रेडियो स्टेशनों में खुशी की लहर दौड़ गई । रेडियो से खुशी के साथ घोषणा की गई—'घेराव ! घेराव ! घेराव ! जर्मनों की छठी आर्मी घिर गई है । लाल-फौज की दोनों तरफ की सेना लाटोसांका गांव में आकर मिल गई है । लाल-फौज की जय ! लाल-फौज जिन्दाबाद ।'

पुनः वॉन पाउल्स ने हाई कमाण्ड को सूचना भेजी—'हम घिर गए हैं । आत्म-समर्पण करेंगे या नहीं—निर्देश दीजिए ।'

'नहीं, हरगिज नहीं ।' यही निर्देश भेजा फ्यूरर हिटलर ने—'रूसी सेना को रोकने की कोशिश जारी रखो ! मैं जल्दी ही इनका यह घेराव तोड़ने की व्यवस्था कर रहा हूँ । इससे पहले ही वॉन बुश भी स्टारारूशा में लाल-फौज द्वारा घेर लिए गए थे । उन्हें कहाँ घेर सके ? घबड़ाने की कोई जरूरत नहीं है—सब इन्तजाम हो रहा है ।'

'लेकिन खाद्य ? लड़ाई का सामान ? घेराव से प्रभावित हुए हैं तीन लाख तैंतीस हजार सैनिक—यह कोई मामूली बात नहीं है ।'

'घबड़ाओ नहीं—सब कुछ हवाई जहाज द्वारा भेजा जाएगा ।'

भेजा गया । लेकिन इससे कहीं जरूरतें पूरी होती हैं ? उस पर लाल-फौज, वह मौका भी तो नहीं दे रही थी ।

फील्ड मार्शल वॉन मैनस्टाइन बुला भेजे गए । 'किसी भी तरह करो, पर छठी आर्मी का उद्धार करने का प्रबन्ध करो । अविलम्ब ।'

१२ दिसम्बर को फील्ड मार्शल वॉन मैनस्टाइन ने लाल-फौज पर भयंकर आक्रमण किया और उनका घेरा तोड़ते हुए कुछ दूर तक बढ़ भी गए । बस ! और तीस मील अन्दर आना था । उसके बाद ही वॉन पाउल्स की छठीं आर्मी है ।

पर कुछ न कर सके वॉन मैनस्टाइन । १६ दिसम्बर को फिर पीछे हटना पड़ गया लाल-फौज से मार खा कर । यहीं समाप्त हो गई वह आशा—कि छठी आर्मी का उद्धार संभव है ।

८ जनवरी को दो रूसी ऑफिसर सफेद झण्डे के साथ जर्मन लाइन के पास गए ।

'यह है हमारे कमाण्डर का पत्र । आप लोग उनके निर्देशानुसार फौरन आत्म-समर्पण कर दीजिए । कल सुबह दस बजे तक उत्तर चाहिए । अगर आप राजी नहीं

हुए तो हम अगला क़दम उठाने को मजबूर होंगे।'

इधर छठी आर्मी की हालत बड़ी शोचनीय हो रही थी। तीन लाख तैंतीस हज़ार सैनिकों की संख्या जा पहुँची थी अस्सी हज़ार। भयंकर ठंड और बर्फ—उस पर रसद का अभाव—अनभ्यस्त जर्मन सैनिकों की हालत दिनों दिन बिगड़ती जा रही थी।

फिर भी घृणा से भर कर वॉन पाउल्स ने इस समझौते वाले पत्र को अस्वीकार कर दिया। 'फ्यूरेर का आदेश है, लड़ाई अन्त तक लड़ते जाना है। उस पर कोई दूसरी बात सोची भी नहीं जा सकती है।'

तब १० जनवरी को जनरल रकोसोवस्की ने छठी आर्मी पर पूरी ताक़त से हमला किया।

देखते ही देखते अन्तिम हवाई अड्डा छठी आर्मी के हाथों से निकल गया। अब तो किसी भी तरह से बाहरी सहायता आ नहीं सकती थी। खाद्य, या लड़ाई का सामान—कुछ भी नहीं।

२५ जनवरी को वही विशाल छठी आर्मी—उसमें रह गए कुल १५ से बीस हज़ार सैनिक। स्पष्ट था, लौ बुझने में अब देर नहीं है।

३१ जनवरी से बिल्कुल शान्ति छा गई। ज़रा-सा भी विरोध या रुकावट—कुछ नहीं।

२ फरवरी को नाटक का अन्तिम भाग मंचस्थ हुआ। शाम के ठीक चार बजे। कुल २४ जनरल और ढाई हज़ार ऑफिसरों के साथ फील्डमार्शल वॉन पाउल्स उस दिन लाल-फौज द्वारा क़ैद कर लिए गए।

कॉमरेड स्टालिन ने सबको शाबाशी दी। अभिनन्दन जताया—'तुम लोगों ने जो कुछ कर दिखाया है वह इतिहास के पृष्ठों पर स्वर्णाक्षरों में लिखा रहेगा।'

और हिटलर? हिटलर ने छठी आर्मी के आत्मत्याग के प्रति श्रद्धा प्रकट करने के लिए सारी जर्मनी में तीन दिन तक शोक मनाने की घोषणा कर दी।

द्वितीय विश्वयुद्ध छिड़ने के बाद जर्मनी की यह पहली पराजय थी। हिटलर के विश्वास और घमंड की नींव डगमगा उठी थी। स्टालिनग्राड की पराजय ने उसका गर्व चूर-चूर कर दिया था।

यह सब देख कर सुभाष और अधिक परेशान होने लगे। अपने हाथों से बनायी आज़ाद हिन्द फौज, उसे केन्द्रित कर देखे गए समस्त सपने, झूठे साबित होने जा रहे थे। क्या अफ्रिका और क्या रूस—हर जगह जर्मन हार खाकर औंधा पड़ा था। ऐसा हुआ था हिटलर की जिद् और नासमझी के कारण।

ऐसी दशा में आज़ाद हिन्द फौज कभी भी अफगानिस्तान लाँघ कर भारत में नहीं पहुँच सकेगी। जाना है तो सबसे पहले जाना पड़ेगा दक्षिण-पूर्वी एशिया।

जीवन में व्यर्थता की कामना कौन करता है? परन्तु अगर आती ही है व्यर्थता तो उसे मानना ही पड़ता है। भाग्य में यही लिखा है—सोचना पड़ता है।

सुभाष भी निराश नहीं हुए। वे हर तरह से जर्मन सरकार पर दबाव डालने

लगे।—'मैं दक्षिण पूर्व एशिया जाना चाहता हूँ। इसका प्रबन्ध अविलम्ब किया जाए।'

हिटलर ने मना किया—'नहीं—ऐसा नहीं हो सकता है। जापान ने तो कह ही दिया है कि ५ प्रतिशत की आशा है। इसके अलावा युद्ध, दूसरा रुख पकड़ रहा है। इस हालत में बाहर जाना—जान जोखिम में डालना है।'

'असम्भव है।' सुन कर सुभाष मन ही मन मुस्कुराए। 'देश के लिए अपनी गर्दन गिरवी रख कर उस दिन मैं जर्मनी चला आया था। जरूरत पड़ी तो उसी तरह फिर चला जाऊँगा। ब्रिटिश गुप्तचर सेना हजार बार कोशिश करने पर भी मेरा कुछ बिगाड़ नहीं सकी थी। तुम्हारी गेस्टापो सेना भी कुछ न कर सकेगी।'

'For the sake of my country, I have risked my neck to come to Germany. For the same reason I am perpared to risk my neck to return to India. The British C. I. D. is very efficient and just as I escaped inspite of it, I shall escape your Gestapo also.' [Ganpuley : P–19]

यह पत्र परराष्ट्र सचिव रिबेनट्रप को भेजा उन्होंने—'मैं दक्षिण-पूर्व एशिया जाऊँगा ही। चाहे एक प्रतिशत आशा ही क्यों न रहे। फौरन व्यवस्था कीजिए।'

इस बार भी आगे आए मित्र व शुभाकांक्षी वॉन ट्रट—'हिज एक्सेलेन्सी बहुत सीधे आदमी नहीं है। अभी उस दिन उन्होंने फ्यूरेर को स्पष्ट शब्दों में कह नहीं दिया था—'मुझे उपदेश देने की जरूरत नहीं है।' इस बार न जानें क्या कह बैठें। इससे तो अच्छा होगा कि दोनों पक्षों को समझा लिया जाए।'

वॉन ट्रट ने हिटलर को कई तरह से समझाया। अनेक दलीलें पेश कीं।—'जापान हमारा मित्र है, इसके अलावा उनके साथ हमने सन्धि कर रखी है। अब इसी युद्ध में देखिए, हमने उनकी क्या मदद की है ? कुछ नहीं।

'वे भी जब इतनी बार कह रहे है तब हमें चाहिए कि हिज एक्सीलेन्सी नेताजी बोस को अविलम्ब दक्षिण पूर्व एशिया भेजने की व्यवस्था करें। वरना वे लोग हमें गलत समझ सकते हैं।'

हिटलर इस युक्ति से इन्कार न कर सके। बात तो सच है। जापान हमारा मित्र है। उनकी बात भी सोचनी है। पर कैसे नेताजी बोस को भेजा जाए ? ये काम तो बड़ा ही मुसीबत और जोखिमों से भरा है।'

जानती हो मल्लिका, इसके बाद वॉन ट्रट अधिक दिनों तक जीवित नहीं थे। डेढ़ साल बाद ही उन्हें मृत्युदण्ड दिया गया था। अपराध लगाया गया था—हिटलर की हत्या करने का प्रयास।

सुभाष चुप रहने वाले आदमी नहीं थे। इस बीच वे दो बार इटली हो आए। उन्हें पता चला था, कुछ ही दिनों पहले उनका एक हवाई जहाज सिंगापुर तक उड़ कर पहुँच गया था। मुसोलिनी क्या कर सकते है—यह पता करने में हर्ज क्या है ?

यूरोप के संग्राममय जीवन में उन्हें सबसे अधिक सहयोग मिला था मुसोलिनी

मे ही। मुसोलिनी सुभाष के प्रति श्रद्धा और ममता का भाव रखते थे। यूं भी बता दूं, गांधी जी भी मुसोलिनी को बहुत मानते थे।

परन्तु सुभाष के इस प्रस्ताव पर वे राज़ी नहीं हुए। परीक्षण के तौर पर एक हवाई जहाज सिंगापुर तक बिना किसी बाधा के पहुँच गया था, यह सच है, पर इस बार भी कुछ नहीं होगा यह कैसे कह सकता है कोई ?

इसके अलावा वैटिकॉन शहर महामहिम पोप का शहर है—खुली नगरी। यहां न जाने कितने नगरों के गुप्तचर यहां-वहां घूमा करते है। अगर किसी तरह से बात निकल गई तो अवश्य ही मुसीबत आ जाएगी। दुनिया के सामने फिर वे अपना मुंह कैसे दिखाएँगे ?

जानबूझ कर वे सुभाष को इस अनिश्चित हालत में नहीं डाल सकते हैं।

भगवान् को धन्यवाद कि उस दिन मुसोलिनी सुभाष की बातों में नहीं आए वरना शायद ही सुभाष दक्षिण-पूर्व एशिया का मुंह देख पाते।

इसी प्रसंग पर एन० जी० गनपुले से कहा था—The vatican city in Rome was an open centre for diplomats of all countries. Rome itself was a honeycomb of spies where it was not possible to keep anything secret for very long.

Netaji was required therefore to give up the attempt of flying from Italy and had to return sadder and downcast. In reality, it was good that he did not risk the fight otherwise he would have been surely taken prisoner or his plane shot down.' [Netaji in Germany : Ganpuley : P-128]

रोम से फिर बर्लिन लौटे। वहां से सीधे जापानी दूतावास जा पहुँचे—'कहां तक कुछ हुआ ? मैं तुम्हारे देश कब जा रहा हूं ? और कितनी देर है ?'

सुभाष धीरे-धीरे धैर्यहीन होने लगे। गनपुले ही लिखते हैं—

'Netaji, however, was getting uneasy and had tempered because his mind was already working in the Far Eastern regions whereas his body was still in Germany.'

उनका सारा ध्यान उधर ही केन्द्रित था—'कब वहां जाऊँगा ? कब शुरू करूँगा काम ?'

इधर एक जर्मन कूटनैतिक आलोचना आरम्भ हुई जर्मनी, जापान और इटली के बीच—'युद्ध की हालत तो और भी बुरी होती जा रही है। ऐसी दशा में नेताजी बोस को दक्षिण-पूर्व एशिया भेजा कैसे जाए ?'

काम बड़ा खतरे का है। खासतौर से जर्मनी के लिए। जर्मनी के दिन भी फिर गए हैं। अब वह बात नहीं रही। इधर ब्रिटिश अमेरिका की मदद से संभल चुका है।

यहां तक कि खुल्लम-खुल्ला वे जर्मनी के आसमान पर हवाई चढ़ाइयां भी करने

लगे हैं। नौ सेना भी पहले से कहीं ज्यादा शक्तिशाली हो गई है।

इंगलिश चैनल, उत्तरी सागर, भूमध्य सागर, अटलान्टिक महासागर—सब पर अंग्रेजों का कब्जा हो गया है। ऐसी हालत में जहाज या हवाई जहाज द्वारा उतनी दूर जाना बहुत ही खतरनाक बात होगी। एक ही उपाय है और वह है सबमेरीन। परन्तु उसका भी क्या भरोसा?

न जाने कब टर्पेडो, माइन, डेप्थ चार्ज या भारी तोप की रेंज में आ जाए।

गनपुले के शब्दों में—'Germany had the most difficult task as her submarine was required to pass through mine infested and carefully guarded waters round the British Isles. Passing through the English Channel was considered a very hazardous and dangerous assignment.'

दिन, सप्ताह, महीना बीता पर बहस खत्म न हुई।

एक साल पहले की बात होती तो कोई चिन्ता न थी, लेकिन अब तो जर्मनी पर चारों ओर से मुसीबत आई हुई थी। बिना सोचे-समझे इस समय कुछ करना बिल्कुल ठीक नहीं था।

सबसे बड़ा प्रश्न था—जापान का। पृथ्वी के दूसरे छोर पर था जापान। स्वाभाविक था कि जो भी महत्वपूर्ण बातचीत करने की जरूरत पड़ती वह टेलीफोन या रेडियोग्राम के माध्यम से करनी पड़ती।

ऐसी दशा में भय बना रहता। कहीं शत्रु-पक्ष बीच में टैप न कर ले। क्या पता अभी तक किया है या नहीं।

इसलिए सारी बातचीत सांकेतिक भाषा में की जा रही थी।

लम्बे काल तक आलोचना चली। उसके बाद एक दिन कूटनीतिज्ञों का यह दल निश्चित सिद्धान्त पर जा पहुँचा। जहाज से नहीं, हवाई जहाज से भी नहीं—जाना पड़ेगा सबमेरीन से।

विपत्ति तो हर बात में है, पर सबमेरीन में कुछ कम है। बस, एक आदमी उनके साथ जा सकेगा।

रास्ते का आधा भाग ज्यादा खतरनाक था पर इस हिस्से को पार कराने की पूरी जिम्मेदारी सरकार लेगी। वे उन्हें दक्षिण अफ्रीका से संलग्न मडागास्कर के निकट तक पहुँचा देंगे। अगले आधे रास्ते की जिम्मेदारी जापान सरकार की होगी।

इस विषय के प्रत्यक्षदर्शी जर्मन वैदेशिक दफ्तर के अलेक्जेन्डर वर्थ ने बाद में बताया था—'After long and complicated discussions with the Italian and the Japanese Embassies in Berlin and Rome, the following was agreed upon between the Special India Division and the German military authorities; Netaji accompanied by only one friend should be taken by a German submarine by way of the British Channel, Bay of Biscay, West Africa, South Africa, to the south of Madagaskar where

he should be transferred to Japanese submarine which would take him to the nearest Japanese base in East Asia.

All these arrangements were successfully carried out through the joint efforts of Netaji and the special India Division and thanks to the initiative of General Oshima, Ambassador of Japan in Berlin, his Military Attache Mr. Yamamoto and other members of the Japanese Embassy in Berlin and Rome as well as the competent German military authorities.' [Netaji in Germany : Alexander Werth: P-38]

सुनते ही जापान के नौ-सेना विभाग ने मना कर दिया। जापानी नियमानुसार समर विभाग से जो व्यक्ति सम्बन्धित न हो, उसका सबमेरीन इस्तेमाल करना मना था। सुभाष बोस इसका प्रयोग कैसे करेंगे ?

इस प्रश्न का उत्तर दिया वॉन ट्रट ने।—'सुभाष इण्डियन आर्मी के कमान्डर-इन-चीफ है। कौन कहता है कि वे समर विभाग से सम्बन्धित नहीं हैं ?'

बस—जापानी नौ-सेना विभाग चुप हो गया।

When Trott received this message by cable from the German Ambassador in Tokyo, Mr. Ott, he immediately sent his reply.—'Subhas Chandra Bose by no means private person but Commander-in-chief of Indian Liberation Army.' [Ibid : P-38]

योजनानुसार पहले ही जापानी दूतावास के कर्नल इयामामोतो टोकियो के लिए चल पड़े। सुभाषचन्द्र बोस की अभ्यर्थना की व्यवस्था करने के लिए उनका जाना जरूरी था।

तब तक रूस और जापान के बीच आक्रमण न करने की सन्धि बरकरार थी, इसलिए कर्नल इयामामोतो तुर्क तथा मास्को होते हुए टोकियो चले गए।

परन्तु सुभाष के लिए, इस प्रकार से जाना सम्भव न था क्योंकि वे ब्रिटिश सरकार के घोर शत्रु थे। उनके लिए यह रास्ता बन्द था। उन्हें यह लम्बा रास्ता सबमेरीन द्वारा ही तय करना था।

परन्तु सुभाषचन्द्र बोस कोई साधारण व्यक्ति नहीं थे। अमेरिका और ब्रिटेन को अगर पता चल गया तो उनका जाना रोकने के लिए अपनी सारी शक्ति लगा देंगे। इसीलिए यह तो किसी को बताना ही नहीं है कि वे जाएँगे कब। यह यात्रा इतनी आसान नहीं।

सुभाष के जाने की बात दो या तीन व्यक्ति ही जानते थे।

कोई गारन्टी नहीं, निश्चय नहीं। यह कोई नहीं कह सकता था कि क्या

होगा ? यहाँ तक कि हिटलर, मुसोलिनी, तोजो जैसे राष्ट्रनायकों तक को इस बात की आशा नहीं थी कि सुभाष की यह यात्रा निर्विघ्न सफल हो सकेगी।

आशा करने की बात भी नहीं थी। क्योंकि पृथ्वी के एक छोर से दूसरे छोर जाना था। अधिकांश राष्ट्र शत्रु थे। उनकी चौकस नज़र से बच कर इतना लम्बा रास्ता पार करना कोई आसान काम नहीं था।

सुभाष भी यह बात जानते थे। शत्रुओं के माइन, टर्पेडो, डेप्थचार्ज वगैरह से बच कर इतना लम्बा रास्ता पार करना--बहुत ही जोखिम से भरा काम है, यह वह जानते थे।

फिर भी यही एक रास्ता था स्वाधीनता प्राप्त करने का। मंजिल तक पहुँचने के लिए दूसरा कोई उपाय भी तो नहीं था। स्वप्न की सार्थकता का जहाँ प्रश्न हो वहाँ अपनी चिन्ता कौन करता है ?

जिस दिन सब कुछ पीछे छोड़ कर, एक ही कपड़े पहन, अनिश्चित भविष्य की ओर कदम बढ़ाए थे, उस दिन कहाँ सोचा था अपनी बात ? एक बार भी यह नहीं सोचा था कि उनका भविष्य क्या है ?

ऐसे ही थे सुभाष—देश की स्वाधीनता के लिए वे बेताब हो उठे थे। कितने लोग ऐसे उतावले हो सकते हैं ?

सुभाष हुए थे। हुए थे इसीलिए लाखों-करोड़ों लोगों के हृदय में आज भी वे जीवित हैं। सब के वे 'नेताजी' थे। खैर चलो, अपनी बात पर लौट चलें।

बाहर से देख कर कोई अन्दाज तक नहीं लगा सकता था। यूँ लगता था कि दिनचर्या में कोई अन्तर नहीं आया था। जो जैसा था वैसा ही चल रहा है—कहीं कोई नवीनता नहीं, अन्तर नहीं।

परन्तु अन्दर ही अन्दर चल रही थी तैयारी। बड़ी बारीकी से। सुभाष भी तैयार थे। बस, कूद पड़ने भर की देर थी।

पहले तो सुभाष के कुछ भाषणों को रेकार्ड कर लिया गया। जब वे यहाँ नहीं रहेंगे, उस समय कभी-कभी उनका प्रसारण करते रहने पर कोई यह नहीं समझेगा कि वे बर्लिन में नहीं हैं। इसी के साथ-साथ ब्रिटिश व अमरीकी सरकार में भी भ्रम उत्पन्न होगा। वे अपनी दृष्टि जर्मनी पर ही केन्द्रित रखेंगे।

सुभाष की बातों में नया स्वर था। वे परिचित-अपरिचित सभी से एक ही बात कह रहे थे।

'प्रत्यक्ष ज्ञानार्जन के लिए, कुछ दिनों के लिए मैं रूसी फ्रन्ट पर जा रहा हूँ। तुम सब ठीक से अपने काम करते रहना। मैं महीने भर में यहाँ लौट आऊँगा।'

'परन्तु साथ कौन जाएगा ?'

'सिर्फ एक ही आदमी साथ जाएगा।'

'कौन जाएगा ? उसका नाम क्या है ?'

'आबिद हसन।'

यह आबिद हसन वही थे जो बर्लिन मे पढ़ने आए थे । हैदराबाद के रहने वाले थे । ये वही आबिद हसन थे जिन्होंने सुभाष की सेना में सबसे पहले नाम लिखाया था। १५ लोगों में से वे भी एक थे । वे ही सुभाष के साथ निजी सचिव की हैसियत से जाने वाले थे ।

यही सुभाष की भी इच्छा थी ।

परन्तु एन० जी० स्वामी ? बेतार विज्ञान और नाना प्रकार की सांकेतिक लिपि के जानकार स्वामी की तो वहाँ भी जरूरत होगी । दक्षिण-पूर्वी एशिया के युद्धक्षेत्र में उनकी तो बड़ी आवश्यकता पड़ेगी । वे नहीं चलेंगे तो काम कैसे बनेगा ?

जर्मन सरकार ने सुभाष की यह बात मान ली । उन्होंने कहा—'ठीक है । हम स्वामी को वहाँ भेजने की जिम्मेदारी लेते हैं । पर अभी नहीं—कुछ दिनों बाद भेज देंगे ।'

अपना वचन निभाया था जर्मन सरकार ने । हजार विघ्नों को झेल कर भी एक दिन स्वामी भेज दिए गए थे दक्षिण-पूर्व एशिया के रणांगन में ।

२६ जनवरी, १९४३ साल । बड़े ही उत्साह और धूमधाम के साथ, बर्लिन में भारत का 'स्वाधीनता दिवस' मनाया जा रहा था ।

विभिन्न राष्ट्रों से लगभग ६०० कूटनीतिज्ञ प्रतिनिधियों ने उस दिन उत्सव में भाग लिया था । सुभाष के बुलाने पर ये सभी आए थे ।

पहली बार आजाद हिन्द रेडियो से उस दिन उत्सव का धारावाहिक आँखों देखा प्रसारण हुआ । पृथ्वी के कोने-कोने में यह प्रसारण सुना जा सका था ।

सुभाष ने भी उस दिन अपना प्रसारण जर्मन भाषा से आरम्भ किया था—

Britischer Imperialismus und Indischer Nationalismus Koennen niemals eine lebendige Einheit eingehen. Weil Indien und Gross Britannien Kein gemeinsames ziel haben Koennen. Ihre nationalen Interessen sind vollkommen unter schieden,'

बाद में अपनी भाषा में बोले—

'२६ जनवरी । पृथ्वी में सर्वत्र आज भारतीयगण इकट्ठा होते हैं, स्वाधीनता दिवस मनाने के लिए । १९३१ में मैं जब कलकत्ते का मेयर था, तब इसी स्वाधीनता दिवस के दिन मैं ब्रिटिश अश्वारोही पुलिस द्वारा घेर लिया गया था । उस दिन की चोट आज भी मेरे शरीर पर निशान के रूप में मौजूद है ।

'....ब्रिटिश साम्राज्यवाद और भारतीय जातीयतावाद कभी भी एक साथ जीवित नहीं रह सकते हैं । क्योंकि भारत और ब्रिटेन का पारस्परिक स्वार्थ एक नहीं है । उनका राष्ट्रीय स्वार्थ भी बिल्कुल विपरीत है ।....आज हो या कल, इस संग्राम के अन्तिम अध्याय तक हमें पहुँचना ही होगा । यह संग्राम—जो भारतीयों के लिए जीवन-मरण का

संग्राम बन चुका है, जो न्याय और सत्य की रक्षा का संग्राम बन गया है, उसमें हमारा एक ही लक्ष्य होगा—हमारी जय, हमारी स्वाधीनता ! जयहिन्द !'

एक और उत्सव जापानी दूतावास में मनाया गया ।

जिसमें कुछ लोग ही अतिथि के रूप में बुलाए गए थे । कुल मिला कर बारह लोग थे । सुभाष तथा उनके सहकारी नम्बियार उनमें से एक थे । यह उत्सव बड़ा महत्व-पूर्ण था ।

उत्सव समाप्त होने पर धीरे-धीरे सभी चले गए । थोड़ी देर बाद नम्बियार भी चले गए । बच गए केवल सुभाष ।

अब आरम्भ हुई असली आलोचना ।

'योर एक्सीलेन्सी बोस, रेडी । जीरो ऑवर आ चुका है । समय हो गया है ... यहाँ से जाना होगा । कर्नल श्यामामोतो आपकी अगवानी के लिए जापान जा चुके हैं ।'

सुभाष का चेहरा खुशी से दमक उठा । एक अद्भुत अनुभूति ने उन्हें आ घेरा ।

'लम्बी प्रतीक्षा—इस लम्बी प्रतीक्षा का अवसान होने ही वाला है । मुझे नए देश में जाना है । वहाँ होगा नया वातावरण, नया काम, नया उत्साह । हर चीज़ नए सिरे से सोचनी, करनी होगी । फिर भी जाना है । जय वीरेश्वर विवेकानन्द...तुम्हारी इच्छा ही पूरी हो । तुमने कहा था न—'भूलो मत, जन्म से ही तुम माँ को बलिदान देने के लिए वचनबद्ध हो'....जानता हूँ स्वामीजी, मैं जानता हूँ । तुम मुझे आशीर्वाद दो । आवश्यकता पड़ी तो मैं भारत की स्वाधीनता का सपना सार्थक करने के लिए अपनी बलि चढ़ा सकूँ ।

और अगर इस यात्रा-काल में ही अच्छा-बुरा, कुछ भी, हो जाए ?

तब, जीवन के इस अन्तिम क्षणों में भी, मैं हृदय से, महामान्य रासबिहारी बोस के उद्देश्य में, अपनी शुभकामनायें प्रकट करता हूँ । उनकी चेष्टा सफल हो । भारत स्वाधीन हो ।'

'If I were lost on the way, please transfer my will to Mr. Ras Behari Bose and my last wishes for his success.'

२८ जनवरी ।

भयंकर तूफान और घनघोर घटा । बर्फ की वर्षा हो रही थी सुबह से । झिर-झिर, झिर-झिर बर्फ गिरती ही जा रही थी । भयानक, हड्डियों को कँपा दे, ऐसा जाड़ा ।

इस बीच कुछ न कुछ परिवर्तन हर तरफ हुआ था । हर क्षेत्र में ।

मई के महीने से स्वाधीन वैदेशिक मिशन की मर्यादा दी गई थी आज़ाद हिन्द

केन्द्र को। अब आज़ाद हिन्द केन्द्र का विश्व में वही स्थान था जो कि किसी भी स्वाधीन राष्ट्र का होता है।

आज़ाद हिन्द फौज अब पहले की भाँति Annaberg कैम्प में नहीं थी। संख्या बढ़ जाने के कारण अब उनको जगह मिल गई है Konigsbruck कैम्प में। यह कैम्प बहुत बड़ा था। यहाँ नाना प्रकार की सुविधायें भी उपलब्ध थीं।

उस दिन सुभाष चलते-चलते इसी कैम्प में आ पहुँचे।

जाने से पहले अन्तिम दर्शन करने की लालसा को वे न रोक सके। अपने हाथों से बनाई सेना, बच्चे की तरह प्यार से जिसे बनाया, सँवारा उसे छोड़ते दिल रो रहा था। लेकिन कर ही क्या सकते थे? एक महान् उद्देश्य की सफलता के आगे, आवेगों का कभी कोई स्थान रहा है? जाना तो होगा ही।

फौज यहाँ जैसे है, वैसे ही रहेगी। उनके निर्देशानुसार यहाँ की सेना की देख-भाल करेंगे सहयोगी नेता नम्बियार। यही निश्चय हुआ है। यही सूचित किया गया है जर्मन वैदेशिक विभाग को भी।

सुभाष को आते देख उल्लास और आनन्द की लहर दौड़ गई हर बैरेक में—

'जयहिन्द! जयहिन्द! नेताजी!'

'नेताजी! नेताजी!'

हजारों सैनिक अपने बैरेकों से बाहर निकल आए। घेर कर खड़े हो गए वे अपने प्रिय नेता सुभाष को।

'नेताजी आये हैं। आज़ाद हिन्द फौज के नेताजी! हिन्दुस्तान के नेताजी.... सबके नेताजी! हमारे नेताजी।' जितने मुँह उतने सम्बोधन, उतने उद्‌गार।

सुभाष उन दिनों काफ़ी अस्वस्थ रहते थे। इसीलिए शुरू में ही उन्होंने अपने फौजी भाइयों को अपनी मजबूरी से आगाह कर दिया।

'मैं आज ज्यादा कुछ बोल न सकूँगा भाई। ज्यादा से ज्यादा १५ या २० मिनट, बस।'

एक तो बरफ गिर रही थी, उस पर खुली जगह। उसी खुले स्थान पर खड़े हो कर, सुभाष ने अपना १५-२० मिनट का भाषण शुरू किया। शुरू में क्लान्त, लड़खड़ाती आवाज़ में—बाद में तेजस्वी, ओजपूर्ण....और थोड़ी देर बाद? उन्हें किसी बात की सुध-बुध ही न रही....कुछ ध्यान ही न रहा। न स्वास्थ्य का, न समय का, न ही मौसम का।

न जाने कितना समय कैसे बीत गया! कितनी बातें! कितने किस्से, कितनी स्मृतियाँ! जोड़-तोड़ की कहानी। स्वतंत्रता संग्राम का इतिहास। मानो इस बनने-बिगड़ने का कोई अन्त नहीं था।

यही तो अन्तिम मुलाक़ात है। इसीलिये जाने से पहले सब कुछ कह देना है। कोई हिदायत छूटनी नहीं चाहिये।

हजारों की संख्या में आज़ाद हिन्द सेना के सैनिक आश्चर्यचकित थे। उन्हें भी

दीन-दुनिया का ख्याल नहीं था। तन्मय, भाव-विभोर सुन रहे थे। लग रहा था सुभाष के एक-एक शब्द सीधे हृदय में उतारते जा रहे हैं।

ठंड से सारा शरीर मानो जम गया हो। कपड़े-लत्ते भींग कर शरीर से चिपक गये थे। ऊपर से बर्फ की वर्षा लगातार होते रहने के बावजूद उन्हें किसी बात का ख्याल नहीं था। अतीत, वर्त्तमान और भविष्य—सभी कुछ भूल गए थे वे अपने प्रिय नेताजी को पास पा कर।

सुभाष ने उस दिन कितनी देर तक भाषण दिया होगा? ज्यादा नहीं—केवल सवा दो घंटे। 'He wanted to speak only for about 15 to 20 minutes, but after he made the beginning and started opening his heart to those who had gathered there, he forgot about his illness, and his cold and everything else, and spoke for exactly two hours and a quarter.'

अन्त में सभी के साथ भोजन। यह सुभाष की सदैव की आदत थी। कभी-कभी आज़ाद हिन्द फौज के साथ वे खाना खाते थे। उस समय वे उनके नेताजी नहीं, बल्कि मित्र, भाई, गुरु के रूप में उपस्थित होते।

खाना खत्म हो गया। अब सुभाष जायेंगे। विदा लेंगे। उन्हें विदा करना होगा।

हमेशा ही जैसा होता था। हजारों कण्ठों से निकल कर गूंज उठी यह आवाज़—'नेताजी जिन्दाबाद, नेताजी जिन्दाबाद। नेताजी, आप फिर आइएगा। हम आपकी प्रतीक्षा करेंगे! नेताजी! जय हिन्द!'

'जय हिन्द!' अकथनीय व्यथा थी सुभाष के गम्भीर, करुण, इस छोटे से शब्द में।

शायद क्षण भर की बात थी—उसके बाद ही ज्योतिर्मयी मुस्कान से सारा चेहरा खिल उठा।

यह दुःख उनका अकेले का है। इसमें कोई किसी को हिस्सा नहीं मिलना। हृदय टूट कर चूर-चूर क्यों न हो जाए, होठों पर यह मुस्कुराहट बनी रहनी है। उपाय भी और दूसरा नहीं।

'विदा, फौजी भाइयों, विदा।'

चलते-चलते अनजाने ही यह शब्द होठों से फिसल पड़े। गहरी वेदना में डुबोई, भिगोई उनकी आँखें छलछला उठीं।

'सब कुछ अपने नियम से चलता रहेगा। केवल मैं ही नहीं रहूँगा। फिर भी जहाँ कहीं क्यों न रहूँ....मैं तुम लोगों को कभी नहीं भूल सकूँगा—कभी नहीं।'

८ फरवरी—१९४३ साल। उस समय भी सुबह की लौ नहीं फूटी थी। सड़क

की टिमटिमाती रोशनी से ढँकी सड़कें, पेड़-पौधे, पहाड़, नदियाँ....सभी कुछ रहस्यमय।

बर्लिन का Lehrter Behnhof रेलवे स्टेशन। कियेल जाने वाली ट्रेन छूटने का समय हो रहा था।

यूँ देखा जाये तो कहीं कोई नवीनता नहीं थी। कोई परिवर्तन नहीं था। किन्तु अगर ध्यान से देखा जाये तो आज की परिस्थिति अन्य दिनों की परिस्थिति से भिन्न थी।

यहाँ-वहाँ खड़े थे जबरदस्त जर्मन गुप्तचरों के लोग उनकी दृष्टि तीक्ष्ण—तलवार की धार-सी पैनी थी।

हिज़ एक्सीलेन्सी, सुप्रीम कमान्डर, आज़ाद हिन्द फौज, नेताजी सुभाष बोस आज जायेंगे इस स्टेशन से। यह सारी चौकसी, सतर्कता उन्हीं के लिए थी।

अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियाँ द्रुत-गति से परिवर्तित हो रही थीं।

रेलवे स्टेशन, हवाई अड्डे, बन्दरगाह, जहाजों के कारखाने—कोई भी जगह सुरक्षित नहीं थी। पहले की तुलना में शत्रु-पक्ष का गुप्तचर विभाग अधिक सक्रिय था। कहाँ कौन घात लगाए बैठा है कहना मुश्किल था।

यह कहना अतिशयोक्ति होगी कि सुभाष जैसे आदमी का पता पाते ही वे अपनी सारी शक्ति लगा कर टूट न पड़ेंगे। इसीलिए सावधानी बरतना बहुत ज़रूरी था।

बार-बार इस बात से सबमेरीन कमाण्डर को आगाह कर दिया गया था।

'शत्रु का जहाज देखते ही तुम सब के हाथों में खुजली होने लगती है। यह हम जानते हैं। लेकिन होशियार। इस दफ़ा ऐसा कुछ नहीं करना है।

'याद रखो कि द्वितीय विश्वयुद्ध का दावानल अभी भी जल, स्थल, अन्तरिक्ष—सर्वत्र फैला हुआ है।

'उत्तरी सागर, अटलांटिक, हिन्द महासागर—हर जगह अंग्रेज अमेरिकन शक्ति का बोलबाला था। उनके दूर तक मार करने वाले बमवर्षक हवाई जहाज़, माइन और युद्ध के जहाजों का मानों उत्सव मनाया जा रहा हो।

'हर सीमा पर रास्ता रोके खड़े थे अमेरिका और विश्व प्रसिद्ध गुप्तचर विभाग स्काटलैण्ड यार्ड के सैकड़ों अनुभवी गुप्तचरों के दल।

'किसी भी क्षण टर्पेडो या पानी में फटने वाले माइन के विस्फोट से जल-समाधि ले लेना, कोई आश्चर्य की बात न थी। क्योंकि जाना तो दुश्मन की आँख के सामने से था। लड़ाकू जहाजों की नज़र बचाते हुए, राडॉर यन्त्र को धोखा देते हुए—दबे पाँव, संभल कर, चुपचाप।

'इसीलिए सावधान? किसी तरह का जोखिम नहीं उठाना है—मिनट भर के लिए भी नहीं।

'याद रखना, तुम्हारे ऊपर एक ऐसा कठिन उत्तरदायित्व सौंपा गया है जो न केवल महत्वपूर्ण है, बल्कि ऐतिहासिक भी है। इसीलिए आगे बढ़ो तो चारो तरफ से चौकस रह कर। बिल्कुल घड़ी की सूई से मिला कर कदम उठाना है।

'ठीक एक ही वक्त पर, इसी तरह उधर से जापानी सबमेरीन को समय का ध्यान रखते हुए चलना है। जरा भी इधर-उधर किया कि मुसीबत आई। लाख कोशिश करने पर भी तब कोई किसी से मिल न सकोगे। मेडागास्कर के निर्दिष्ट स्थान पर।— हम फिर से सावधान कर रहे हैं—खूब संभल कर, सावधानी से जाना होगा।'

Lehrter Behnhof से ट्रेन द्वारा जर्मनी की उत्तरी सीमा पर कियेल बन्दरगाह पहुँचे।

वहीं प्रतीक्षारत थी सबमेरीन। १/२९ नम्बर की सबमेरीन खड़ी थी सुभाष के लिए। ऐसे भयंकर परेशानी के क्षणों में एक दूसरे राष्ट्र के राष्ट्रीय नेता के लिए सबमेरीन की व्यवस्था करना—सचमुच कल्पनातीत बात थी। जर्मनी ने परन्तु वह सम्मान सुभाष को प्रदान किया था।

समय आ गया था। अब सुभाष को प्रत्येक देशी तथा विदेशी मित्रों से विदा लेना था। विदा लेना होगा जर्मनी से—जहाँ लम्बे अरसे तक रहे और काम किया।

जानती हो मल्लिका, उस दिन सुभाष को विदा देने के लिए वहाँ कौन-कौन उपस्थित थे?

केवल तीन व्यक्ति। और किसी को नहीं बताया गया था। सतर्कता की दृष्टि से यह आवश्यक था।

इधर से उपस्थित थे नम्बियार। नम्बियार ही एकमात्र ऐसे व्यक्ति थे जिन्हें सुभाष की इस योजना का पता था।

जर्मनी की ओर से उपस्थित थे स्टेट सेक्रेटरी केप्लर और वैदेशिक दफ्तर के अलेक्जेन्डर वर्थ।

प्रत्यक्षदर्शी अलेक्जेन्डर के मुंह से सुनी बात तुम भी सुनो, मल्लिका—

'Nambiar, State Secretary Keppler and I took Netaji and Hassan to Kiel during the night of the 7th to the 8th February, 1943. As I mentioned before with the exception of Nambiar, Keppler and myself and the military people concerned nobody else knew about Netaji's departure.' [Netaji in Germany : P–40]

और सहयात्री आबेद हसन, क्या वे जानते थे कि कहाँ जा रहे हैं?

नहीं—बिल्कुल नहीं। उन्हें भी सुरक्षा और सावधानी का ध्यान रख कर कुछ नहीं बताया गया था। उनका ख्याल था कि वे नेताजी के साथ ग्रीस घूमने जा रहे हैं। इसीलिए ग्रीस भाषा के पहले कुछ शब्दों की जानकारी के लिए उन्होंने एक आसान सी किताब ले ली थी।

कोनिंग टॉवर पर खड़े सबमेरीन कमाण्डर बिल्कुल तैयार थे। अब देर नहीं। सारे टैंक पानी से भर चुके थे। अब बस, पानी में डुबकी लगाने भर की देर है।

'विदा मित्रों, विदा! मैं तुम सबको कभी नहीं भूलूंगा। भूल ही नहीं सकूंगा। हम फिर मिलेंगे।'

देर से रुकी सांस छोड़ लम्बे-लम्बे डग भरते, वे सीढ़ियाँ उतर गए। सुभाष ने पीछे मुड़ कर नहीं देखा। विप्लवी पीछे मुड़ कर नहीं देखता है। उसका धर्म है केवल आगे बढ़ते रहना।

स्थिर, अपलक देखते, खड़े रहे सहयोगी नेता नम्बियार।

सीने में असह्य पीड़ा....जिसकी छाप चेहरे पर स्पष्ट झलक रही थी।

'सुभाष चले जा रहे हैं। चले जा रहे हैं हिज़ एक्सीलेन्सी सुप्रीम कमाण्डर, आज़ाद हिन्द फौज—नेताजी सुभाष।

'वह—वह डूबने लगा है सबमेरीन। सबमेरीन पानी में समा जाएगा सुभाष को ले कर। वह दिखाई पड़ रहा है उसका पेरिस्कोप—अभी भी पानी के ऊपर दिखाई पड़ रहा है।

'नहीं—अब वह भी ओझल हो गया आँखों के आगे से। थोड़ा सा तेल पानी पर बहता हुआ नज़र आ रहा है, वरना समुद्र शान्त और स्थिर था।

'एक साथ बिताए कितने क्षण, कितनी घड़ियाँ....सुख-दुख की, आनन्द और वेदना की। एक साथ काटी थीं सीमाहीन रातें।

'आज उन सबका अन्त हो गया। सारी वेदना का अन्त। भारत के स्वाधीनता संग्राम के इतिहास का यह गौरवमय अध्याय यहीं समाप्त कर, सुभाष जा रहे हैं नया अध्याय आरम्भ करने। इससे भी बड़ा कर्त्तव्य उन्हें हाथों के इशारे से बुला रहा है—जाना तो होगा ही। कर्त्तव्य की पुकार को ठुकराना इतना सहज नहीं, सरल नहीं।

'हे रुद्र संन्यासी! इस समय आँसुओं से मैं तुम्हारी राह में फिसलन उत्पन्न नहीं करूँगा। तुम जाओ। आगे बढ़ो। तुम्हारी यात्रा शुभ हो। मंगलमय हो। तुम्हारा सपना सार्थक हो।

'हे मुक्तिपथ के अग्रदूत! पराधीन देश के राजद्रोही! तुम्हें शत-शत, सहस्र-कोटि प्रणाम!'

[द्वितीय खण्ड समाप्त]

मैं सुभाष बोल रहा हूँ

[खण्ड तीन]

में पढ़िए

जीवन को खतरे में डाल कर सबमेरिन द्वारा जापान पहुँच कर दक्षिण-पूर्वी एशिया में आजाद हिन्द फौज का संगठन और भारत की मुक्ति के लिए फौज के साथ इम्फाल तक आने और उसके बाद नेताजी की तथाकथित मृत्यु तक की कहानी...

पहले दोनों खण्डों से भी अधिक उत्तेजक, रोमांचकारी और साहसिक गाथा।